पूज्य गुरुदेव
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
को
मेरी यह प्रथम कृति
सादर समर्पित

ग्रन्थम, कानपुर

मूल्य : दस रुपये

प्रकाशक :
ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर

प्रकाशन तिथि :
नवम्बर, १९६८

मुद्रक :

भूमिका

श्री रामप्रसाद त्रिवेदी की प्रस्तुत पुस्तक उनके एम० ए० के प्रबन्ध का किंचित परिवर्तित रूप है। सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में एम० ए० के एक प्रश्नपत्र के विकल्प मे एक लघु प्रबन्ध लिखने की स्वीकृति दी जाती है। ये लघु प्रबन्ध कभी-कभी आकार मे कुछ बड़े भी हो जाते हैं तथा इनमे विषय का समग्र विवेचन भी हो जाता है। श्री त्रिवेदी का यह प्रबन्ध इसी श्रेणी मे परिगणित होगा।

एम० ए० के प्रबन्ध-विषय अधिकतर सामयिक साहित्य की किसी धारा या अग से सम्बन्धित होते है अथवा किसी विशिष्ट कवि के काव्य का आकलन करते है। सामयिक साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण ये प्रबन्ध अधिक लोकप्रिय होते है और इनमे साहित्यिक मूल्यो के निर्धारण मे सहायता प्राप्त होती है।

श्री त्रिवेदी ने इस प्रबन्ध मे प्रगतिवादी साहित्य के विचारात्मक पक्ष का सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है और अद्यतन स्थितियो और गतिविधियों का स्पष्टीकरण भी किया है। प्रगतिवादी विचारणा और समीक्षा पर हिन्दी मे कोई सुव्यवस्थित पुस्तक उपलब्ध नही है। आशा है, श्री त्रिवेदी की यह पुस्तक अशत. इस आशय की पूर्ति कर सकेगी। हमे इस बात की भी प्रसन्नता है कि श्री रामप्रसाद त्रिवेदी प्रगतिवादी समीक्षा को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रखकर पी-एच० डी० का शोध कार्य कर रहे है।

श्री त्रिवेदी की प्रस्तुत पुस्तक का साहित्यिक क्षेत्र मे समुचित स्वागत होगा, इस आशा और विश्वास के साथ यह पुस्तक सहृदय पाठको के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है।

सागर विश्वविद्यालय
विजयादशमी सवत् २०२१

नन्ददुलारे वाजपेयी

तथा समर्थन दिया है। अपने कार्य मे मैं दो बिन्दुओं से आगे की ओर अग्रसर हो सकता था, प्रथमत. प्रगतिवादी समीक्षा को केन्द्र मे रख कर और द्वितीय उसके पुरस्कर्त्ताओ को प्रमुखता देकर। मैंने इस दूसरे पक्ष को ही चुना है। प्रथम पद्धति की अपनी विशेषतायें मेरे सामने स्पष्ट थी, परन्तु द्वितीय पद्धति के भी अपने ऐसे गुण थे जो प्रथम पद्धति अपनाने मे सामने न आ सकते थे। मैंने दोनों पद्धतियो को भली भाँति परख कर अन्तत द्वितीय पद्धति को इसी कारण मान्यता दी कि एक तो उसके माध्यम से प्रगतिवादी समीक्षा का चारित्र्य भी स्पष्ट हो जायेगा और दूसरे उसके पुरस्कर्ताओ के निजी प्रदेय का भी विस्तार से आकलन सम्भव हो सकेगा, जिसका अभी तक की प्रकाशित समीक्षा-कृतियो मे सर्वथा अभाव है। अपने इस प्रयत्न में अपने उद्देश्यो की पूर्ति मैं कहाँ तक कर सका हूँ इसका निर्णय तो अधिकारी विद्वान ही कर सकते हैं, प्रयत्न मैंने अवश्य किया है कि उस उद्देश्य तक अधिकाधिक पहुँच सकूँ। विवेचन को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए मैंने प्रतिनिधि प्रगतिवादी समीक्षकों को ही प्रमुखता दी है, यद्यपि प्रगतिवादी चिन्तन के अन्य पुरस्कर्ताओं का प्रदेय भी मेरी दृष्टि से ओझल नहीं रहा है। प्रगतिवादी समीक्षा अभी समाप्त नहीं हुई है, बल्कि जैसा कि मैंने कहा है वह अपने अविरल प्रवाह को लिए हुए आज भी पूरी तरह सक्रिय है। ऐसी स्थिति में उसके अन्य पुरस्कर्ताओ का महत्व भी किसी प्रकार कम नहीं है। पर मेरे विवेचन की सीमा थी जिसके कारण मुझे चयन के लिए विवश होना पड़ा।

ताब्दी के प्रारम्भ में अवतरित हुई थी और मेरे विचार से कतिपय सीमाओं के बावजूद भी उसने अपने महत्वपूर्ण कार्य को एक सीमा तक सफलता पूर्वक सम्पन्न भी किया है। एक निश्चित समय पर हिन्दी साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में भी, हिन्दी-समीक्षा की स्वस्थ सामाजिक परम्परा के एक अंग के एक रूप में इसका प्रवेश हुआ, और यह भी अत्यन्त स्पष्ट है कि उसने विरासत में पाये उत्तराधिकार का संरक्षण करते हुए समसामयिक अन्य स्वस्थ समीक्षा-दृष्टियों के साथ कंधे से कंधा मिला कर हिन्दी साहित्य-चिन्तन को कुछ नया और महत्वपूर्ण प्रदेय भी दिया है। उसने हमारी साहित्य-सर्जना को नये आधार, हिन्दी लेखकों तथा कवियों को नया दृष्टिकोण और इस प्रकार वर्तमान युग के समूचे हिन्दी कला-सृजन को नयी उपलब्धियां से समन्वित किया है। हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा तथा उसके पुरस्कर्ताओं का यह प्रदेय कदापि उपेक्षणीय नहीं है; बल्कि मेरा विचार है कि इतिहास स्वतः आज हमें उन्हीं दिशाओं की ओर ले जा रहा है जिनकी ओर किसी समय प्रगतिवादी चिन्तना ने इंगित किया था। प्रगतिवादी समीक्षा पर किये गये इस कार्य की यही सार्थकता है।

जैसा कि मैंने पुस्तक के प्रारम्भ में दिखाया है हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवादी चिन्तना एक बड़े आन्दोलन के सन्दर्भ में सामने आई थी। आन्दोलनों का स्वभाव होता है कि उनके साथ कुछ अतिरिक्त तत्त्व, कुछ अतिवादितायें भी संलग्न हो जायें। प्रगतिशील आन्दोलन तथा उससे उद्भूत प्रगतिवादी समीक्षा तथा उसके पुरस्कर्ताओं की चिन्तना में भी अतिवादी दृष्टियों का योग मिलता है। आन्दोलन जब स्थिर हो जाता है तब समय के साथ-साथ सन्तुलन की भूमिकायें भी निश्चित रूप से सामने आती हैं। प्रगतिवादी समीक्षा का सत्य भी यही है। अपनी विवेचना के क्रम में मैंने प्रगतिवादी समीक्षा की उपलब्धियों को सामने रखते हुए उसकी अतिवादी भूमि तथा परवर्ती संतुलित भूमिका का भी स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार मैंने यथा-सम्भव वस्तुपरक तटस्थ विवेचन की सीमा में ही रहने का उपक्रम किया है जो एक अध्येता का उचित मार्ग भी है।

अपने अध्ययन क्रम में मैंने मुख्यतः हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा को ही केन्द्र में रक्खा है, और परम्परा के रूप में उन पूर्ववर्ती तथा समवर्ती समीक्षा-दृष्टियों का भी यथावसर उल्लेख किया है जिन्होंने या तो हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा को प्रेरणा दी है या समसामयिक भूमिका पर उसे शक्ति

ने मुझे सदैव उपकृत किया है। साहित्य-चिन्तन के क्षेत्र में मेरी आज जो भी गति है उसके मूल में उनका कितना बड़ा योग है उसे स्वीकार करने में मुझे आज जरा भी हिचक नहीं है। आदरणीय अग्रज डा० रामसेवक पाण्डेय का स्नेह भी मुझे सदैव प्राप्त रहा है। विद्याध्ययन के क्रम में उन्होंने यथासम्भव मुझे परेशानियों से दूर रखने का उपक्रम किया। उनके इस पारिवारिक सहज स्नेह को मैं सदैव अपनी स्मृति में बनाये रहूँगा। इन दोनों अग्रजों के प्रति आभार प्रदर्शित करना मात्र औपचारिकता होगी और इस औपचारिकता को बरतने का साहस मुझ में नहीं है।

आदरणीय डा० दशरथ सिंह, परम आत्मीय भाई श्री रमेशचन्द्र मेहरा, विजयबहादुर सिंह तथा अपने सारे इष्ट-मित्रों का भी उल्लेख आवश्यक है जो सदैव मेरे अपने रहे है। इस सौहार्द को कायम रखने का मैं सदैव प्रयत्न करूँगा। समाजशास्त्र के ख्यातिप्राप्त लेखक श्री शम्भुरत्न जी त्रिपाठी का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ जिनके उद्योग से ही यह पुस्तक इतनी शीघ्र प्रकाशित होकर सामने आ सकी है।

अन्त में, केवल इतना कहना है कि इस पुस्तक को प्रगतिवादी समीक्षा के अध्ययन का प्रारम्भ-बिन्दुमात्र समझा जाये। प्रगतिवादी समीक्षा की रूप-रेखा को यदि यह पुस्तक तनिक भी स्पष्ट कर सकी तो मेरा श्रम सार्थक होगा।

१ दिसम्बर, १९६४
सागर विश्वविद्यालय,
सागर

रामप्रसाद त्रिवेदी

इस कार्य को सम्पादित करने में मैंने यथावसर जिन लेखकों की कृतियों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सहायता ली है, उन सबके प्रति मैं हृदय से आभारी हू। ऐसे सभी लेखकों के नाम पुस्तक मे आ गये है, भूल से यदि किसी का नाम छूट गया हो तो इसे मेरी दृष्टि की असमर्थता मानी जाये, उस लेखक या उसकी कृति की नही।

अपनी इस प्रथम कृति के प्रकाशन के समय सर्वप्रथम मैं अपने पूज्य गुरु तथा सरक्षक आचार्य वाजपेयी का स्मरण करता हूँ। उन्ही की प्रेरणा मे मैं सागर आया था और सागर–प्रवास तथा विद्याध्ययन की इस अवधि मे जो कुछ भी बन सका हूँ, उसमे उन्ही का सबसे बड़ा योग है। विषय के निर्धारण से लेकर उसकी समाप्ति तक मुझे समय-समय पर उनके पास जाना पड़ता था। उन्होने सर्वदा मेरी शकाओ का समाधान कर मुझे सही रास्ते पर आगे बढ़ाया है। उन्ही की छाया मे मैं स्वतन्त्र-चिन्तन की ओर भी बढ सका हूँ। मेरे निर्माण मे उनका जो योग है उसे मैं शब्दो के द्वारा व्यक्त नही कर सकता। उनकी प्रेरणा से मै स्वस्थ साहित्य-चिन्तन की दिशा मे भी आगे बढ सकूँ, मेरी यही कामना है।

मेरी सारी अक्षमताओ और सीमाओ के बावजूद इस कार्य को पूर्णता देने मे मेरा प्रमुख आभार अपने निर्देशक तथा सरक्षक डा० शिवकुमार मिश्र के प्रति है जिनकी सूक्ष्म तथा मर्मग्राहिणी मेधा से मुझे वह दृष्टि मिली है जिसके द्वारा मैं अपने विषय का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत कर सका हूँ। अध्ययन और पुस्तक-लेखन मे आवश्यक निर्देश देते हुए उन्होने मेरा जो मार्ग-प्रदर्शन किया उसके लिए मैं उनके प्रति अपनी अशेष कृतज्ञता तथा श्रद्धा निवेदित करता हू। सागर-प्रवास तथा विद्याध्ययन की इस अवधि मे उनका जो भी स्नेह मेरे ऊपर रहा है, उसके प्रति अपनी कर्त्तव्य-भावना को प्रज्ज्वलित रख सकूँ, यही मेरा पुनीत सकल्प होगा।

आदरणीय गुरुवर डा० रामलाल सिंह तथा डा० राममूर्ति त्रिपाठी से ज्ञान के क्षेत्र मे मैंने बहुत कुछ सीखा है। मैं उसे गहराई दे सकूँ और उससे निरन्तर और भी ज्ञानार्जन कर सकूँ, मेरा सदैव यही प्रयत्न रहेगा। विभाग के अन्य गुरुजन भी मेरे प्रति सदैव उदार रहे हैं, अतएव इस अवसर पर मैं उन्हें भी सादर नमन करता हूँ।

आदरणीय अग्रज डा० चन्द्रभूषण तिवारी का मेरे ऊपर सदैव जो स्नेह रहा है उसे मैं नही भूल सकता। उन्होंने अपने सुझावों तथा परामर्शो

•

अध्याय १

प्रगतिवादी समीक्षा की सैद्धांतिक पीठिका

विषय प्रवेश

मार्क्स मूलतः एक वस्तुवादी विचारक थे। काव्य तथा कला-विषयक आदर्शों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। उनकी रचनायें मुख्यतः सामाजिक जीवन के उद्भव तथा विकास से सम्बद्ध हैं। काव्य तथा कला विषयक संकेत उनमें यत्र-तत्र उपलब्ध अवश्य होते हैं, लेकिन व्यापक समाज-दर्शन के अंग रूप में ही। उनके आधार पर साहित्य समीक्षा का समग्र रूप निर्मित नहीं हो सकता।

मार्क्स की दृष्टि में जैसा, कि एंगेल्स ने उनकी समाधि पर कहा था, मनुष्य के लिये राजनीति, विज्ञान, कला और धर्म से भी अत्यधिक महत्व की वस्तु भौतिक उपकरणों की—भोजन, वस्त्र और आवास की उपलब्धि है और इसी दृष्टि को सामने रखकर ही उन्होंने अपने आदर्शों की स्थापना की—केवल वैचारिक धरातल पर ही नहीं, बल्कि सक्रिय रूप से भी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे सामाजिक जीवन तथा उसके विकास में काव्य और कला को अपेक्षित महत्व नहीं देते थे। सामाजिक जीवन के विकास की जो ऐतिहासिक रूपरेखा उन्होंने प्रस्तुत की है, उसके अन्तर्गत विचार-धारा के रूपों के साथ उन्होंने मनुष्य की कलात्मक चेतना का भी उल्लेख किया है, जिनके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के संघर्ष के प्रति मनुष्य सबसे पहले सजग होता है।

इसके अतिरिक्त, मार्क्स की स्वयं भी काव्य तथा साहित्य के विभिन्न रूपों में व्यापक अभिरुचि थी। फ्रैंज मेहरिंग ने उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष का विवेचन करते हुए लिखा है—

He sought mental recreation and refreshment in literature and all his life it was a great consolation to him. He possessed wide spread knowledge in this field without ever boasting of it .. . Just as his own mirrored a whole epoch, so his own literary favourities were those whose creations also mirrored their epoch; from Aeschylus and Homer to Dante, [illegible] and Goethe.

कथा-साहित्य में बाल्ज़ाक की रचनायें उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी। वे उन पर एक स्वतन्त्र पुस्तक लिखना चाहते थे, लेकिन वे इस योजना को कार्यान्वित नहीं कर सके।

फिर भी, जैसा कि मैंने प्रारम्भ में कहा है, मार्क्स सामाजिक जीवन के वैचारिक क्षेत्र की तुलना में उसके भौतिक धरातल को ही विशेष महत्व देते थे, विचारधारा के विभिन्न रूपों को, भौतिक धरातल से स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष मानना उन्हें अभीष्ट न था। समाज विवर्तन में साहित्य-दर्शन का भी उनकी दृष्टि में एक विशेष स्थान है लेकिन केवल भावाविष्ट मनन अथवा रसास्वादन में ही उसकी परिसमाप्ति नहीं है, अन्य मानस-सृष्टियों की तरह वह भी मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध है।

इसलिये मार्क्स के साहित्यिक निष्कर्षों का अध्ययन तभी संभव है जब हम उसे उनके भौतिकवादी दर्शन तथा उसके द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक स्वरूप की पृष्ठभूमि में देखें। तभी हम उसके सम्यक् स्वरूप का आकलन करने में समर्थ हो सकेंगे।

भौतिकवाद क्या है ?

भौतिकवाद जीवन तथा जगत के प्रति भाववाद से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण है। भाववाद के अन्तर्गत मन, चेतना तथा आत्मा की सत्ता ही प्रमुख मानी गयी है। भौतिक जगत उनकी दृष्टि में अमूर्त चेतना का मूर्त परिणाम है इसलिये उसके सभी व्यापार अपनी मूलभूत स्थिति में उक्त तत्वों पर ही निर्भर करते हैं। भाववाद के विपरीत भौतिकवाद हर वस्तु को पदार्थ अथवा भूत से उत्पन्न मानता है। उसके अनुसार मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु भी पदार्थ पर ही आश्रित है। मारिस कार्नफोर्थ के शब्दों में—भौतिकवाद का अर्थ है ऐसा दृष्टिकोण जो भौतिक जगत की हर वस्तु की, जिसमें मानव जीवन की सभी घटनायें शामिल हैं, व्याख्या स्वयं भौतिक तत्वों के ही आधार पर करता है।'' इस प्रकार भौतिकवादी विचारक की दृष्टि में वस्तु जगत से परे किसी स्वतन्त्र अथवा महत्तर सत्ता की स्थिति स्वीकार नहीं है। भाववादियों द्वारा स्थापित परमतत्व (Absolute) की मान्यता का वह निषेध करता है—जो अमूर्त और अदृश्य रूप में स्थिर होकर भौतिक व्यापारों को संचालित करता है। इसके विपरीत वह पदार्थ अथवा प्रकृत को ही मूलभूत तत्व मानते हुए भौतिक जगत को उसी के द्वारा नियमित तथा संचालित मानता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से, पश्चिम में, भौतिकवादी दर्शन का आविर्भाव प्रथमतः इंग्लैण्ड तथा फ्रांस के विचारकों द्वारा १७वीं शताब्दी के बीच हुआ।

इन विचारकों ने चूँकि प्राकृतिक और सामाजिक जीवन की व्याख्या यान्त्रिक दृष्टिकोण से की इसलिए इनका भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद के नाम से ख्यात है। प्रकृति तथा समाज के विशिष्ट गत्यात्मक व्यापार से अनभिज्ञता इन विचारकों की प्रमुख सीमा थी। इस अभाव की पूर्ति किसी सीमा तक उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन विचारक फावरबारव द्वारा हुई। लेकिन जैसा कि ऐंजेल्स ने लिखा है, फावरबारव के आदर्श भी सर्वथा निभ्रांत न थे। पदार्थ की पूर्वभूत स्थिति तथा चेतना को इसकी निष्पत्ति मानते हुए भी वह भाववादी शृंखला से स्वयं को मुक्त न कर सका। बल्कि धर्म तथा नैतिकता का विश्लेषण करते हुये वह इससे पूर्णतया आबद्ध हो गया। इसी सीमा का परिहार अन्तत. मार्क्स तथा ऐंजेल्स द्वारा हुआ। फावरबारव के भौतिकवादी निष्कर्षों को हेगेल्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति से समन्वित करते हुये मार्क्स तथा ऐंजेल्स ने दर्शन के क्षेत्र में एक अतिशय वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक विचारधारा प्रस्तुत की जो अन्तत. द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में ख्यात हुई।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materralism)

Dialectics मूलत. ग्रीक भाषा के Dialego का विकसित रूप है, जिसका अर्थ दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप अथवा तर्कपूर्ण सम्वाद है। उभय पक्ष के दृष्टिकोण की भिन्नता दर्शाते हुए अन्तत सत्य की स्थापना उक्त संवाद की विशेषता थी। सोक्रेटस के संवादों में जो तार्किक प्रक्रिया तथा सत्य की स्थापना विधि परिलक्षित होती है, उसे हम Dialectics का प्राचीनतम रूप कह सकते हैं। लेकिन आधुनिक युग में Dialectics अथवा द्वन्द्वात्मकता का वही अर्थ नहीं रह गया, जो सहस्त्रों वर्ष पूर्व था। यह ठीक है कि इसका लक्ष्य आज भी—'सत्य' तक पहुँचने का उपक्रम ही है, फिर भी जैसा कि मारिस कार्नफोर्थ ने कहा है—इसका वस्तु तत्व अधिक सम्पन्न हो गया है, इसका क्षेत्र अतिशय व्यापक है—"It is far richer in contents far wider in its scope."[1]

आज के युग में Dialectics अर्थात् द्वन्द्वात्मकता ने एक विशिष्ट वैज्ञानिक अर्थ ग्रहण कर लिया है। इसका लक्ष्य सामान्य तार्किक प्रणाली द्वारा किसी निष्कर्ष तक पहुँचने के बदले समाज तथा प्रकृति की समस्त गतिशीलता, परिवर्तन तथा विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना है। मारिस कार्नफोर्थ के शब्दों में, "the aim of dialectics is to trace the real changes and inter connection in the world and to think of

१. पृष्ठ ७१, मारिस कार्नफोर्थ

things always in their motion and inter-connection."[1]

यह अर्थ-विस्तार मुख्यत: मार्क्स तथा ऐंजेल्स प्रभृति महान विचारकों की देन है। लेकिन मार्क्स तथा ऐंजेल्स को यह देन उनकी मौलिक उद्भावना न होकर जर्मन विचारधारा की उस महत्वपूर्ण परम्परा से गृहीत है, जिसका सम्यक् विकास हेगेल के आदर्शवादी व्यवस्था में हुआ।

१८वीं शताब्दी के अन्त में तथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मन आदर्शवादी विचारकों ने विशेषतया हेगेल ने वैचारिक धरातल के विकास का द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के आधार पर विस्तृत विवेचन किया था। हेगेल के अनुसार जब हम किसी धारणा पर तार्किक विधि से विचार करते हैं तो विरोध अथवा निषेध के क्षेत्र में भी स्वत: प्रवेश कर जाते हैं—उस पर विचार करने का अर्थ है, उसके मूलभूत स्वरूप का निषेध करना—To think it out is to annul it.

लेकिन उक्त निषेध से ही एक नयी विचारधारा उत्पन्न होती है जो वस्तु तत्व की दृष्टि से अधिक सम्पन्न रहती है। इस प्रकार ही, जैसा कि हेगेल ने Logic की भूमिका में कहा है—विचारधारा स्वयं को नया रूप देकर निरन्तर विकसित होती रहती है।[2]

---

२. पृ० ७१, मारिस कार्नफोर्थ

१. पृ० १८०, हेराल्ड हाफडिंग

—*A history of Modern Philosophy.*

....Since every concept is limited, it passes over when logically thought out into its opposite, its negation. To think it out is to annul it. But through the negation there arises a new positive, for what is negated is only the definite, finite content, not all content whatsoever. Negation, then, means that a new concept comes into force. But since this new concept is determined by its relation to the previous one, and by the recollection of the same, it is richer than the later. The concept which is now formed contains the preceding one taken up into a large whole. Further, negation is *only* an annulling in the sense that the negated concept is *raised* to a higher unity. A unity of opposites comes into being which cantains both the concept posited and its opposite. "In this way", says Hegelen the introduction to the "Logic", "the system of concepts has to form itself and to complete itself in a ceaseless, pure, progression—free from any accertion from without."

फिर भी हेगेलियन पद्धति की एक सीमा थी जिसका उल्लेख करते हुए तथा उससे अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति की भिन्नता दर्शाते हुये मार्क्स ने कहा है—'मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हेगेलियन पद्धति से भिन्न नहीं बल्कि उसकी प्रत्यक्ष विरोधी है। हेगेल के लिए—विचार प्रक्रिया, जिसे उसने Idea अथवा प्रत्यय की संज्ञा दी है, वस्तु जगत की सृष्टा (demyurgos) है; और वस्तुजगत् Idea अथवा प्रत्यय जगत—अर्थात् मानव मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित तथा विचार के रूप में अनूदित वस्तु जगत से भिन्न नहीं है।"[1] पुन इस विरोध को अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए मार्क्स ने कहा है—"हेगेल सर के बल खड़ा था, मैं उसको पैर के बल खड़ा कर रहा हूं।"[2] फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स एक बहुत बड़ी सीमा तक हेगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति से उपकृत थे। संक्षेप में, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रमुख आदर्श निम्नलिखित हैं—

परस्पर सम्बद्धता का सिद्धान्त (The universal connection of Phenomena)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रथम निष्पत्ति यह है कि वस्तु जगत के तत्वों का अध्ययन उनकी पृथकता में नहीं किया जा सकता। उनका सम्यक् अध्ययन तभी सम्भव है जब कि अन्य उपकरणों तथा तत्वों की सापेक्षता में हम उनके स्वरूप तथा उनकी सक्रियता का विश्लेषण करें।[3]

---

1. P. 413—Selected works, Karl Marx And Frederick [illegible]

contrary, the ideal is nothing else than the material world reflected by the human mind, the translated into forms of thought

२. पृष्ठ ७२, श्री भूपेन्द्रनाथ सान्याल : 'मार्क्स का दर्शन'

3. "Contrary to metaphysics, dialectics does not regard [illegible] existing inde- [illegible] ers things as [illegible] nined by each [illegible] can be under [illegible] ays be under- [illegible] its insperable connection with other things and [illegible] tioned by them."

मार्क्स के अनुसार वस्तु जगत की कार्य-प्रक्रिया में एक निश्चित क्रमिकता सदैव लक्षित होती रहती है। इस क्रमिकता का प्रमुख आधार कार्य-कारण सम्बन्ध है। कोई भी वस्तु तभी क्रियाशील होती है जबकि उसका एक सुनिश्चित कारण हो। कारण के अभाव में परिणाम की कल्पना नहीं की जा सकती। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कारण के विद्यमान होते हुए भी आकांक्षित परिणाम की उपलब्धि नहीं होती। लेकिन यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब दूसरा कारण उसके मार्ग में व्यवधान बन जाता है। अतः वस्तु जगत का प्रत्येक कार्य बिना किसी कारण के संभव नहीं होता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वस्तु जगत की समस्त कार्य-प्रक्रिया कार्य-कारण सम्बद्धता से चालित होती है। परस्पर सम्बद्धता (Inter-connection) का यह मूलभूत सिद्धान्त है।

लेकिन परस्पर सम्बद्धता का आदर्श कार्य-कारण व्यापार तक ही परिसीमित नहीं है। लेनिन के शब्दों में—कार्य-कारण व्यापार व्यापक संबंध का एक सीमित अंश है (casulity.... is but a small particle of the universal connection)[१] यह ठीक है कि वस्तु जगत का प्रत्येक उपकरण स्वयं में निरपेक्ष न होकर किसी कारण भूत सत्ता का परिणाम है, लेकिन इसके साथ यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त उपकरण भी किसी दूसरे परिणाम की सृष्टि कर सकता है। इस प्रकार पहली अवस्था में जो वस्तु परिणाम बनकर प्रस्तुत होती है दूसरी अवस्था में वही कारण बन जाती है। उदाहरण के लिये सूर्य-रश्मियों से तप्त समुद्र तथा नदियों का जल वाष्पीभवन (evaporation) की क्रिया द्वारा बादलों का निर्माण करता है लेकिन वर्षा के रूप में परिणत होकर वे बादल समुद्र तथा नदियों को जल से आपूरित कर देते हैं। पहली अवस्था में यही बादल परिणाम हैं दूसरी अवस्था में कारण। सामाजिक जीवन में भी इस प्रकार के अनेक दृष्टांत परिलक्षित होते हैं। आर्थिक धरातल पर कभी माँग उत्पादन को प्रभावित करता है और कभी उत्पादन माँग को। "इसका यह अर्थ है कि प्रकृति और समाज की परस्पर सम्बद्धता कार्य-कारण संबंध से अधिक व्यापक तथा संश्लिष्ट व्यापार है[२]" इसका सम्यक् विश्लेषण तभी सम्भव है जब कि क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त

१. उद्धृत पृष्ठ ७४ —Fundamentals of Marxism—*Leninism*
२. पृष्ठ ७७ —वही— —Fundamentals of Marxism—*Leninism*
"This means that the interconnection of phenomena in nature and society is more extensive and complex than the connection expressed by the relation of cause to effect."

द्वारा हम उसे परखने का प्रयत्न करें। दूसरे शब्दो मे हम यह भी कह सकते है कि प्रकृति तथा समाज के अन्तर्निहित कार्य-कारण सम्बन्ध को अधिभौतिक विधि से (Metaphysically) न परखकर द्वन्द्वात्मक विधि से परखने का प्रयत्न करें।[1] इसी आधार पर यान्त्रिक भौतिकवादियो की आलोचना करते हुए ऐंजेल्स ने कहा था—"इन महानुभावो के पास एक ही वस्तु नही है—और वह है द्वन्द्वात्मकता। वे इसके अतिरिक्त कि यहाँ कारण है और वहाँ परिणाम अन्य कुछ देखते ही नही। हेगेल का उनके लिए कोई अस्तित्व नही रहा है।"[2]

क्रिया प्रतिक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर, प्रकृति तथा समाज के अन्तर्सम्बन्ध को परखते हुए इस तथ्य को दृष्टिगत रखना आवश्यक है कि कौन सा पक्ष नियामक है अर्थात् क्रिया-प्रतिक्रिया के व्यापार के अन्तर्गत किस पक्ष का प्रभाव प्रमुख रूप से व्यक्त हो रहा है। इस तथ्य की खोज करने के बाद ही हम अन्तर्सम्बन्ध के स्रोतो का—तथा उनके अन्तर्गत सन्निहित तत्वो का ठीक-ठीक आकलन कर सकते हैं। तभी हम उस मुख्य रेखा को देख सकते है जिसे हम विकास की रेखा कह सकते हैं।

पदार्थ और गति (Matter and Motion)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दूसरी निष्पत्ति यह है कि प्रत्येक वस्तु निरन्तर एक गतिशील स्थिति मे गुजरती है—परिवर्तन तथा विकासक्रम उसके साथ हमेशा जुड़ा रहता है।[1] मार्क्स के अनुसार, पदार्थ और गत्यात्मकता परस्पर

1. Page—76, Fundamentals of Marxism—*Leninism*
   " Cause and effect should not be viewed metaphysically as ossified, un-connected, absolute opposites They should be viewed dialectically as interconnected, inter-convertible, 'fluid' conceptions."
2. 'What the gentleman all lack is dialectic. They never see anything but here cause and there effect. Hegal has never existed for them.

१. पृ० ८१, मार्क्स वार्नबोर्न —Dialectical Materialism
   "Contrary to metaphysics, dialectics considers everything as in a state of continuous movement and change, of renewal and development, where something is always arising and developing and something always disintegrating and dying away. "Hence it considers things not only from the standpoint of their interconnection and interdependence but also from the standpoint of their movement, their change, their development, their coming into being and going out of being"

सापेक्ष है, जिस प्रकार पदार्थ के अभाव में गति की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार गति के अभाव में पदार्थ की स्थिति भी संभव नहीं है—

"Matter without motion is just as unthinkable as motion without matter."[1]

लेकिन जैसा कि पूर्ववर्ती विचारकों की धारणा थी कि पदार्थ की गतिशीलता किसी बाह्य शक्ति द्वारा पदार्थ पर लादी गई स्थिति नहीं है, बल्कि ऐंजेल्स के अनुसार यह पदार्थ का अन्तर्वर्ती गुण है जो वस्तु जगत् की प्रत्येक प्रक्रिया में स्वतः विद्यमान रहता है।[२]

यांत्रिक भौतिकवादियों की यह धारणा थी कि जिस प्रकार यंत्र का कोई भी भाग तब तक गतिशील अथवा सक्रिय नहीं होता, जब तक दूसरी शक्ति के द्वारा वह सचालित न किया जाय।[३] इस भ्रांति का निराकरण करते हुए ऐंजेल्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"गति ही पदार्थ के अस्तित्व का आधार है, पदार्थ न तो कभी गतिहीन रहा है, न कभी रह ही सकता है—प्रत्येक पल पदार्थ का प्रत्येक अणु गति के किसी न किसी रूप से अथवा एक ही समय में अनेक गत्यात्मक रूपों से युक्त रहता है—गतिहीन पदार्थ की कल्पना वैसे ही नहीं की जा सकती जैसे पदार्थ रहित गति की।"[४]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसीलिए वस्तुओं को अन्तर्सम्बंध पर ही नहीं परखता, बल्कि उनके सही रूप की जानकारी के लिए उनकी गतिशीलता, उनके परिवर्तन, उनके विकासक्रम तथा विघटन को भी देखना आवश्यक समझता है। प्रकृति और समाज के जीवन का सही विश्लेषण तभी सम्भव भी है जब हमें निरन्तर जन्म लेने तथा विकसित होने वाले तत्वों के साथ ही विघटित होने वाले तथा मिटनेवाले तत्वों का भी ज्ञान हो। तभी हम उनके प्रति अपना सही दृष्टिकोण तथा कर्तव्य का भी निर्धारण कर सकते हैं। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह सिद्धान्त जैसा कि कार्नफोर्थ ने कहा है—केवल जानकारी की दृष्टि से नहीं बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

परिमाणमूलक परिवर्तन की गुणात्मक परिणति

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार, प्रकृति तथा समाज का गत्यात्मक व्यापार अथवा उनकी विकास प्रक्रिया सामान्य न होकर विशिष्ट है—प्रथमतः

1. Page—86, *Engels*—Anti-Duhring.
२. पृष्ठ ९२ *Engels*—Dialectics of Nature.
३. „ ४८ मॉरिस कार्नफोर्थ —Dialectical Materialism.
४. „ ८६ *Engels*: Anti-Duhring.

तथा समाज के अन्तर्गत इस प्रकार पुरातन गुणात्मक स्थिति के बदले नई गुणात्मक स्थिति की अवतारणा ही विकास की प्रक्रिया है। लेकिन वह कौन-सी प्रमुख शक्ति है जिसे हम विकास प्रक्रिया का स्रोत कह सकते हैं?—मार्क्सवादी, चिन्तन के अन्तर्गत यह एक अतिशय महत्वपूर्ण प्रश्न है, साथ ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा इसका समाधान, इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता भी।

असंगति (contradiction) वास्तविक असंगति विरोधी तत्वों की एकता है—

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की चतुर्थ निष्पत्ति यह है कि विकास की प्रक्रिया मूलत. उन असंगतियों तथा अन्तर्विरोधो पर आधारित है जो वस्तुजगत के प्रत्येक व्यापार मे आन्तरिक रूप मे विद्यमान रहते हैं। लेनिन ने इसी अर्थ मे विकास को विरोधी तत्वो की एकता की संज्ञा दी थी अथवा उसके पूर्व ऐंजेल्स ने स्वयं गति को असंगति के रूप मे अभिहित किया था। लेकिन यह असंगति क्या है, अथवा मार्क्सवादी विचारको ने उसका प्रयोग किस अर्थ मे किया है, विकास प्रक्रिया के मूल मे उसकी सक्रियता की व्याख्या करने के पूर्व, इस तथ्य का उल्लेख आवश्यक है। मारिस कार्नफोर्थ ने इसका विश्लेषण करते हुये लिखा है।

"A real contradiction is a unity of opposites There is a real contradiction as we say, in the very nature of a thing or process o. relationship when in that thing or process or relationship opposite tendencies are combined together in such a way that neither can exist without the other In the unity of opposites, the *opposites are held together* in a *relation of mutual independence, where each is the condition of existence of the other*"[1]

(वास्तविक असंगति विरोधी तत्वो की एकता है। किसी भी वस्तु अथवा प्रक्रिया या संबंध के अन्तर्गत जब विरोधी वृत्तियो का समाहार इस प्रकार हो ताकि एक के अभाव मे दूसरे का अस्तित्व संभव न रहे, उक्त वस्तु अथवा प्रक्रिया या संबंध के अन्तर्गत वास्तविक असंगति देखी जा सकती है। विरोधी तत्वो की एकता के अन्तर्गत विरोधी तत्व परस्पर निर्भरता के संबंध मे युक्त रहते है जहाँ प्रत्येक का अस्तित्व दूसरे के लिए अनिवार्य है)।

---

1. Page 105—*Maurice Cornforth* : Dialectical Materialism.

मारिस कार्नफोर्थ के अनुसार, 'पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत पूंजीपति और मजदूर के बीच की असंगति इसी प्रकार के विरोधी की एकता है। क्योंकि उस समाज' के अन्तर्गत न तो मजदूर पूंजीपति के बिना रह सकते है और न पूंजीपति मजदूर के बिना। उक्त समाज की प्रकृति ऐसी है कि उसके अन्तर्गत ये विरोधी तत्व अविभाज्य एकता मे बंधे रहते है। यह विरोधी की एकता उक्त समाज व्यवस्था के मूलभूत चरित्र से सम्बद्ध है। पूंजीवाद एक ऐसी व्यवस्था है जिसमे पूंजीपति मजदूरो का शोषण करते है और मजदूर पूंजीपतियो द्वारा शोषित किये जाते हैं।

किसी भी असगति के अन्तर्गत विरोधी तत्वो की एकता ही विरोधी तत्वो के संघर्ष को आवश्यक और अनिवार्य बना देती है और चूंकि विरोधी तत्व अविभाज्य रूप मे बंधे रहते है, अत इस संघर्ष से बचने का कोई मार्ग ही नही है। इस प्रकार चूकि एक पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत विरोधी वर्ग एकत्र हैं अत उस समाज का विकास वर्गसंघर्ष के रूप मे ही प्रस्तुत होना है और इसी रूप में इस विकास का प्रस्तुत होना अनिवार्य भी है।'[1]

अत असगति ही परिवर्तन अथवा विकास का मूलभूत आधार है। इसलिए जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत असगतियाँ न हो वह एक ही तरह से निरन्तर विकसित होती रहेगी जब तक कोई बाह्य शक्ति उसे नियन्त्रित करने का प्रयत्न न करे। असगति रहित गत्यात्मक प्रक्रिया का अर्थ है एक ही गत्यात्मक प्रक्रिया की बार-बार आवृत्ति। अत किसी भी वस्तु अथवा प्रक्रिया का अर्थ है एक के अन्तर्गत यह वास्तविक असगति की उपस्थिति अथवा विरोधी तत्वो की एकता की ही स्थिति है जो उक्त वस्तु अथवा प्रक्रिया को नयी गतिशीलता अथवा विकास के नये चरण से युक्त करती है। इन्ही विरोधी तत्वों की एकता तथा संघर्ष के कारण नयी गुणात्मक स्थिति की अवतारणा होती है।

यह स्थिति केवल सामाजिक जीवन की प्रक्रिया मे ही लक्षित नही होती। वरन् जगत की अन्य प्रक्रियाओ मे जो विकासक्रम दिखलाई पड़ता है उसके मूल मे असगतियों की ही स्थिति है। मार्क्सवाद के आधुनिक व्याख्याकार तथा विचारक माओत्सेतुग ने विस्तृत विश्लेषण करते हुये स्पष्ट शब्दो मे कहा है – असगति सभी वस्तुओ के विकास की प्रक्रिया मे मौजूद रहती है,

---

१. पृष्ठ १०४-१०५—मारिस कार्नफोर्थ : Dialectical Materialism.

और प्रत्येक वस्तु के विकास की प्रक्रिया में शुरू से आखिर तक असंगति बनी रहती है, यही असंगति की सार्व-भौमता है।[1]

विकास की त्रिस्तरीय क्रमिकता (Thesis, Anti-Thesis-Synthesis)

अब प्रश्न यह विचारणीय है कि असंगतियों के आधार पर प्रकृति, समाज तथा जीवन का विकासक्रम किस रूप में व्यक्त होता है। मार्क्सवादी विचारकों ने इसका समाधान विकास की त्रिस्तरीय क्रमिकता दर्शाते हुये किया है। श्री ओमप्रकाश आर्य ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति, 'मार्क्सवाद और मूलदार्शनिक प्रश्न' में कहा है – "प्रकृति, समाज और जीवन" इन तीनों के विकास में हम देखते हैं कि किसी गति का एक सकारात्मक पक्ष (Thesis) होता है जो आगे जाने को तत्पर होता है। पर अपने चारों तरफ के वातावरण के कारण उस गति का एक नकारात्मक पक्ष (Antethesis) भी होता है जो कि उसको आगे जाने से रोकता है। इस प्रकार जो अन्तिम रूप से गति की अवस्था परिणाम के रूप में होती है वह संयुक्त सकारात्मक (Synthesis) के रूप में होती है, जिसके अन्दर प्रारम्भिक सकारात्मक पक्ष के साथ प्रारंभिक नकारात्मक पक्ष भी संयुक्त होता है।[2]

विकास की इस प्रक्रिया को ही द्वन्द्वात्मक विकास की संज्ञा दी गई है। यह प्रक्रिया ही यांत्रिक भौतिकवाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से भिन्न कर देती है। यांत्रिक भौतिकवादियों की दृष्टि मुख्यत. कार्य–कारण व्यापार तक ही परिसीमित थी और विकास के मूल में निहित अन्तर्विरोध को देखने में असमर्थ रह गयी थी। मार्क्स ने हीगेल के आदर्शों से अन्तर्विरोध की प्रक्रिया को ग्रहण कर भौतिकवादी आदर्शों में इसे संयुक्त करते हुये वस्तु-जगत के विकास-क्रम को नये धरातल पर विश्लेषित किया।

विकास का उच्चस्तरीय स्वरूप (Dialectical Development from the Lower to the Higher)

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अंतिम निष्कर्ष—विकास का उच्चस्तरीय उन्नयन भी पूर्वोक्त निष्पत्तियों से सम्बद्ध है।—यही कारण है कि स्तालिन ने परिमाणमूलक परिवर्तन का सम्बन्ध गुणात्मक सम्बन्ध में दर्शाते हुये इसका

---

१. पृष्ठ १६
२ ,, २०–२१—ओमप्रकाश आर्य : 'मार्क्सवाद और मूलदार्शनिक प्रश्न'

[illegible] है।[1] [illegible] कि हम इसमें, [illegible] हैं। वे [illegible] नियमों [illegible] होते हैं जो [illegible] विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के लिये [illegible] सकते हैं जो हमारी वैज्ञानिक [illegible] होते दिखाई पड़ता है। सामाजिक जीवन की प्रक्रिया में भी इसी प्रकार वस्तुगत नियमों की कार्यशीलता दिखाई पड़ती है—

(१) प्रथम सामाजिक जीवन के प्रसंगों की उद्भावना तभी होती है जब उनके लिए आवश्यक कारण विद्यमान हों। वे एक निश्चित समय पर निश्चित परिस्थिति की देन बनकर ही उत्पन्न होते हैं अकारण अथवा संयोगवश नहीं।[2]

(२) दूसरे एक बार जब प्रसंग की उद्भावना हो जाती है तब उनके प्रभावों की भी सृष्टि होती है—जो वैयक्तिक रुचि तथा आकांक्षा से मुक्त रहते हैं। बाद की क्रियायें अथवा बाद के प्रसंग उन प्रभावों को संशोधित भले ही करें किन्तु उनका निषेध नहीं कर सकते।[3]

फिर भी, सामाजिक जीवन के विकास को हम प्राकृतिक जीवन के अनुरूप नहीं सिद्ध कर सकते। दोनों के अन्तर्गत एक मूलभूत पार्थक्य है और वह पार्थक्य इस तथ्य में निहित है कि समाज का निर्माण चेतन मनुष्यों द्वारा होता है और उनकी चेतन क्रियाओं द्वारा ही सामाजिक जीवन में परिवर्तन आते हैं जबकि प्राकृतिक जीवन को संगठित करने वाले आधारभूत तत्व चेतना

१. पृष्ठ २२—मारिस कार्नफोर्थ—Historical Materialism,

The first guiding principle resulting from the application of materialism to social questions is that change and development in society, as in nature take place in accordance with objective laws.

२ पृ० २४—मारिस कार्नफोर्थ—Historical Materialism.

That social events take place only when the condition causing such events have come into being.

3 Page 24—*Ibed.*

That once certain events have taken place their effects will follow, independently of people's desires or intentions, subsequent actions, subsequent events, may modify these effects, but cannot nullify them.

रहित है।[1] इसलिए प्रकृति के व्यापारों में तुलनात्मक रूप से अधिक एक-रूपता तथा निरन्तरता दीखती है लेकिन सामाजिक जीवन में इस प्रकार की एकरूपता अथवा निरन्तरता नहीं बनी रहती। इसलिये सामाजिक जीवन की प्रक्रिया प्रकृति के व्यापारों की तुलना में अधिक संश्लिष्ट है।

समाज के इतिहास का विश्लेषण करते हुये हम ऐसे मनुष्यों की सक्रियता का विश्लेषण करते हैं जो विशिष्ट चेतना से युक्त रहते हैं और किसी निश्चित लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। लेकिन यहाँ भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी विशेष समय में किसी विशेष उद्देश्य अथवा लक्ष्य की अवधारणा क्यों होती है? दूसरे क्या ये लक्ष्य सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र रहते हैं? क्या उनका अन्य व्यक्तियों के लक्ष्य से और परिणामतः उनकी क्रियाओं से विरोध नहीं होता? इन प्रश्नों का उत्तर अन्ततः हमें सामाजिक जीवन की समग्रता में उसके वस्तुगत धरातल पर विशिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत विद्यमान सामाजिक शक्तियों के अध्ययन में ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये ऐंजेल्स के शब्दों में हम यह भले ही स्वीकार करें कि सामाजिक जीवन का विकास प्राकृतिक जीवन के विकास से मूलतः भिन्न होता है,[2] लेकिन उसकी वस्तुगत प्रक्रिया का हम निषेध नहीं कर सकते।

चेतन मनुष्यों की क्रियायें उसी रूप में सामने नहीं आतीं जिस रूप में आकांक्षित रहती हैं। परिस्थितियाँ उन्हें भी प्रभावित करती हैं। पुनः उनकी आकांक्षाओं का निर्माण किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में ही होता है। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। इसका मात्र यही कारण नहीं है कि वैयक्तिक मनोविज्ञान परस्पर भिन्न होता है बल्कि यह भी कि वे अपने को भिन्न सामाजिक स्थितियों में पाते हैं और उसी के कारण उनकी रुचियाँ भी भिन्न होती हैं। अतः उन परिस्थितियों का विश्लेषण सामाजिक जीवन के

---

1. Page 26—*Ibed.*

२. उद्धृत पृष्ठ २६—मारिस कार्नफोर्थ : Historical Materialism.

"In one point the history of the development of society proves to be essentially different from that of nature," wrote Engels. "In nature. ..there are only,
...on one another....
...hand, the actors
...e men acting with
deliberation of p... ...ds definite goals; nothing happens without a conscious purpose, without an intended aim."

विकास को समझने के लिये आवश्यक है जिनके अन्तर्गत मनुष्य की आकांक्षायें तथा उनके उद्देश्य निर्धारित होते हैं।

सामाजिक जीवन का भौतिक आधार

उत्पादन-प्रणाली

समाज के भौतिक जीवन का प्रारंभिक प्रकरण है मनुष्य की श्रममूलक प्रक्रिया, जिसके माध्यम से उन भौतिक मूल्यों (भोजन, वस्त्र, आवास आदि) को प्राप्त करता है जो उसके जीवन के लिये आवश्यक है।

लेकिन मानवीय श्रम के लिये भी एक प्राथमिक आवश्यकता है, और वह है आवश्यक उपकरणों (Instruments) का निर्माण और प्रयोग। यों तो प्रत्येक नयी पीढ़ी, जो जीवन में प्रवेश करती है, पुरानी पीढ़ी से उत्तराधिकार के रूप में उन उपकरणों अथवा उत्पादन यंत्रों को प्राप्त करती है, जो उसके द्वारा निर्मित रहे हैं तथा जिनके द्वारा वह अपनी उत्पादन क्रिया का संचालन करती रही है, लेकिन परम्परागत उपकरण, चूंकि नयी आवश्यकता अथवा परिस्थितियों के अनुकूल सिद्ध नहीं होते अतः नये अनुभवों के आधार पर मनुष्य उन्हें निरन्तर विकसित और परिवर्तित करता रहता है। इनके अतिरिक्त उत्पादन यंत्र स्वतः चालित नहीं होते। उनके संचालन के लिये मानवीय क्षमता भी अपेक्षित है, जो निरन्तर नये अनुभवों से सम्पन्न तथा विकसित होती रहती है। उत्पादन यंत्र तथा विशिष्ट क्षमता से युक्त उत्पादन कार्य में संलग्न व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह संयुक्त रूप से समाज की उत्पादन शक्ति का विधान करते हैं।[1]

लेकिन समाज का भौतिक जीवन उत्पादन शक्तियों तक ही परिसीमित नहीं है। उत्पादन की प्रक्रिया राबिन्सन क्रूसो जैसे समाज-निरपेक्ष व्यक्ति द्वारा किसी निर्जन द्वीप में सम्पन्न नहीं होती। इसका निरन्तर एक सामाजिक चरित्र व्यक्त होता है। भौतिक द्रव्यों की उत्पादन-प्रक्रिया में मनुष्य, भले ही वह पसंद करे या नहीं, अपने आपको दूसरे से सम्बद्ध पाता है। उसकी उत्पादन

---

१. पृ० १४६—Fundamentals of Marxism—Leninism.

"The instruments of production, the means of labour by which material values are created, and the people carrying out the process of production on the basis of a certain degree of production experience, constitute the productive force of society."

क्रिया वस्तुतः व्यापक सामाजिक क्रिया का एक अंग बन जाती है परस्पर सापेक्षता का यह सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है

वस्तुतः, इतिहास की प्रारंभिक अवस्था में भी लोगों को जीवित रहने के लिये एकत्र होने तथा रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तभी वे अतिशय आदिम उपकरणों के द्वारा वन्य पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों को प्राप्त कर सकते थे। श्रम-विभाजन के साथ पारस्परिक निर्भरता का आदर्श अधिक तीव्र होकर सामने आया। नये अनुभवों के साथ नये उत्पादन यंत्रों का निर्माण होने लगा और विशेष क्षमता के आधार पर नयी जातियों तथा उपजातियों की सृष्टि हुई—कुछ दिनों बाद उत्पादन यन्त्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया विभक्त पड़ गई। एक ओर किसानों को कारीगरों का मुखापेक्षी बनना पड़ा। दूसरी ओर कारीगरों को किसानों का भरोसा करना पड़ा। इस प्रकार उत्पादन कार्य में संलग्न व्यक्ति अनेक संबंधों के साथ परस्पर जुड़ते गये। मार्क्स और ऐंजेल्स ने इस प्रकार के संबंधों को Production relation अथवा उत्पादन-संबंध अथवा आर्थिक संबंध (Economic relation) की संज्ञा दी है।[1]

उत्पादन संबंधों का स्वरूप कुछ उत्पादन शक्तियों पर निर्भर करता है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ उत्पादन संबंधों का भी बदलना आवश्यक है। मार्क्स ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है—'सामाजिक संबंध उत्पादन शक्तियों से निकटतापूर्वक जुड़े हैं।' जिन आर्थिक संबंधों की स्थापना संभव न थी। प्रथमतः उस समय श्रम के साधन इतने सामान्य थे (पत्थर की कुल्हाड़ियाँ आदि) कि उनका निर्माण कोई भी व्यक्ति कर सकता था। अतः इन्हें निजी तौर पर अधिकृत करने का (Private ownership of these instruments) कोई प्रश्न ही नहीं उठता था—न उसकी संभावना ही थी। दूसरे, उत्पादन के परिमाण पर मनुष्य उस समय एक दूसरे का शोषण भी नहीं कर सकते थे—वे उतना ही उत्पादन करते थे ताकि जीवन का संरक्षण हो सके, और उनके लिये यह असंभव था कि अपने अतिरिक्त किसी शोषक वर्ग को प्रश्रय दे सकें। इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यापार के क्रम में मनुष्य जिन संबंधों की स्थापना करता है वे उत्पादन शक्तियों से पृथक तथा निरपेक्ष न होकर उनसे एक निश्चयात्मक संबंध के साथ बंधे रहते हैं।

उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंध के इस संतुलन का जो ऐतिहासिक

---

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism.

भौतिकवाद के अन्तर्गत उत्पादन प्रणाली (Modes of Production) की संज्ञा दी गई है।[1]

समाज का भौतिक धरातल तथा वैचारिक उत्पादन (Basis and super-structure)

सामाजिक जीवन में उत्पादन प्रणाली ही समाज के भौतिक धरातल (Material basis) का निर्माण करती है। समाज का इतिहास मूलतः उत्पादन-प्रक्रिया के विकास का इतिहास है। वह उन अनेक उत्पादन-प्रणालियों का इतिहास है जो उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ क्रमशः अवतीर्ण होती हैं। इसी अर्थ में मार्क्स ने इतिहास को मनुष्य की स्वतः विकसित सामाजिक व्यवस्था की संज्ञा दी है। यहाँ इस प्रश्न का उठाना स्वाभाविक है कि उत्पादन-प्रणालियों के विकास के साथ समाज का विकास किस रूप में सम्बद्ध है ?

इतना तो स्पष्ट है कि श्रमयुक्त प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य बाह्य प्रकृति को प्रभावित और परिवर्तित करता है, लेकिन उसके साथ यह भी द्रष्टव्य है कि बाह्य प्रकृति को प्रभावित तथा परिवर्तित करने के उपक्रम में मनुष्य स्वयं को भी विकसित करता है।[2] वह उत्पादन संबंधी नये अनुभव प्राप्त करता है, श्रम संबंधी नयी क्षमतायें ग्रहण करता है और अपने परिवेश के संबंध में, जिस वस्तुजगत से वह घिरा हुआ है उसके बारे में भी उसे नये ज्ञान की उपलब्धि होती है। इन सभी परिवर्तनों के कारण उसके लिये यह संभव है कि वह नये अनुभवों के आधार पर नयी क्षमता के माध्यम से श्रम के नये साधन तथा उनकी प्रयोग-विधि को विकसित करे। इस प्रकार का प्रत्येक परिवर्तन नये संबंधों की भूमिका बनकर प्रस्तुत होता है, केवल मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध का ही नहीं, उन व्यक्तियों के बीच की भी जो उत्पादन कार्य में संलग्न रहते हैं। उत्पादन संबंधों का यह धरातल ही समाज के आर्थिक धरातल के रूप में अभिहित है।[3]

---

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism
   "This unity of the productive forces and production relations is expressed by historical materialism in the concept of the mode of production."
2. Page—148, Fundamentals of Marxism—Leninism.
   "In the process of labour, people act upon external nature and change it. But while influencing nature they at the same time change themselves."
3. Page-150, Fundamentals of Marxism—Leninism

क्रिया वस्तुत: व्यापक सामाजिक क्रिया का एक अंग बन जाती है परस्पर सापेक्षता का यह सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है

वस्तुत:, इतिहास की प्रारम्भिक अवस्था में भी लोगों को जीवित रहने के लिये एकत्र होने तथा रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तभी वे अतिशय आदिम उपकरणों के द्वारा वन्य पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों को प्राप्त कर सकते थे। श्रम-विभाजन के साथ पारस्परिक निर्भरता का आदर्श अधिक तीव्र होकर सामने आया। नये अनुभवों के साथ नये उत्पादन यंत्रों का निर्माण होने लगा और विशेष क्षमता के आधार पर नयी जातियों तथा उपजातियों की सृष्टि हुई—कुछ दिनों बाद उत्पादन यन्त्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया विभक्त पड़ गई। एक ओर किसानों को कारीगरों का मुखापेक्षी बनना पड़ा। दूसरी ओर कारीगरों को किसानों का भरोसा करना पड़ा। इस प्रकार उत्पादन कार्य में संलग्न व्यक्ति अनेक संबंधों के साथ परस्पर जुड़ते गये। मार्क्स और ऐंजेल्स ने इस प्रकार के संबंधों को Production relation अथवा उत्पादन-संबंध अथवा आर्थिक संबंध (Economic relation) की संज्ञा दी है।[1]

उत्पादन संबंधों का स्वरूप कुछ उत्पादन शक्तियों पर निर्भर करता है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ उत्पादन संबंधों का भी बदलना आवश्यक है। मार्क्स ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है—'सामाजिक संबंध उत्पादन शक्तियों से निकटतापूर्वक जुड़े हैं।' जिन आर्थिक संबंधों की स्थापना सम्भव न थी। प्रथमत: उस समय श्रम के साधन इतने सामान्य थे (पत्थर की कुल्हाड़ियाँ आदि) कि उनका निर्माण कोई भी व्यक्ति कर सकता था। अत: इन्हें निजी तौर पर अधिकृत करने का (Private ownership of these instruments) कोई प्रश्न ही नहीं उठता था—न उसकी संभावना ही थी। दूसरे, उत्पादन के धरातल पर मनुष्य उस समय एक दूसरे का शोषण भी नहीं कर सकते थे—वे उतना ही उत्पादन करते थे ताकि जीवन का संरक्षण हो सकें, और उनके लिये यह असम्भव था कि अपने अतिरिक्त किसी शोषक वर्ग को प्रश्रय दे सकें इस दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यापार के क्रम में मनुष्य जिन संबंधों की स्थापना करता है वे उत्पादन शक्तियों से पृथक तथा निरपेक्ष न होकर उनसे एक निश्चयात्मक संबंध के साथ बँधे रहते हैं।

उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंध के इस संयुक्त रूप को ऐतिहासिक

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism.

ऐतिहासिक भौतिकवाद में उत्पादन प्रणाली (Modes of Production) की संज्ञा दी गई है।[1]

समाज का भौतिक आधार तथा वैचारिक उपादान (Basis and super-structure)

ऐतिहासिक भौतिकवाद में उत्पादन प्रणाली ही समाज के भौतिक आधार (Material basis) का निर्माण करती है। समाज का इतिहास मुख्य उत्पादक शक्तियों के विकास का इतिहास है। यह उन अनेक उत्पादन प्रणालियों का इतिहास है जो उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ क्रमशः अवतीर्ण होती हैं। इसी अर्थ में मार्क्स ने इतिहास को मनुष्य की स्वतः निर्मित सामाजिक व्यवस्था की संज्ञा दी है। यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि उत्पादन-प्रणालियों के विकास के साथ समाज का विकास किस रूप मे सम्बद्ध है?

इतना तो स्पष्ट है कि श्रमयुक्त प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य बाह्य प्रकृति को प्रभावित और परिवर्तित करता है, लेकिन उसके साथ यह भी द्रष्टव्य है कि बाह्य प्रकृति को प्रभावित तथा परिवर्तित करने के उपक्रम मे मनुष्य स्वयं को भी विकसित करता है।[2] वह उत्पादन सबधी नये अनुभव प्राप्त करता है, श्रम सबधी नयी क्षमतायें ग्रहण करता है और अपने परिवेश के सबध मे, जिस वस्तुजगत से वह घिरा हुआ है उसके बारे मे भी उसे नये ज्ञान की उपलब्धि होती है। इन सभी परिवर्तनों के कारण उसके लिये यह सभव है कि वह नये अनुभवो के आधार पर नयी क्षमता के माध्यम से श्रम के नये साधन तथा उनकी प्रयोग-विधि को विकसित करे। इस प्रकार का प्रत्येक परिवर्तन नये सबधों की भूमिका बनकर प्रस्तुत होता है, केवल मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध का ही नहीं, उन व्यक्तियो के बीच की भी जो उत्पादन कार्य मे सलग्न रहते हैं। उत्पादन सबधो का यह धरातल ही समाज के आर्थिक धरातल के रूप मे अभिहित है।[3]

---

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism
   "This unity of the productive forces and production relations is expressed by historical materialism in the concept of the mode of production."
2. Page—148, Fundamentals of Marxism—Leninism.
   "In the process of labour, people act upon external nature and change it. *But while influencing nature they* at the same time change themselves."
3. Page-150, Fundamentals of Marxism—Leninism

क्रिया वस्तुतः व्यापक सामाजिक क्रिया का एक अंग बन जाती है। परस्पर सापेक्षता का यह सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है।

वस्तुतः, इतिहास की प्रारंभिक अवस्था में भी लोगों को जीवित रहने के लिये एकत्र होने तथा रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तभी वे अतिशय आदिम उपकरणों के द्वारा वन्य पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों को प्राप्त कर सकते थे। श्रम-विभाजन के साथ पारस्परिक निर्भरता का आदर्श अधिक तीव्र होकर सामने आया। नये अनुभवों के साथ नये उत्पादन यंत्रों का निर्माण होने लगा और विशेष क्षमता के आधार पर नयी जातियों तथा उपजातियों की सृष्टि हुई—कुछ दिनों बाद उत्पादन यंत्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया विभक्त पड़ गई। एक ओर किसानों को कारीगरों का मुखापेक्षी बनना पड़ा। दूसरी ओर कारीगरों को किसानों का भरोसा करना पड़ा। इस प्रकार उत्पादन कार्य में सलग्न व्यक्ति अनेक सबंधों के साथ परस्पर जुड़ते गये। मार्क्स और ऐंजेल्स ने इस प्रकार के सबंधों को Production relation अथवा उत्पादन-संबंध अथवा आर्थिक सबंध (Economic relation) की संज्ञा दी है।[1]

उत्पादन संबंधों का स्वरूप कुछ उत्पादन शक्तियों पर निर्भर करता है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ उत्पादन सबंधों का भी बदलना आवश्यक है। मार्क्स ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है—'सामाजिक संबंध उत्पादन शक्तियों से निकटतापूर्वक जुड़े हैं।' जिन आर्थिक संबंधों की स्थापना संभव न थी। प्रथमतः उस समय श्रम के साधन इतने सामान्य थे (पत्थर की कुल्हाड़ियां आदि) कि उनका निर्माण कोई भी व्यक्ति कर सकता था। अतः इन्हें निजी तौर पर अधिकृत करने का (Private ownership of these instruments) कोई प्रश्न ही नहीं उठता था—न उसकी संभावना ही थी। दूसरे, उत्पादन के धरातल पर मनुष्य उस समय एक दूसरे का शोषण भी नहीं कर सकते थे—वे उतना ही उत्पादन करते थे ताकि जीवन का संरक्षण हो सके, और उनके लिये यह असंभव था कि अपने अतिरिक्त किसी शोषक वर्ग को प्रश्रय दे सकें। इस दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यापार के क्रम में मनुष्य जिन सबंधों की स्थापना करता है वे उत्पादन शक्तियों से पृथक् तथा निरपेक्ष न होकर उनसे एक निश्चयात्मक संबंध के साथ बंधे रहते हैं।

उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंध के इस संयुक्त रूप को ऐतिहासिक

---

1. Page—117, Fundamentals of Marxism—Leninism.

इतना तो स्पष्ट है कि श्रमयुक्त प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य बाह्य प्रकृति को प्रभावित और परिवर्तित करता है, लेकिन उसके साथ यह भी स्पष्ट है कि बाह्य प्रकृति को प्रभावित तथा परिवर्तित करने के उपक्रम में मनुष्य स्वयं को भी विकसित करता है।[2] वह उत्पादन संबंधी नये अनुभव प्राप्त करता है, श्रम संबंधी नयी क्षमतायें ग्रहण करता है और अपने परिवेश के संबंध में, जिस वस्तुजगत से वह घिरा हुआ है उसके बारे में भी उसे नये ज्ञान की उपलब्धि होती है। इन सभी परिवर्तनों के कारण उसके लिये यह संभव है कि वह नये अनुभवों के आधार पर नयी क्षमता के माध्यम से श्रम के नये साधन तथा उनकी प्रयोग-विधि को विकसित करे। इस प्रकार का प्रत्येक परिवर्तन नये संबंधों की भूमिका बनकर प्रस्तुत होता है, केवल मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध का ही नहीं, उन व्यक्तियों के बीच की भी जो उत्पादन कार्य में संलग्न रहते हैं। उत्पादन संबंधों का यह धरातल ही समाज के आर्थिक धरातल के रूप में अभिहित है।[3]

---

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism
   "This unity of the productive forces and production relations is expressed by historical materialism in the concept of the mode of production."
2. Page—148, Fundamentals of Marxism—Leninism.
   "In the process of labour, people act upon external nature and change it. But while influencing nature they *at the same time change themselves.*"
3. Page-150, Fundamentals of Marxism—Leninism

क्रिया वस्तुत. व्यापक सामाजिक क्रिया का एक अंग बन जाती है। परस्पर सापेक्षता का यह सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है।

वस्तुत, इतिहास की प्रारंभिक अवस्था में भी लोगों को जीवित रहने के लिये एकत्र होने तथा रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तभी वे अतिशय आदिम उपकरणों के द्वारा वन्य पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों को प्राप्त कर सकते थे। श्रम-विभाजन के साथ पारस्परिक निर्भरता का आदर्श अधिक तीव्र होकर सामने आया। नये अनुभवों के साथ नये उत्पादन यन्त्रों का निर्माण होने लगा और विशेष क्षमता के आधार पर नयी जातियों तथा उपजातियों की सृष्टि हुई—कुछ दिनों बाद उत्पादन यन्त्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया विभक्त पड़ गई। एक ओर किसानों को कारीगरों का मुखापेक्षी बनना पड़ा। दूसरी ओर कारीगरों को किसानों का भरोसा करना पड़ा। इस प्रकार उत्पादन कार्य में संलग्न व्यक्ति अनेक संबंधों के साथ परस्पर जुड़ते गये। मार्क्स और ऐंजेल्स ने इस प्रकार के संबंधों को Production relation अथवा उत्पादन-संबंध अथवा आर्थिक संबंध (Economic relation) की संज्ञा दी है।[1]

उत्पादन संबंधों का स्वरूप मुख्य उत्पादन शक्तियों पर निर्भर करता है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ उत्पादन संबंधों का भी बदलना आवश्यक है। मार्क्स ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है—'सामाजिक संबंध उत्पादन शक्तियों से निकटतापूर्वक जुड़े हैं।' जिन आर्थिक संबंधों की स्थापना संभव न थी। प्रथमत. उस समय श्रम के साधन इतने सामान्य थे (पत्थर की कुल्हाड़ियाँ आदि) कि उनका निर्माण कोई भी व्यक्ति कर सकता था। अतः इन्हें निजी तौर पर अधिकृत करने का (Private ownership of these instruments) कोई प्रश्न ही नहीं उठता था—न उसकी संभावना ही थी। दूसरे, उत्पादन के धरातल पर मनुष्य उस समय एक दूसरे का शोषण भी नहीं कर सकते थे—वे उतना ही उत्पादन करते थे ताकि जीवन का संरक्षण हो सके, और उनके लिये यह असंभव था कि अपने अतिरिक्त किसी शोषक वर्ग को प्रश्रय दे सकें इस दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यापार के क्रम में मनुष्य जिन संबंधों की स्थापना करता है वे उत्पादन शक्तियों से पृथक तथा निरपेक्ष न होकर उनसे एक निश्चयात्मक संबंध के साथ बँधे रहते हैं।

उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंध के इस संयुक्त रूप को ऐतिहासिक

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism
"This unity of the productive forces and production relations is expressed by historical materialism in the concept of the mode of production."

2. Page—148, Fundamentals of Marxism—Leninism.
"In the process of labour, people act upon external nature and change it. But while influencing nature they at the same time change themselves."

3 Page-150, Fundamentals of Marxism—Leninism

क्रिया वस्तुतः व्यापक सामाजिक क्रिया का एक अंग बन जाती है। परस्पर सापेक्षता का यह सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करता है।

वस्तुतः, इतिहास की प्रारंभिक अवस्था में भी लोगों को जीवित रहने के लिये एकत्र होने तथा रहने की आवश्यकता पड़ती थी, तभी वे अतिशय आदिम उपकरणों के द्वारा वन्य पशुओं तथा अन्य प्राकृतिक उपादानों को प्राप्त कर सकते थे। श्रम-विभाजन के साथ पारस्परिक निर्भरता का आदर्श अधिक तीव्र होकर सामने आया। नये अनुभवों के साथ नये उत्पादन यंत्रों का निर्माण होने लगा और विशेष क्षमता के आधार पर नयी जातियों तथा उपजातियों की सृष्टि हुई—कुछ दिनों बाद उत्पादन यन्त्रों के निर्माण और प्रयोग की प्रक्रिया विभक्त पड़ गई। एक ओर किसानों को कारीगरों का मुखापेक्षी बनना पड़ा। दूसरी ओर कारीगरों को किसानों का भरोसा करना पड़ा। इस प्रकार उत्पादन कार्य में संलग्न व्यक्ति अनेक संबंधों के साथ परस्पर जुड़ते गये। मार्क्स और एंजेल्स ने इस प्रकार के संबंधों को Production relation अथवा उत्पादन-संबंध अथवा आर्थिक संबंध (Economic relation) की संज्ञा दी है।[1]

उत्पादन संबंधों का स्वरूप कुछ उत्पादन शक्तियों पर निर्भर करता है। उत्पादन शक्तियों के विकास के साथ उत्पादन संबंधों का भी बदलना आवश्यक है। मार्क्स ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुये कहा है—'सामाजिक संबंध उत्पादन शक्तियों से निकटतापूर्वक जुड़े हैं।' जिन आर्थिक संबंधों की स्थापना संभव न थी। प्रथमतः उस समय श्रम के साधन इतने सामान्य थे (पत्थर की कुल्हाड़ियाँ आदि) कि उनका निर्माण कोई भी व्यक्ति कर सकता था। अतः इन्हें निजी तौर पर अधिकृत करने का (Private ownership of these instruments) कोई प्रश्न ही नहीं उठता था—न उसकी संभावना ही थी। दूसरे, उत्पादन के धरातल पर मनुष्य उस समय एक दूसरे का शोषण भी नहीं कर सकते थे—वे उतना ही उत्पादन करते थे ताकि जीवन का संरक्षण हो सके, और उनके लिये यह असंभव था कि अपने अतिरिक्त किसी शोषक वर्ग को प्रश्रय दे सकें इस दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यापार के क्रम में मनुष्य जिन संबंधों की स्थापना करता है वे उत्पादन शक्तियों से पृथक तथा निरपेक्ष न होकर उनसे एक निश्चयात्मक संबंध के साथ बंधे रहते हैं।

उत्पादन शक्ति और उत्पादन संबंध के इस संयुक्त रूप को ऐतिहासिक

1. Page—147, Fundamentals of Marxism—Leninism.

ार्थिक धरातल मे, सामाजिक सबधो की भूमिकाओ मे परिवर्तन आने ही ैचारिक धरातल भी परिवर्तित होने लगता है। लेकिन इसका यह अर्थ नही क वैचारिक धरातल मे निष्क्रिय रूप से केवल प्रभाव ही ग्रहण करता है, वह माज के आर्थिक धरातल को किसी भी रूप मे प्रभावित नही करता बल्कि ास्तविकता तो यह है कि समाज का वैचारिक धरातल भी बदले मे उसके भौतिक धरातल पर महत्वपूर्ण प्रभाव अंकित करता है, यद्यपि इस प्रभाव की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप मे न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होती है। एंगेल्स ने इस तथ्य का विवेचन करते हुये अपने एक पत्र मे लिखा है—"वैधानिक, दार्शनिक धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास आर्थिक धरातल पर आधारित रहते हैं लेकिन ये सभी एक दूसरे पर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते है और अन्तत. आर्थिक धरातल पर भी।[1]

इसी प्रकार वर्गीय समाज (Class society) के वैचारिक उत्सदन मे यद्यपि शासक वर्ग की विचार धारा की प्रमुखता रहती है लेकिन इसका यह अर्थ नही कि इसके अन्तर्गत शोषित वर्गों की विचार-धारा अथवा उनकी सस्थाओ का सर्वथा अभाव हो। वास्तविकता तो यह है कि इन्ही के माध्यम से ये वर्ग अपने हितो के लिये सघर्ष करते हैं। उदाहरण के लिये आधुनिक पूँजीवादी समाज को हम देख सकते हैं—जिसके अन्तर्गत पूँजपति वर्ग के वर्गीय दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति देने के लिये राजकीय सस्थान ही नही राजनीतिक दल और प्रेस आदि सब कुछ हैं। लेकिन इनके होते हुये भी समाज के अन्तर्गत विरोधी विचार धारा अथवा श्रमजीवी वर्ग की स्थिति है। वर्ग युक्त समाज मे इस प्रकार परस्पर भिन्न दृष्टिकोणो तथा प्रवृत्तियो का राजनीतिक और दूसरे प्रकार की संस्थाओ और सगठनो का अथवा वे समस्त उपकरण जो विचार-धारा के रूपो का निर्माण करते हैं, एक पिरामिड सा बन जाता है।

सामाजिक-आर्थिक स्वरूप के विकास तथा परिवर्तन के रूप में मानवीय इतिहास
(History as the development and change of socio-economic formation)

इस प्रकार प्रत्येक समाज का एक अविभाज्य स्वरूप (Integral

---

१. ,, क, मार्क्स एंजेल्स—Literature And Art.

"Political, Juridicialm Philosophical, religious, literary artistic, etc. development is based on economic development. But all these react upon one another and also upon the economic base."

इन परिवर्तनों के आधार पर उत्पादन विधियों में जो विकास परिलक्षित होता है, वह समाज के बौद्धिक जीवन तथा उसके वैचारिक पक्ष को भी प्रभावित करता है। भौतिक परिवर्तनों के आधार पर विचार धारा के नये रूप तथा नयी संस्थाओं का निर्माण होता है। समाज के इस वैचारिक धरातल को ऐतिहासिक भौतिकवाद के अन्तर्गत 'Superstructure' की संज्ञा दी गयी है।[1] मार्क्स ने समाज के इन उभय पक्षों का—आर्थिक तथा वैचारिक धरातल का विश्लेषण करते हुये कहा है—'अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चयात्मक संबधों में प्रवेश करता है जो अपरिहार्य तथा वैयक्तिक आकांक्षाओं से निरपेक्ष होते हैं—ये उत्पादन संबंध उनकी भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था से सामंजस्य का विधान करते हैं। इन उत्पादन संबधों का योग ही समाज के आर्थिक धरातल (Economic structure of the society) का निर्माण करता है। वह वास्तविक नींव जिस पर विधि तथा राजनीति का वैचारिक उत्सदन (Legel and politcal superstructure) खड़ा होता है, सामाजिक चेतना इस वैचारिक धरातल से अपेक्षित सामंजस्य का विधान करती है। भौतिक जीवन की उत्पादन-प्रणाली इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक जीवन प्रक्रिया का नियमन करती है।[2] मार्क्स ने स्पष्ट कहा है—'मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है।[3]'

लेकिन वैचारिक धरातल आर्थिक धरातल की तुलना में अत्यधिक संश्लिष्ट (Complex) है। इसके वास्तविक विकास तथा इसके विभिन्न स्वरूप को प्रभावित करने वाले अनेक तत्त्व हैं। यह तो ठीक ही है कि समाज का आर्थिक धरातल उसे प्रभावित करता है और इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि

---

1. Pase-117, मॉरिस कार्नफोर्थ—Historical Materialism
"Corresponding to the development of a given social-economic formation of a given system of production relations, a given basis, there necessarily arises a system of views institutisons peculiar to that basis, which are the dominant and institutions of society so long as that basis is maintained. This is the superstructure."

२. पृष्ठ ३२८, कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंजेल्स Selected works Vol. I

३. ,, ३२८, —वही—

आर्थिक धरातल में, सामाजिक सबंधो की भूमिकाओं में परिवर्तन आते ही वैचारिक धरातल भी परिवर्तित होने लगता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वैचारिक धरातल मे निष्क्रिय रूप से केवल प्रभाव ही ग्रहण करता है, वह समाज के आर्थिक धरातल को किसी भी रूप मे प्रभावित नहीं करता बल्कि वास्तविकता तो यह है कि समाज का वैचारिक धरातल भी बदले मे उसके भौतिक धरातल पर महत्वपूर्ण प्रभाव अंकित करता है, यद्यपि इस प्रभाव की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होती है। ऐंजेल्स ने इस तथ्य का विवेचन करते हुये अपने एक पत्र मे लिखा है—"वैधानिक, दार्शनिक धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास आर्थिक धरातल पर आधारित रहते हैं लेकिन ये सभी एक दूसरे पर भी अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं और अन्ततः आर्थिक धरातल पर भी।"[1]

इसी प्रकार वर्गीय समाज (Class society) के वैचारिक उत्पादन में यद्यपि शासक वर्ग की विचार धारा की प्रमुखता रहती है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इसके अन्तर्गत शोषित वर्गों की विचार-धारा अथवा उनकी संस्थाओं का सर्वथा अभाव हो। वास्तविकता तो यह है कि इन्हीं के माध्यम से ये वर्ग अपने हितो के लिये सघर्ष करते हैं। उदाहरण के लिये आधुनिक पूंजीवादी समाज को हम देख सकते हैं—जिसके अन्तर्गत पूंजीपति वर्ग के वर्गीय दृष्टिकोण को अभिव्यक्ति देने के लिये राजकीय संस्थान ही नहीं राजनीतिक दल और प्रेस आदि सब कुछ हैं। लेकिन इनके होते हुये भी समाज के अन्तर्गत विरोधी विचार धारा अथवा श्रमजीवी वर्ग की स्थिति है। वर्ग युक्त समाज मे इस प्रकार परस्पर भिन्न दृष्टिकोणो तथा प्रवृत्तियों का राजनैतिक और दूसरे प्रकार की संस्थाओं और संगठनो का अथवा वे समस्त उपकरण जो विचार-धारा के रूपो का निर्माण करते हैं, एक पिरामिड सा बन जाता है।

सामाजिक-आर्थिक स्वरूप के विकास तथा परिवर्तन के रूप में मानवीय इतिहास

(History as the development and change of socio-economic formation)

इस प्रकार प्रत्येक समाज का एक अविभाज्य स्वरूप (Integral

---

१. ... न, मार्क्स ऐंजेल्स—Literature And Art.

"Political, Juridicialm Philosophical, religious, Literary artistic, etc. development is based on economic development. But all these react upon one another and also upon the economic base"

organism) बन जाता है जो विशिष्ट उत्पादन प्रणाली—भौतिक आधार तथा वैचारिक उत्पादन के अपेक्षित सामञ्जस्य पर आधारित रहता है।[1] समाज के इस विशिष्ट रूप-रचना को मार्क्सवादी चिन्तन के अन्तर्गत सामाजिक-आर्थिक स्वरूप (Socio-economic formation) की संज्ञा दी गयी है तथा इसे सामाजिक जीवन के इतिहास का एक विशिष्ट चरण माना गया है।[2] मानवीय इतिहास के विभिन्न चरण जिन्हें मार्क्सवादी विचारकों ने क्रमशः आदिम साम्यवादी युग, दास व्यवस्था-युग, सामंती व्यवस्था-युग और पूँजीवादी युग की संज्ञा दी है, समाज के इस आर्थिक सामाजिक स्वरूप पर आधारित हैं। समय की सीमा में जिनकी उत्पादन प्रणाली, जिनके भौतिक आधार और जिनके वैचारिक उत्पादन में अपेक्षित सामञ्जस्य रहा होगा। यहाँ इनका संक्षिप्त उल्लेख अप्रासंगिक न होकर इतिहास विषयक मार्क्सवादी दृष्टि को समझने में पर्याप्त सहायक होगा।

आदिम साम्यवाद-मानवीय इतिहास का प्रथम चरण आदिम साम्यवाद के रूप में अभिहित है। इस युग में मनुष्य की उत्पादन शक्ति बहुत ही सीमित थी। उसके उत्पादन यन्त्र मुख्यतः पत्थर के बने हुये थे और वैयक्तिक क्षमतायें भी बौद्धिक न होकर शारीरिक थी। अतः इस सीमित शक्ति के विभाजन का कोई प्रश्न ही नहीं था। इसके अतिरिक्त चूँकि प्रकृति की शक्तियों से संघर्ष करता हुआ उस युग का मनुष्य अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सामूहिक प्रयत्न करने के लिये बाध्य था अतः उत्पादन शक्तियों पर भी सामूहिक आधिपत्य का होना स्वाभाविक था। लेकिन जैसे ही मनुष्य ने अपनी उत्पादन शक्ति को विकसित किया नये उत्पादन यंत्रों के अतिरिक्त उत्पादन विषयक नये अनुभवों से युक्त हुआ, सामूहिक श्रम की प्रक्रिया विघटित होने लगी।—श्रम विभाजन के साथ उत्पादन की शक्तियों पर वैचारिक अधिकार आया और इसके साथ ही शोषण की सम्भावना भी। चूँकि उत्पादन अब इस सीमा तक पहुँच चुका था, जिसे हम मानवीय श्रम की तुलना में प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक कह सकते हैं और इस आधिक्य (surplus) ने ही सुविधाभोगी व्यक्ति तथा वर्ग को जन्म दिया।

दास व्यवस्था

इस व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन सम्बन्धों का आधार मुख्यतः व्यक्ति

---

१. पृष्ठ १२१—Fundamentals of Marxism—Leninism
२. „ १२१—वही—

'भूमि' पर, अधिकार से सम्बद्ध थे।[1] समाज व्यवस्था, इस युग में दो वर्गों में विभाजित थी—सामंत और कृषक वर्ग। कृषक वर्ग सामंतों पर आश्रित था लेकिन उनकी पूंजी न था। उसकी श्रम शक्ति पर सामंतो का अधिकार था और वे भूमि से बधकर उनकी सेवा करने के लिए बाध्य थे।

इस युग के उत्पादन संबंधो के विशिष्ट चरित्र के उत्पादन शक्तियों के विकास के लिए नई संभावनायें प्रस्तुत की। उत्पादकों का चूंकि उत्पादन व्यवस्था से प्रत्यक्ष संबंध था अत वे उसमें विशेष रुचि लेते थे। उत्पादन यंत्रों को परिष्कृत करने के लिए तथा मानवीय क्षमताओं के विकास के लिए वे अधिक से अधिक प्रयत्नशील थे। परिणामतः इस युग में एक ओर तो नये-नये उत्पादन यंत्रों का विकास हुआ, दूसरी ओर पारिवारिक जीवन से सम्बद्ध अन्य आवश्यक साधनों का भी। व्यापार तथा शिल्प के विकास के साथ इस युग में नये नगरों की स्थापना हुई जो आगे चलकर आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के महत्वपूर्ण केन्द्र बने।

फिर भी इस युग मे सामंत तथा कृषक वर्ग के बीच विरोध की स्थिति अपेक्षाकृत अधिक तीव्र थी। एक ओर सामंत निर्ममता पूर्वक किसानों का शोषण करते थे दूसरी ओर विरोध की ज्वाला यत्र तत्र फूटकर कृषक वर्ग को नई सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रेरणा दे रही थी। १६ वी शताब्दी में जर्मनी का कृषक युद्ध, १[illegible] वी और १८ वी शताब्दी में भारतवर्ष का सिख जागरण और १९ वीं शताब्दी का चीन का तेपिंग-विद्रोह इसी की अनिवार्य परिणतियां थीं।[2]

अन्तत औद्योगिक विकास के साथ ही सामंती व्यवस्था के चरण लड़खड़ा उठे और बुर्जुआ वर्ग की क्रान्ति द्वारा मानवीय समाज के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा जिसे पूंजीवादी व्यवस्था की संज्ञा दी गई।

पूंजीवादी व्यवस्था

पूंजीवादी युग के उत्पादन संबंध मुख्यतः उत्पादनो के साधनों पर पूंजी-

---

1. Page–159, Fundamentals of marxism Leninsm.
   "The fundation of the production relations of the system Les in the fedual lord's ownership of the means of production, primarily of the land."
2. पृष्ठ १६० – Fundamentals of Marxism – Leninsm.

पतियों के वैयक्तिक आधार पर आधारित हुए।[१] प्रारम्भ में समता, स्वातन्त्र्य और भाई-चारे की घोषणा करने के बावजूद समाज का बुर्जुआ वर्ग, मजदूरों श्रमजीवियों के वर्ग का, जो वैयक्तिक परतन्त्रता से मुक्त होते हुए भी अपनी श्रमशक्ति के विक्रय के लिए विवश थे, शोषण करता हुआ आगे बढ़ा।

विज्ञान की नूतन प्रगति के साथ इस युग में वाष्प तथा विद्युत शक्तियों का आविष्कार हुआ और उत्पादन शक्ति के रूप में सशक्त यांत्रिक उपकरण सामने आये। श्रम शक्तियों के विभाजन के साथ विशेषीकरण की प्रवृत्ति विकसित हुई लेकिन सशक्त यांत्रिक उपकरणों की तुलना में मनुष्य की वैयक्तिक क्षमतायें पीछे पड़ती गईं। व्यापार के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर नये संबधों की स्थापना हुई—सभ्यता और संस्कृति के नये नये अध्याय जुड़े लेकिन इसके साथ ही उपनिवेशों की भी स्थापना हुई, पूंजीवादी शक्तियां साम्राज्यवादी शक्तियों के रूप में एक नया रूप धारण कर सामने आयीं।

सामाजिक जीवन के धरातल पर वर्गीय विरोध का चित्र भी सबसे अधिक उभर कर सामने आया। एक ओर मजदूरों और श्रमजीवियों के हितों की उपेक्षा करता हुआ पूंजीपति वर्ग शोषण के नये माध्यम को विकसित करने में संलग्न हुआ, दूसरी ओर आर्थिक अभावों से ग्रस्त, क्षुब्ध तथा अमानवीय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश श्रम जीवी वर्ग शोषकों के प्रति तीव्र घृणा, विद्वेष तथा प्रतिहिंसा से युक्त होता गया।

वैचारिक धरातल पर यह विरोध अधिक तीव्र होकर सामने आया। एक ओर राजकीय संस्थानों के माध्यम से, तथा कथित सामाजिक संगठनों के माध्यम से, प्रेस और प्रचार के माध्यम से पूंजीपति वर्ग उद्देश्य की सिद्धि तथा अपनी स्थिति के संरक्षण के लिए प्रयत्नशील हुआ, दूसरी ओर सीमित साधनों के आधार पर, सहयोग तथा संगठन के द्वारा किसान तथा मजदूर वर्ग भी क्रान्ति की दिशा में अग्रसर हुआ। राजनीतिक शक्ति के रूप में इसकी अनिवार्य परिणतियाँ कई देशों में प्रत्यक्ष हो चुकी है, और सिद्धान्त के रूप में ही नहीं व्यावहारिक धरातल पर भी प्रमाणित हो गया है कि पूंजीवादी व्यवस्था भी अस्थायी है।

---

१. ,, १६२ Fundamentals of Marxism-Leninism.
"The production relations of capitalism are based on the private ownership by capitalists of the means of production."

अब हम बड़ी ही स्पष्टता के साथ उस क्षण की कल्पना कर सकते
जबकि अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्ग
अवसान हो नहीं समता का सूर्योदय भी होगा — वह युग है साम्यवादी यु
समाजवादी व्यवस्था जिसका प्रथम चरण है।

समाजवादी व्यवस्था

समाजवादी व्यवस्था उत्पादन के साधनों पर सामाजिक शक्तियों
अधिकार पर आधारित है। अतः इस व्यवस्था के आर्थिक तथा सामा
संबंध भी उत्पादन शक्तियों के चरित्र से अपेक्षित रखते हुये विकसित होने व
संबंध है।[1] सामाजिक उत्पादन के संबंधों पर सामाजिक अधिकार ही समा
वादी युग के उत्पादन संबंधों का भी निर्णायक है।

यह नई व्यवस्था मनुष्यता के लिये, जैसी कि मार्क्सवादी विचारकों
धारणा है, अपरिमित सम्भावनायें लेकर प्रस्तुत होने जा रही है जिसमें के
उत्पादन शक्तियों का ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों का
पर्याप्त विकास सन्निहित है।[2]

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार समाज के विकास की यह संक्षि
रूपरेखा है। इसे दृष्टिगत रखते हुये बड़ी ही स्पष्टता के साथ हम कह स
है कि मानवीय समाज का विकास जिन विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजर
आधुनिक अवस्था को प्राप्त हो सका है, उनमें उत्पादन शक्तियों के सा
उत्पादन संबंधों के सामंजस्य तथा विरोध की स्थिति प्रमुख रही है।

अतः सामाजिक जीवन का यह विकास सामान्य रूप से क्रमिक त
संघर्ष रहित न होकर अनेक ऐसे संघर्षों तथा विप्लवों से होकर गुजरा
जिन्होंने सामाजिक जीवन तथा उसके स्वरूप को पुरातन संबंधों से मुक्त कर
हुये नये धरातल पर स्थापित किया है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसा

---

1. पृष्ठ १६४—Fundamentals of Marxism—Leninsm

"They correspond to the character of the productiv forces, the social character of production being based o social ownership of the means of production."

2. Page—164, Fundamentals of Marxism—Leninsm

"The new system opens up for humanity unlimite opportunities of progress not only in the development o the productive forces but in all other spheres of the life o society."

अब तक के सामाजिक जीवन के विकास में वर्ग संघर्ष की भूमिका ही प्रमुख रही है।

वस्तुतः समाज का वह स्वरूप जो शोषण पर आधारित हो, वर्ग विरोध तथा वर्ग संघर्ष की भूमिका से स्वयं को मुक्त नहीं रख सकता। समाज का एक वर्ग जब दूसरे के मूल्य पर स्वयं को विकसित करता है, वर्ग विरोध स्वाभाविक है, मार्क्सवादियों ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है—

"Classes are antagonistic when the places they occupy in the system of social production are such that one class obtains and augments its share of social wealth only at the expense of others Thus the relations between exploiter and expploited are inevitably antagonistic "[1]

मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार ऐसे समाज में वर्ग विरोध की भूमिका जितनी ही प्रखर रहती है, जितनी तीव्रता के साथ शोषित वर्ग शोषकों के विरुद्ध संघर्षरत होता है, सामाजिक जीवन में उतनी ही तीव्रता के साथ प्रगति भी आती है—

"The more persistent the struggle of the oppressed classes against their exploiters, the more successful their resistence to their oppressors, the more rapid as a rule is the progress made in all sphers of life."[2]

सामाजिक जीवन के विकास में, इस वर्ग संघर्ष की भूमिका उन क्षणों में सर्वाधिक सक्रिय तथा स्पष्ट होकर सामने आती है जबकि एक सामाजिक आर्थिक स्वरूप (Socio-Economic formation) का स्थान दूसरा सामाजिक आर्थिक स्वरूप लेने जा रहा हो।[3] उन क्षणों में वर्ग संघर्ष एक सशक्त तथा व्यापक क्रान्ति के रूप में फूट पड़ता है, जिसकी परिणति अन्ततः सामाजिक जीवन के इतिहास को नये अध्याय से युक्त करने में

१. पृष्ठ ६६ – मारिस कार्नफोर्थ—Historical Materialism

२. „ १९८– Fundamentals of Marxism—Leninsm

3. Page-198, Fundamentals of Marxism—Leninism

"The part played by the class struggle as the driving force in the development of an exploiting society is particularly evident in a period when one socio-economic formation is being replaced by another, i.e. in a period of social revolutions."

अध्याय २

मार्क्सवादी विचारों का साहित्य में प्रतिफलन

(मार्क्सवादी कला चिंतन)

विषय प्रवेश

पिछले अध्याय मे हमने मार्क्सवाद के दार्शनिक स्वरूप पर विचार किया है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो की इसी पीठिका पर मार्क्सवादी विचारकों का कला-चिन्तन भी स्थित है। सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा के दोनो ही पक्षों का विश्लेषण इन विचारको ने मार्क्सवादी दर्शन की पृष्ठभूमि मे ही किया है।

हिन्दी की अपेक्षा पश्चिमी देशों मे मार्क्सवादी कला चिन्तन की भूमिका तथा परम्परा अधिक व्यापक तथा प्रौढ़ रही है। मार्क्स और उनके समकालीन येंगेल्स तथा अन्य सामाजिक विचारको से प्रारंभ होकर उसका क्रम आज तक बना हुआ है। मार्क्सवादी कला-चिन्तन की इसी पश्चिमी परम्परा ने विश्व के अन्य देशो के साहित्य चिन्तको को अपनी ओर आकृष्ट किया है। हिन्दी का मार्क्सवादी साहित्य-चिंतन भी इसी परम्परा का एक अंग है जिसका विस्तृत विवरण तथा विश्लेषण आगे के अध्यायो मे हमारा प्रतिपाद्य रहा है। प्रस्तुत अध्याय मे हमारा उद्देश्य पश्चिमी देशो मे होने वाले मार्क्सवादी कला-चिन्तन का एक सामान्य परिचय देते हुये हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा से उस का संबंध प्रदर्शित करना है।

पश्चिमी देशो मे मार्क्सवादी तथा समाजवादी आदर्शों पर आधारित कला-चिन्तन तथा उसकी साहित्यिक पीठिका पर जब हम एक सामान्य दृष्टिपात करते है तो पाश्चात्य चिन्तन की कई कोटियाँ हमारे समक्ष प्रस्तुत होती हैं—

(क) प्रथम श्रेणी उन समीक्षको तथा विचारको की है जिन्होंने मार्क्स से पूर्व, अथवा उनके समय मे विभिन्न वैचारिक स्रोतो से प्रेरणा लेकर भी साहित्य के सामाजिक तथा यथार्थवादी पक्ष पर विशेष बल दिया है। ऐसे विचारको मे समाज-शास्त्रीय आदर्शों से प्रभावित सेन्ट ब्युवे तथा टेन,

आदर्शवादी विचारों से प्रभावित टाल्सटाय तथा बेलिन्स्की और भौतिकवादी विचार धारा से प्रभावित चर्निशेवस्की आदि परिगणित हैं।

(ख) दूसरी श्रेणी मार्क्स और एंजिल्स तथा उनके आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने वाले उन साहित्येतर विचारकों की है जिन्होंने साहित्य की भूमिका पर कार्य न करते हुए भी दर्शन, राजनीति तथा अन्य भूमियों से साहित्य अथवा कला पर मार्क्सवादी दृष्टि से प्रकाश डाला है। इन विचारकों में लेनिन, माओत्से-तुंग तथा सुश्चेव प्रमुख हैं। इस प्रकार के विचारकों के मतव्य इस कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं कि वस्तुत इन्हीं को स्रोत के रूप में ग्रहण कर आगे का मार्क्सवादी कला-चिन्तन स्पष्ट किया गया है। ये विचारक मार्क्सवाद के प्रामाणिक दार्शनिक व्याख्याता हैं और प्रसग रूप से साहित्य अथवा कला पर विचार करते हुये भी इन्होंने जो निष्कर्ष दिये हैं बाद के विचारक वहीं से अपना प्रस्थान-बिन्दु निर्मित कर मार्क्सवादी कला-चिन्तन को समृद्ध करने के लिये आगे बढ़े हैं।

(ग) तीसरी कोटि में वे विचारक हैं जिन्होंने उपर्युक्त स्रोतों से प्रेरणा लेकर मुख्यत साहित्य की भूमि से मार्क्सवादी कला-चिन्तन को स्पष्ट किया है। इनमें प्लेखनोव, काडवेल, रेल्फफाक्स, हावर्डफास्ट, गोर्की तथा इलिया एहरेन बुर्ग आदि हैं।

प्रथम कोटि

मार्क्सवाद से इतर प्रगतिशील विचारक—

सेन्ट बेव तथा टेन

पाश्चात्य आलोचना के क्षेत्र में, यथार्थवादी प्रवृत्तियों के विकास के सन्दर्भ में फ्रांस के प्रसिद्ध आलोचक सेन्ट बेव (१८०४-१८६९) तथा टेन (१८२८-१८९३) का नाम उल्लेखनीय है। अपने युग की वैज्ञानिक विचार-धाराओं से प्रभावित सेन्ट बेव की उद्भावनाओं, एक प्रकार की जीव-शास्त्री दृष्टि की परिचायक हैं, जो कृति के सम्यक् मूल्यांकन की दिशा में प्रयाण करने के पूर्व कृतिकार की जीवनी का अध्ययन आवश्यक मानती हैं। तात्कालीन फ्रेंच साहित्य के अन्तर्गत व्याप्त इस सकीर्ण मतवाद का विरोध करते हुये कि केवल प्राचीन और अनुशासित या आदर्श-रूप स्वीकृत रचनायें ही 'क्लासिक' होने की क्षमता रखती हैं, उसने स्पष्ट कहा कि एक क्लासिक रचना का सृष्टा वह होता है 'जिसने मानव मन को समृद्ध किया हो, उसके ज्ञान-भंडार की अभिवृद्धि की हो और उसे एक कदम आगे बढ़ाया हो।—जिसने अपनी विशिष्ट शैली में सबको सम्बोधित किया हो—एक ऐसी शैली में जो

सम्पूर्ण विश्व की शैली प्रतीत होती हो—जो किसी एक युग की भी शैली हो और युग-युग की भी।"[1] सेन्ट बेव का यह कथन उस युग की नितान्त असामाजिक विचार-धारा में एक प्रगतिशील चेतना को स्वर देता है, साथ ही साहित्य के मूल्यांकन की दिशा में एक सामान्य यथार्थपरक दृष्टिकोण की ओर दिशा-निर्देशन भी करता है। किन्तु सेन्ट बेव की यह जीव-शास्त्रीय पद्धति साहित्य-समीक्षा की किसी निश्चित एवं प्रौढ़ भूमिका का आभास न दे सकी। उसी के समकालीन साहित्य-जगत् में टेन का प्रादुर्भाव हुआ जिसने समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर कला तथा साहित्य चिन्तन के प्रतिमानों को विकसित किया।

साहित्यालोचन के क्षेत्र में टेन का महत्वपूर्ण प्रदेय साहित्य को सामाजिक शक्तियों से उत्पन्न मानने की विचार-धारा में निहित है। उसकी दृष्टि में, साहित्यकार अपने युग का, जिसमें वह निवास करता है, अपने समाज का जिसमें उसका जन्म होता है तथा अपने चतुर्दिक व्याप्त परिस्थितियों का जो एक निश्चित समय और स्थान से सम्बद्ध हैं प्राणी होता है।[2] अपने इसी आदर्श को दृष्टिगत रखते हुये उसने जाति, परिवृत्ति तथा युग को साहित्य की प्रधान प्रेरणा शक्ति के रूप में मान्यता दी है।[3] उसके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति किसी एक विशेष समूह या जाति का अंग होता है, उस जाति की विचारधारा, रहन-सहन, सभ्यता-संस्कृति आदि का उस पर अमिट प्रभाव पड़ता है। साहित्य-सृजन की प्रेरणा का दूसरा स्रोत उसके मन में, साहित्यकार के चतुर्दिक फैली हुई परिस्थितियाँ होती हैं। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी प्रकार की परिस्थितियों का अन्तर्भाव है। इस सबंध में उसने बड़ी स्पष्टता से स्वीकार किया है, 'कलाकृति परिस्थितियों की देन' है अन्य किसी वस्तु की नहीं।[4] इसी प्रकार उसकी दृष्टि में जीवन के साथ चलने वाली युग चेतना भी निरन्तर विकासशील है

प्रथा

दृष्टिकोण के ये तीन मूलभूत विचार-सूत्र हैं ।[1] उन्होंने प्रथमतः यह निर्णय दिया कि 'कला सत्य का सहज तात्कालिक अवग्रहन या छवियों में सोचने की प्रक्रिया है ।'[2] वास्तविकता के सम्बन्ध में अपना मत स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा—'वास्तविकता, आधुनिक जगत का चरम सूत्र और नारा है । तथ्यों में, शब्दों में, विश्वासों में, मानसिक निश्चयों में, वास्तविकता—हर चीज और हर जगह वास्तविकता ही हमारे युग का पहला और अन्तिम स्वर है ।'[3] बेलिन्स्की ने वास्तविकता को ही श्रेष्ठ कला का मानदण्ड माना है—वास्तविकता का सुन्दर प्रतिबिम्ब ही कला के महत्व का अभिव्यंजक है । कलाकार की अप्रतिम शक्ति का दृष्टान्त देते हुये उसने स्पष्ट कहा है—'विषय को उसकी समूची यथार्थता के साथ पकड़ना और उसमें जीवन की सांस फूंकना—इसी में उसकी शक्ति, विजय, सन्तोष और गर्व निहित है । किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि कला का उद्देश्य क्या है ? किस लक्ष्य को वह सिद्ध करती है ? बेलिन्स्की के अनुसार 'कला का उद्देश्य है चित्रित करना, शब्दों ध्वनियों, रेखाओं और रंगों में प्रकृति के सार्वभौम जीवन को मूर्त करना । यही कला की एक मात्र और चिरन्तन विषय वस्तु है ।[4] इस मूर्तकरण के हेतु उसने कलाकार के लिये भौतिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों का अध्ययन आवश्यक माना है । इसी आधार पर उसने शेक्सपियर को बायरन और शिलर की अपेक्षा अधिक महत्ता प्रदान की है । शेक्सपियर ने उसकी दृष्टि में, 'समूचे दोजख, समूची धरती और समूचे स्वर्गलोक को छाना है । प्रकृति के इस बादशाह ने नेकी और बदी दोनों से चौथ वसूल की और अपनी अनुप्राणित अन्तर्दृष्टि से विश्व की धड़कती हुई नब्ज को पहचाना ।'[5] कविता क्या है ? कवित्व किसे कहते हैं ? इसका उत्तर देते हुए बेलिन्स्की ने कहा—'कविता सम्भावना के रूप में वास्तविकता

---

१. पृष्ठ १२६—श्री शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त । *(V. G. Belinsky)*
२. पृष्ठ १८०, *V. G. Belinsky.* Selected philosphical works.
"Art is the immediate contemplation of truth, or a thinking in images"
३. पृष्ठ १२६—श्री शिवदानसिंह चौहान : आलोचना के सिद्धान्त ।
४. पृष्ठ १६—दर्शन साहित्य और आलोचना ।
५. „ १६— —वही—

का रचनात्मक रूपांकन होती है। इसलिये जिस वस्तु का वास्तविकता में अस्तित्व नहीं हो सकता, वह कविता में भी असत्य होगी।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आलोचना के क्षेत्र में यथार्थ चित्रण के प्रति इतना आकर्षण बेलिन्स्की के पूर्व नहीं परिलक्षित होता। उसने सर्व प्रथम यह घोषणा की थी कि 'यथार्थ धरती से उद्भूत होता है और प्रत्येक यथार्थ की धरती समाज है।'[1] रूसी जनता द्वारा दास-प्रथा तथा निरंकुशता के विरुद्ध मुक्ति संघर्ष में बेलिन्स्की की कृतियाँ प्रेरणा का स्रोत बन कर आई थी। उसके समकालीन हर्जन ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि बेलिन्स्की की लेखनी द्वारा सामन्ती प्रथा से उत्पीड़ित सहस्रों मूक किसानों की चेतना ने अभिव्यक्ति पाई है। आलोचना के क्षेत्र में भी बेलिन्स्की ने गोगल की सामंतवादी विचार धारा की कटु आलोचना की थी। श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव के शब्दों में 'गोगल के नाम लिखा हुआ उसका पत्र केवल उसकी सूक्ष्म अन्वीक्षण शक्ति का ही परिचय नहीं देता, अपितु उसके हृदय में लोक-कल्याण की जो अजस्र धारा प्रवाहित हो रही थी उसको भी स्पष्ट कर देता है। ३ जुलाई ४७ को लिखा हुआ यह पत्र आने वाली पीढ़ी के लिये क्रान्ति का जलतामशाल बन गया।'[2]

चर्निशेवस्की

बेलिन्स्की की साहित्य और कला संबंधी यथार्थवादी विचार-धारा को विकसित करने में रूस के दूसरे प्रगतिशील चिन्तक चर्निशेवस्की का नाम उल्लेखनीय है। चर्निशेवस्की ने कला को रूसी जनता के स्वातंत्र्य-संग्राम का एक महत्वपूर्ण शस्त्र सिद्ध करने का प्रशंसनीय कार्य किया है।

उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'Aesthetic Relation of Art to Reality' (1853) में हीगेल के आदर्शवादी सौन्दर्य-सिद्धान्तों का खण्डन करते हुये, रूस के उदारवादी और सामंतवादी चिन्तकों की निन्दा की है। शुद्ध-कला का आदर्श जनता को भावनाओं को सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों से विमुख कर ऐसे लोक की ओर ले जाने को उत्सुक है जहाँ वास्तविकता के सारे सूत्र समाप्त हो जाते हैं। उसके अनुसार वास्तविकता से विरत होकर कल्पना की मुक्त उड़ान केवल वैज्ञानिक धरातल पर ही अनुपयुक्त नहीं है

---

१. „ १४१—रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : प्रगतिशील आलोचना।

२. —वही—।

अपितु कला के क्षेत्र मे भी वह हानिकर है ।[1] अत. उसने प्राचीन आदर्शवादी कला-दृष्टि का निषेध करते हुये एक ऐसे भौतिकवादी तथा वैज्ञानिक कला दर्शन का निर्माण करना चाहा जो क्रान्तिकारी समाजवाद का पथ प्रशस्त कर सके ।

आदर्शवादी चिन्तको ने प्रकृति अथवा वास्तविक जीवन मे सौन्दर्य का अभाव सिद्ध करते हुये उसकी उत्पत्ति कल्पना द्वारा ही सभव मानी थी। उनके अनुसार वस्तुजगत मे सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति के लिये ही मानवीय इच्छा मे कला की निष्पत्ति होती है । चर्निशेवस्की ने इसका खण्डन करते हुये जीवन को ही सौन्दर्य का पर्याय घोषित किया । अपनी सौन्दर्य-संबधी स्थापना देते हुये उसने कहा—"Beautiful is that being in which we see life as it should be according to our conceptions; beautiful is the object which express life or reminds us of life.[2]

'सुन्दर ही जीवन है'—इस कथन को स्पष्ट करते हुए चर्निशेवस्की ने स्वीकार किया कि "सच्चा सौन्दर्य वास्तविकता का सौन्दर्य है, और कला किसी भी ऐसी चीज की रचना नही कर सकती जो वास्तविक जगत के सौन्दर्य से होड़ ले सके ।[3] वास्तविकता की प्रतिष्ठा ही कला का उद्देश्य अथवा लक्ष्य मानते हुए उन्होने कहा—"उसका लक्ष्य यथाशक्ति वस्तुपूर्ण वास्तविकता की पुनर्रचना करना और व्याख्या द्वारा मानव को सौन्दर्योपभोग का अवसर प्रदान करना है ।" भाववादी विचारको ने सौन्दर्य को ही कला का वास्तविक आधार मानकर उसके क्षेत्र को सीमाबद्ध कर दिया था । चर्निशेवस्की ने कला के क्षेत्र को सौन्दर्य के क्षेत्र से अधिक व्यापक माना । उनके अनुसार, प्रकृति और जीवन भी कला के विषय है किन्तु जीवन का अर्थ केवल बाह्य जगत के वस्तुओं और जीवो से ही मानव सम्बन्ध नही, वरन् उसके आन्तरिक जीवन से भी सम्बद्ध है । कभी-कभी मानव स्वप्न मे भी विचरता है और तब उसके लिए स्वप्न का महत्व (किसी हद तक और किसी किसी समय तक) बाह्य वस्तु जैसा ही हो जाता है । इससे भी अधिक मानव बहुधा अनुभूति जगत मे विचरता है, इन कल्पनाओ को भी यदि वे रोचक है, कला चित्रित करती है ।"

---

१ पृष्ठ ३१, एन० जी० चर्निशेवस्की Selected Philosophical [illegible]

२ —वही— ।

३ पृष्ठ [illegible]—दर्शन [illegible] और [illegible] ।

कला को वास्तविकता का भाव-छवि मानते हुये चर्निशेवस्की ने कभी यह स्वीकार नहीं किया कि यह वस्तु जगत की अनुकृति मात्र है। उसकी दृष्टि में कला-सृजन की प्रक्रिया के हेतु विस्तृत कल्पना तथा वस्तु जगत में प्रवेश करने की अद्भुत क्षमता का होना आवश्यक है। इस प्रकार चर्निशेवस्की कला के ऐसे उच्चादर्शों का संस्थापक था जो उसके अनुसार लेखक की सामाजिक जीवन में आगे रहने तथा वास्तविकता को भली-भाँति समझने एवं समझाने की क्षमता पर आश्रित है। ज्यदनोव ने उसकी कला को युद्ध में प्रवृत्त कला (Militant Art) की संज्ञा दी है जो जनता के उच्चादर्शों के हेतु संग्राम कर रही है। उसके अनुसार, 'चर्निशेवस्की अन्य Utopian socialist की अपेक्षा वैज्ञानिक समाजवाद के सर्वाधिक निकट था और उसके कार्य, जैसा कि लेनिन ने कहा है—'वर्ग संघर्ष' की भावना को सिक्त कर सकते हैं। वह हमें जीवन को समझने में पूरी मदद करता है साथ ही लोगों को सामाजिक वातावरण को उचित ढंग से प्रस्तुत करने की ओर दिशा-निर्देश करता है।

दूसरी कोटि—

मार्क्स, एँजेल्स तथा मार्क्सवाद के दार्शनिक व्याख्याता—

मार्क्स और एंजेल्स—

कला या साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में, जैसा कि मैं इसके पूर्व कह चुका हूँ, मार्क्स के निष्कर्षों का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। मार्क्स मूलतः समाज-द्रष्टा थे और उनके समाज-दर्शन के अन्तर्गत ही कई ऐसे महत्व-पूर्ण सूत्र उपलब्ध हैं जिन्हें कला तथा साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में भी सफलतापूर्वक लागू किया जा सकता है। उदाहरण के लिये हम 'क्रिटिक आफ पालिटिकल इकानामी' की भूमिका के निम्नलिखित अंशों को लें —

(क) "सामाजिक जीवन की उत्पादन-प्रक्रिया में मनुष्य ऐसे सुनिश्चित सम्बन्धों की स्थापना करते हैं जो अनिवार्य—हैं। इन सम्बन्धों का योग ही समाज के आर्थिक ढाँचे का निर्माण करता है—वह वास्तविक आधार जिस पर विधि तथा राजनीति का उत्थान (Legal and political super-stucture) निर्मित होता है, और सामाजिक चेतना के सुनिश्चित रूप जिससे सामंजस्य स्थापित करते हैं। भौतिक जीवन की उत्पादन प्रणाली ही सामान्यतः सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती

बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना का निर्धारण करता है।[1]

(ख) "आर्थिक धरातल में परिवर्तन आते ही व्यापक उत्पादन भी किसी न किसी रूप में परिवर्तित होता है। ऐसे परिवर्तनों पर विचार करते समय हमें हमेशा उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों—जिन्हें पदार्थ-विज्ञान की भाँति सही-सही आँका जा सकता है और कानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपों के बीच जिनमें मनुष्य इस संघर्ष के प्रति सचेत होता है, अवश्य भेद करना चाहिए।"[2]

इन उद्धरणों के अन्तर्गत दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूप से कही गई हैं—

(१) पहली बात यह है कि मनुष्य की भाव-सृष्टियाँ अथवा उसकी विचार-धारा के विभिन्न रूप—जिसके अन्तर्गत कला तथा साहित्य की भी व्याप्ति है, समाज के भौतिक धरातल से ही निःसृत तथा नियत हैं।

(२) दूसरी बात यह है कि सामाजिक जीवन के विकास में विशेषतया समाज के अन्तर्गत क्रान्तिमूलक चेतना को विकसित करने में विचार-धारा के विभिन्न रूपों का भी महत्वपूर्ण योग है।

ये सूत्र ही, सच पूछा जाए तो समस्त मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी समीक्षा के केन्द्र बिन्दु हैं। इनके माध्यम से, मार्क्सवादी विचारक, एक ओर तो यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि कवि की चेतना, उसकी भावना, अनुभूति तथा कल्पना उसके सामाजिक परिवेश से प्रतिपल प्रवाहित होती है वहीं दूसरी ओर वह यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न करता है कि कलाकृतियों का उद्देश्य केवल स्वान्तः सुख अथवा अलौकिक आनन्दानुभूति ही नहीं बल्कि सामाजिक जीवन की संघर्ष-रत शक्तियों को नये सिरे से अनुप्रेरित तथा प्रभावित भी करना है।

मार्क्स की इस प्रथम मान्यता को सामाजिक जीवन के विकास में आर्थिक स्थितियों का ही महत्वपूर्ण योग है तथा विचार-धारा के विभिन्न रूप

---

१. पृष्ठ १, मार्क्स-ऐंजिल्स : Literature and Art

२. पृष्ठ १, वही—
"In considering such transfarmation a distinction should always be made between the material transformation of the economic conditions of production which can be determined with the precision of natural science and the legal, political, religious, aesthetic, or philosophic—in short, ideological-forms in which men become conscious other conflict and fight it out."

रूपों से प्रभावित होते हैं विश्लेषित करते हुए ऐंगेल्स ने कहा है—"राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक विकास आर्थिक विकास पर आधारित है । किन्तु ये एक दूसरे को भी प्रभावित करते हैं और अन्ततः आर्थिक धरातल भी इनसे प्रभावित होता है । ऐसी बात नहीं है कि आर्थिक स्थिति ही कारण हो, अथवा एकमात्र वही सक्रिय हो जबकि प्रत्येक दूसरी वस्तुयें निष्क्रिय रूप से केवल प्रभाव ग्रहण करती हों । इसके विपरीत आर्थिक आवश्यकता के आधार पर उनके बीच अन्तर-सम्बन्ध की स्थिति रहती है ।[1]" ——अतः मार्क्स के उक्त निष्कर्ष का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि समाज का भौतिक तथा आर्थिक जीवन उसके कला तथा साहित्य को सीधे प्रभावित करता है । इस प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रारम्भ में मार्क्सवादी विचारकों के अन्तर्गत विकसित हुई थी । प्लेखानोव के कला-विषयक निष्कर्षों में इस भ्रान्ति को हम देख सकेंगे । इन्हें लक्ष्य करते हुए ही रैल्फ फाक्स ने कहा है—"मार्क्स का निस्सन्देह यह विश्वास था कि जीवन का यह भौतिक विधान अन्ततः बौद्धिक विधान को निर्धारित करता है किन्तु यह एक क्षण के लिये भी कभी उन्होंने नहीं सोचा कि इन दोनों के बीच का संबंध सीधा है, सहज ही दिखने और यथावत् विकसित होने वाला है । यदि कोई उनके सामने यह विचार रखता कि चूंकि पूंजीवाद सामन्तवाद की जगह लेता है इसलिये एक पूंजीवादी कला तुरन्त सामन्तवादी कला की जगह आ जाती है ।—तो वे इसे हवा पर उड़ा देते ।"[2] रैल्फ फाक्स का यह विवेचन स्पष्टतः मार्क्स के उस सुप्रसिद्ध कथन की ओर इंगित करता है— 'यह सर्व विदित है कि कलाकृतियों के उच्चतम विकास के कुछ युग समाज के सामान्य विकास से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं रखते ।[3] 'इस संबंध में विभिन्न रूपों के निजी चरित्र की ओर भी संकेत करते हुये उन्होंने कहा है —'कला के कतिपय रूप, उदाहरण के लिये 'एपास' आदि, कला के आविर्भाव काल में ही नहीं विकसित किये जा सकते । कला के क्षेत्र में कतिपय महत्वपूर्ण रूपों की उद्भावना उसके विकास के निम्न धरातल पर ही संभव है —

In the domian of art certain important forms of

---

१. पृष्ठ ८, मार्क्स-ऐंजिल्स :

२. ,, ६१, रैल्फ फाक्स :

३. ,, १६, मार्क्स-ऐंजिल्स Literature and Art—

"It is well known that certain periods of highest development of art stand in no direct connection with the general development of society, nor with the material basis and the skeleton structure of its organisation.

it are possible only at a low stage of its development.[१]

यह देखकर तो हमें और भी आश्चर्य होता है कि आज भी वे हमारे आगामी सौन्दर्य-मूलक आनन्द की उद्भावना करने में कहाँ समर्थ हैं ? श्री चौहान ने मार्क्स की इन्हीं पंक्तियों को उद्धृत करते हुये 'साहित्य की परख' शीर्षक निबन्ध में कहा है कि मार्क्स का यही उद्देश्य कला के सामाजिक गुणों की खोज नहीं बल्कि उसकी सौन्दर्यमूलक क्षमता की ओर भी संकेत करता है। मार्क्स ने इस अभिप्राय से यह वक्तव्य प्रस्तुत किया हो या नहीं यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है, लेकिन इतना अवश्य विदित होता है कि वे कला को मात्र सामाजिक जीवन के वास्तविक गुणों से ही मानते थे बल्कि उसके स्वतंत्र और निजी चरित्र से भी अवगत थे। सन् १८५० में फर्डिनेण्डलेसाल को लिखे गये एक पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा भी था — "चूँकि तुमने छन्दों में लिखना शुरू किया है अतः तुम्हें अपनी रचना को अधिक कलात्मक कर देना चाहिए। — — पेशेवर कवियों के लिये इस प्रकार की असावधानी तो और भी दुस्तर हो जाती है।[२] 'उसी पत्र में उन्होंने यह भी कहा है — 'तुम्हें शेक्सपियर का अनुकरण करना चाहिये शिलर का नहीं। शिलर ने अपने पात्रों को सामयिक चेतना का प्रवक्ता मात्र बना दिया है।'"[३] मार्क्स से सहमति व्यक्त करते हुये अथवा उन्हीं के आदर्शों को विश्लेषित करते हुये एँजेल्स ने भी सदृश मत व्यक्त किया है। मार्गरेट हार्कनेस को लिखे गये पत्र में भी उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ कहा है — "मैं इसके लिये तुम्हें दोषी नहीं सिद्ध कर रहा हूँ कि तुमने लेखक के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों को प्रकाशित करने के लिये समाजवादी उपन्यास की रचना नहीं की है, जिसे हम जर्मन लोग 'टेन्डेंज रोमन' कहा करते हैं। यह मेरा अभिप्राय नहीं है। लेखक के विचार जितने ही परोक्ष रहें कलाकृति के लिये उतना ही अच्छा है। काव्य अथवा कला में जिस यथार्थवाद का मैं प्रतिपादन कर रहा हूँ वह लेखक के विचारों के अभाव में भी मूर्त हो सकता है।[४]"

यथार्थवाद संबंधी एँजेल्स की धारणा उनके इस कथन को प्रमाणित करती है यथार्थवाद उनके मत से, "विशिष्ट परिस्थितियों के अन्तर्गत विशिष्ट चरित्रों

---

१. मार्क्स-एंजिल्स
२. पृष्ठ ४०, मार्क्स-ऐंजिल्स :
३. „ ४२, –वही–
४. „ ३७, –वही–

का वास्तविक चित्रण है (Realism, to my mind, implies, besides truth of detail, the truthful reproduction of typical characters under typical circumstances)[1] बाल्जाक की सुप्रसिद्ध कृति Comedy Humune को इस विशेषता को लक्षित करते हुए उन्होंने कहा है—"वह फ्रांसीसी समाज का अद्भुत रीति से प्रस्तुत वास्तविक इतिहास है।" विशिष्ट प्रसंगों का नियोजन करते हुए बाल्जाक ने जिस कुशलता से उसके चारों ओर तत्कालीन समाज का ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत किया है, उसके संबंध में तो उनका यहाँ तक कथन है कि आर्थिक समस्याओं के संबन्ध में भी उन्होंने बाल्जाक से जितना अधिक सीखा है उतना अपने युग के समस्त पेशेवर अर्थशास्त्रियों से भी नहीं। इसीलिए उन्होंने बालजाक को भूत भविष्य और वर्तमान के समस्त ज्ञोलाओं की तुलना में यथार्थवाद का अधिक श्रेष्ठ लेखक माना है।[२] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि यथार्थवादी कला कृतियों में ऐंजेल्स लेखक के विचारों को महत्व नहीं देते। महत्व देते हैं लेकिन उनके सहज और स्वाभाविक नियोजन को। इसे ही हम कलाकृति में विचार धारा का कलात्मक नियोजन भी कह सकते हैं जिसे स्पष्ट करते हुए १८८५ में उन्होंने मीनाकात्स्की को लिखा था—"किसी भी कृति में विचारों का प्रकाशन स्पष्ट कथन के रूप में न होकर परिस्थितियों और क्रियाओं से स्वत स्फूर्त होना चाहिये।"[३]

मनुष्य की सर्जना-प्रक्रिया की विशिष्टता दर्शाते हुये इसी अर्थ में मार्क्स ने भी कहा है—"Man creates according to the laws of beauty।"[४] लेकिन मात्र सौन्दर्य सिद्धान्त ही मानवीय कलाकृतियों के लिए अपेक्षित नहीं है, वे अनिवार्य है, लेकिन उसके साथ ही मानवीय कलासृष्टि की कतिपय अन्य विशेषताएं भी हैं। मार्क्स ने पशु-पक्षियों से इसे भिन्न करते हुए कहा—"—वे सिर्फ अपनी या अपने बच्चों की तात्कालिक

---

१. पृष्ठ २६ —मार्क्स-ऐंजिल्स : Realism in Art.

२. „ ३७ — वही — „ „

३. „ ३९ — मार्क्स—Literature and Art—

"But I think that the bias should flow by itself from the situation and action, without particular indications... "

४. „ १३ — वही —

(Conscious production and creation according to the laws of beauty.)

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्माण करते हैं जबकि मनुष्य सार्वजनिक तथा व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए निर्माण करता है।—— उनके निर्माण का लक्ष्य शारीरिक आवश्यकतायें हैं———मनुष्य तभी निर्माण कर सकता है जब वह इन आवश्यकताओं से मुक्त हो———।"[१] वर्गीय समाज में हमारे निर्माण प्रक्रिया तथा निर्मित वस्तुओं का लक्ष्य क्या है मार्क्स ने इस तथ्य की ओर भी पर्याप्त संकेत कर दिया है। उनके अनुसार, भौतिक धरातल पर विकसित होनेवाली क्रान्ति का प्रथम आभास विचार-धारा के विभिन्न रूपों में ही उपलब्ध होता है। ऐंजेल्स के अनुसार, वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते, भौतिक धरातल को भी प्रभावित करते हैं। विचार-धारा के इन विभिन्न रूपों के अन्तर्गत ही काव्य की और कला की भी स्थिति है। अतः सौन्दर्य-सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली मनुष्य की निर्माण-प्रक्रिया अपने सामाजिक लक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकती। तभी वह मानवेतर प्राणियों द्वारा निर्मित कृतियों की तुलना में अपनी विशिष्टता भी प्रमाणित कर सकती है और वह विशिष्टता उसकी वैयक्तिकता नहीं, अपने तथा अपने से सम्बद्ध कुछ लोगों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, बल्कि मार्क्स के शब्दों में उनकी 'सार्वजनीनता' तथा 'व्यापकता' है। संक्षेप में यही मार्क्स तथा ऐंजेल्स के काव्य तथा कला-विषयक अभिमत हैं।

लेनिन

मार्क्सवादी आदर्शों को व्यावहारिक धरातल पर नियोजित करने का प्रथम श्रेय लेनिन को है। सोवियत समाज को मार्क्स तथा एंजिल्स के आदर्शों के अनुरूप ढालना ही उसका एकमात्र लक्ष्य था। कला साहित्य-विषयक उसकी मान्यतायें भी इसी लक्ष्य से सम्बद्ध हैं। अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध—'Party organisation and Party literature' में साहित्य को साम्यवादी दल तथा सर्वहारा के हित-साधन का एक आवश्यक अंग सिद्ध करते हुये उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—Literature must become a party literature. Literature must become a part of

१. पृष्ठ ११—मार्क्स—

"But they only produce for their own or their offspring's immediate needs; they produce one-sidedly, while man produces universally, they produce only under the domination of immediate physical ne[illegible] while man produces independently of physical need [illegible]d really produces only when free of these needs."

the proletariat cause as a whole—a part and parcel of a single whole."[1] यद्यपि वह इस तथ्य को स्वीकार करता था कि कला तथा साहित्य के क्षेत्र में मनुष्य के व्यक्तिगत विचार तथा कल्पना के लिये अवकाश अपेक्षित है, लेकिन इसके कारण वह साम्यवादी दल की कार्य-पद्धति के साथ साहित्य की पूर्ण तदाकारिता के आदर्श पर किसी प्रकार भी आँच नहीं आने देना चाहता था। क्रान्ति के बाद, सोवियत साहित्य में विकसित नूतन चेतना के संबंध में क्लेराजेटकिन (clarazetkin) से वार्तालाप के क्रम में उसने कहा था—'प्रत्येक कला का पुजारी तथा कलाविद् पूरी स्वतन्त्रता के साथ अपने हृदय की प्रेरणा के अनुसार, बिना किसी दबाव के अपनी कला का विकास कर सकता है। बात केवल इतनी ही है कि हम साम्यवादी जीवन के किसी क्षेत्र में अव्यवस्था को फैलते देखकर चुपचाप हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रह सकते।[2] 'परवर्ती मार्क्सवादी चिन्तन के अन्तर्गत 'दलीय साहित्य' अथवा 'Partisan literature' के निर्माण पर जो इतना अधिक आग्रह व्यक्त किया गया, उसके मूल में लेनिन की तद् विषयक मान्यताओं की ही स्थिति है।

कला तथा साहित्य विषयक लेनिन के प्रमुख आदर्श उनकी सामाजिक सोद्देश्यता के ही विशेष व्यंजक हैं। कला, उसके अनुसार, मानव समुदाय की समष्टि की वस्तु है। उसका प्रधान उद्देश्य है जनता के विचार, भाव और इच्छा शक्ति को संगठित कर उसके जीवन को उन्नत करना।[3] लेनिन ने इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुये कहा है—'सर्वसाधारण की केन्द्र भूमि से कला की जड़ पनपनी चाहिए।' 'सर्वसाधारण के हृदय में जो कलाकार है—उसे जाग्रत करना और उसका विकास करना, उसके मत में, 'कला का धर्म है।'[4]

व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से लेनिन द्वारा टाल्सटाय व तुर्गनेव की समीक्षा पर्याप्त महत्वपूर्ण है। उसके मत से टाल्सटाय की रचनाओं पर दो तरह के प्रभाव परिलक्षित होते हैं—एक ओर तो वह पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक संगठन की प्रतिष्ठाता से मुक्त नहीं है तो दूसरी ओर किसानों

---

१ पृष्ठ ४५—Lenin on Art and Literature.

२. देवराज उपाध्याय—लेनिन और साहित्य, हंस, सितम्बर, १९३८

३ —वही—

४ —वही—

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निर्माण करते हैं जबकि मनुष्य सार्वजनिक तथा व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए निर्माण करता है।—— उनके निर्माण का लक्ष्य शारीरिक आवश्यकतायें हैं———मनुष्य तभी निर्माण कर सकता है जब वह इन आवश्यकताओं से मुक्त हो———।"[1] वर्गीय समाज में हमारी निर्माण प्रक्रिया तथा निर्मित वस्तुओं का लक्ष्य क्या है मार्क्स ने इस तथ्य की ओर भी पर्याप्त संकेत कर दिया है। उनके अनुसार, भौतिक धरातल पर विकसित होनेवाली क्रान्ति का प्रथम आभास विचार-धारा के विभिन्न रूपों में ही उपलब्ध होता है। ऐंजेल्स के अनुसार, वे एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते, भौतिक धरातल को भी प्रभावित करते हैं। विचार-धारा के इन विभिन्न रूपों के अन्तर्गत ही काव्य की ओर कला की भी स्थिति है। अतः सौन्दर्य-सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली मनुष्य की निर्माण-प्रक्रिया अपने सामाजिक लक्ष्य की उपेक्षा नहीं कर सकती। तभी वह मानवेतर प्राणियों द्वारा निर्मित कृतियों की तुलना में अपनी विशिष्टता भी प्रमाणित कर सकती है और वह विशिष्टता उसकी वैयक्तिकता नहीं, अपने तथा अपने से सम्बद्ध कुछ लोगों की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, बल्कि मार्क्स के शब्दों में उनकी 'सार्वजनीनता' तथा 'व्यापकता' है। संक्षेप में यही मार्क्स तथा ऐंजेल्स के काव्य तथा कला-विषयक अभिमत हैं।

लेनिन

मार्क्सवादी आदर्शों को व्यावहारिक धरातल पर नियोजित करने का प्रथम श्रेय लेनिन को है। सोवियत समाज को मार्क्स तथा एंजिल्स के आदर्शों के अनुरूप ढालना ही उसका एकमात्र लक्ष्य था। कला साहित्य-विषयक उसकी मान्यतायें भी इसी लक्ष्य से सम्बद्ध हैं। अपने सुप्रसिद्ध निबन्ध—'Party organisation and Party literature' में साहित्य को साम्यवादी दल तथा सर्वहारा के हित-साधन का एक आवश्यक अंग सिद्ध करते हुये उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—Literature · ·
n party literature...Literature must bec

---

१. पृष्ठ १३—मार्क्स—

"But they only produce for their · ing's immediate needs ; they produce man produces universally; they proc domination of immediate physical produces independently of physical duces only whee free of these needs.

श्रमिक वर्ग (Working people) के हितों का संरक्षण है।" लेकिन प्रश्न यह है कि बहुसंख्यक श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत किसका समाहार है ? माओ ने इसके अन्तर्गत मजदूरों, किसानों, क्रान्ति में भाग लेनेवाले सशस्त्र मजदूरों—किसानों तथा निम्न बुर्जुआ वर्ग के उस श्रमिक समुदाय की स्थिति स्वीकार की है जो क्रान्ति में सहायक है। इस वर्ग के अन्तर्गत बुद्धिजीवी भी सम्मिलित हैं।[1]

माओ के अनुसार, उक्त चार प्रकार के व्यक्तियों का हित संरक्षण ही कला तथा साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए। लेकिन इसके साथ ही उनके हितों का संरक्षण करने में हमारा आधार बिन्दु (Stand point) बुर्जुवा वर्ग का न होकर सर्वहारा वर्ग का हो।

दूसरा प्रश्न यह है कि कला तथा साहित्य किस प्रकार अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं ? यह प्रश्न मूलतः कला तथा साहित्य की रचना-शैली से सम्बद्ध तो है ही बहुसंख्यक जन-समुदाय की कलात्मक चेतना के सम्यक् विकास का भी प्रश्न है। माओ ने इसका समाधान दो दृष्टियों से प्रस्तुत किया है—

पहली दृष्टि बहुसंख्यक श्रम जीवी वर्ग की कलात्मक रुचि तथा क्षमता के उन्नयन (Elevation) की है। दूसरी दृष्टि कला तथा साहित्य के व्यापक प्रसार अथवा उनकी लोकप्रियता (Popularisation) से सम्बद्ध है।[2] इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना है कि हम उन्हीं वस्तुओं का प्रसार करें जो उनके लिए आवश्यक हों तथा जो इनके द्वारा शीघ्र ही स्वीकृत हो सकें। जहाँ तक उनके उन्नयन का प्रश्न है इस क्रम में यह भी दृष्टिगत रखना चाहिए कि उनका उन्नयन उन्हीं के पथ पर हो। उन्नयन का अर्थ नहीं कि मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों को सामंत अथवा बूर्जुवा वर्गके धरातल पर हम विकसित करने का प्रयत्न करें। उन्नयन का अर्थ है उन्हें सर्वहारा वर्ग के मार्ग पर अग्रसर करते हुए उसी के उच्चतर धरातल की ओर उन्हें ले जाना। अतः इस क्रम में पहली आवश्यकता मजदूरों, किसानों तथा सैनिकों से सीखने की है, उनके जीवन क्रम तथा उनकी सामाजिक व्यवस्था को समझने की है। तभी हम सम्यक् रूप से उनका विकास कर सकते हैं।"[3]

---

१. पृ० १५—माओ त्से-तुंग Talks at the Yenan Forum on Art and Literarture.

२. पृ० २०-२१ वही। „ „

३. पृष्ठ २२—माओ त्से-तुंग : Talks of the Yenan forum and Literature.

यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि कला तथा साहित्य के उद्भव का स्रोत क्या है ? माओ के अनुसार, व्यापक जन-जीवन में ही यह स्रोत निहित है। उनके शब्दों में, "कला तथा साहित्य का कच्चा माल लोक-जीवन में ही विद्यमान है।"[1] यहाँ यह भी प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि प्राचीन युगों की अथवा दूसरे देशों की कला कृतियाँ क्या नूतन कला तथा साहित्य का स्रोत नहीं बन सकतीं। प्राचीन युगों की अथवा दूसरे देशों की कला-कृतियाँ वस्तुतः मूलभूत उद्गम न होकर प्रवाह हैं। अतः एक ओर जहाँ हमें उनका जो भी उपादेय अंश है ग्रहण करना चाहिए वहाँ दूसरी ओर हमें अपने समय के लोक-जीवन को भी नई कला तथा साहित्य के निर्माण के लिए व्यापक आधार बनाना चाहिये।[2] इसके लिए माओ की दृष्टि में यह दूसरा आधार ही महत्वपूर्ण है। इसके लिए उन्हें पूरी सहृदयता के साथ जन-जीवन के बीच प्रवेश करना चाहिए, पूरे उत्साह के साथ उनके संघर्ष में भाग लेना चाहिये। तभी वे कला तथा साहित्य के मूलभूत स्रोत को समझ सकते हैं, उसका अध्ययन तथा विश्लेषण कर सकते हैं। जो ऐसा नहीं करते उन्हें लुसुन ने बहुत पहले 'रिक्त मस्तिष्क के लेखक तथा कलाकार' की संज्ञा दी थी। लेकिन क्या जो कुछ व्यापक जन-जीवन में उपलब्ध है लोगों की कलात्मक रुचियाँ उसी से सन्तुष्ट हो सकती हैं ? यह ठीक है कि मनुष्य का सामाजिक जीवन ही कला तथा साहित्य का मूलस्रोत है। कला तथा साहित्य से वह अधिक समृद्ध भी है फिर भी लोग पहले से सन्तुष्ट न होकर दूसरे की माँग क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए माओ ने कहा है—"यद्यपि दोनों सुन्दर हैं फिर भी कलाकृति के माध्यम से जिस जीवन की अभिव्यक्ति होती है वह अधिक उन्नततर, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक चमत्कृत, अधिक विशिष्ट और इसीलिए सामान्य जन जीवन की तुलना में अधिक व्यापक होती है।[3] क्रान्तिकारी और साहित्य को इसीलिए वास्तविक जीवन के आधार पर विभिन्न पात्रों का निर्माण करते हुए बहुसंख्यक वर्ग के ऐतिहासिक विकास में योग देना चाहिए। इस विशिष्टता के कारण ही कला तथा साहित्य का लोक जीवन की तुलना में अधिक महत्व है।

---

१. पृष्ठ २२—माओ त्से-तुंग : Talks of the Yenan forum and Literature.

"In the life of the people itself lies a mine of raw material for Art and Literature......

२. २२-२३—वही।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कला तथा साहित्य में उन्नयन तथा प्रसार का अर्थ क्या है? दोनों में क्या संबंध है? लोकप्रिय कृतियाँ अधिक सरल और स्पष्ट होती हैं इसलिये सामान्य जन समुदाय द्वारा सहज स्वीकृत होती हैं, जबकि उच्चस्तरीय कृतियाँ अधिक क्लिष्ट तथा चमत्कारपूर्ण होती हैं इसीलिये वे आसानी से ग्राह्य नहीं होतीं। जनता के हृदय को वे सरलता-पूर्वक नहीं जीत सकतीं।[1] लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उन्नयन तथा प्रसार में कोई संबंध ही नहीं है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि प्रसार का धरातल हमेशा एक ही हो —Little cowherd जैसी रचनायें ही उन लोगों के बीच प्रसार पाती हैं।[2] सामान्य जन-समुदाय का सांस्कृतिक धरातल भी क्रमशः विकसित होता है। अतः लेखकों को भी उसी के अनुरूप उन्नत कला-कृतियाँ भी प्रस्तुत करनी चाहिये। कला तथा साहित्य में उन्नयन आवश्यक है लेकिन जिस प्रकार का लक्ष्य व्यापक जन-समुदाय है उसी प्रकार उन्नयन का भी।[3] कला तथा साहित्य में उन्नयन का अर्थ व्यापक प्रसार तथा लोकप्रियता के धरातल पर किया गया है उन्नयन है। इस प्रकार उन्नयन का आविर्भाव न तो हवा में होता है न तो बन्द दरवाजे के भीतर।[4] उन्नयन का आविर्भाव लोकप्रियता के धरातल पर ही संभव है। कोई भी कलाकृति तभी उन्नत कही जा सकती है जबकि व्यापक जन-समुदाय को उससे लाभ हो अथवा उसके हितों का संरक्षण हो।

इन प्रश्नों के समाधान के बाद माओ ने कला तथा साहित्य-समीक्षा के मूलभूत प्रतिमानों की ओर भी संकेत किया है। कला तथा साहित्य-समीक्षा में उसके अनुसार दो ही प्रमुख प्रतिमान हैं — राजनीतिक तथा कलात्मक।[5] राजनीतिक प्रतिमान के अनुसार वे सभी कृतियाँ श्रेष्ठ हैं जो पारस्परिक एकता की भावना को विकसित करते हुये शत्रुओं के विरोध के लिये उत्प्रेरित कर सकें — जो व्यापक जन-समुदाय को एक हृदय तथा एक मस्तिष्क के साथ विकास की प्रेरणा दें।[6] अतः मूलभूत प्रश्न लक्ष्य (Motive) तथा

---

१. पृष्ठ २५—माओ त्से-तुंग : Talks at Yenan forum on Art and literature.
२. „ २६ — वही। „ „ „
३. „ — वही। „ „ „
४. „ — वही।
"Such elevation does not take place in mid-air, nor behind closed doors but on the basis of popularisation,"
५. पृष्ठ ३५ — माओ त्से-तुंग .
६. „ ३५-३६ — वही —

प्रभाव (Effect) के सर्वेक्षण-स्थापन का है। व्यापक जन-समुदाय के हितों का ध्यान अथवा कलाकार का स्तर है जो उसकी कलाकृति की जीवन्तता उसका प्रभाव है। हमें इन्हीं दोनों के बीच परस्पर अन्विति स्थापित करनी चाहिए। इसके साथ ही हम उन समस्त कृतियों की भर्त्सना भी करनी चाहिए जो राष्ट्र विरोधी हों, व्यापक जन-जीवन तथा साम्यवादी आदर्शों के प्रतिकूल हों, क्योंकि ऐसी कृतियों से व्यापक जन-समुदाय के बीच एकता की कल्पना नहीं की जा सकती।

दूसरा प्रतिमान कलात्मक है। इसलिये उक्त कृतियों का कला-विज्ञान (Science of Art) के सूत्रों के द्वारा भी मूल्यांकन करना चाहिए ताकि हम कला को निम्नतर स्तर से उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकें।[1] ये दोनों प्रतिमान पूर्ण तथा परिवर्तन शील हैं। इनमें किसी प्रकार का परस्पर विरोध भी नहीं है। एक की स्थिति क्रान्तिकारी राजनीतिक वस्तु तत्व (Revolutionary political content) के साथ देखी जा सकती है दूसरे का उसके सर्वाधिक उन्नत कलात्मक रूप के साथ।[2] माओ के अनुसार, वैसी कलात्मक कृतियाँ जो राजनीतिक दृष्टि से उन्नत हों लेकिन कलात्मक गुणों से रिक्त हों, शक्तिहीन सिद्ध होती हैं।[3] अतः एक ओर कला-कृतियों में गलत राजनीतिक दृष्टकोण का हम विरोध करना चाहिये तो दूसरी ओर उनके पोस्टर तथा नारेबाजी की शैली (Poster and slogan style) को।[4] इस दृष्टि से माओ ने कला तथा साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में जो नूतन स्थापना (१९५६) प्रस्तुत की है वह 'शत-शत पुष्पों के विकसित होने से तथा शत-शत विचार धाराओं के प्रसार पाने' की है। इसका उद्देश्य

---

१. पृष्ठ३७— माओ त्से-तुंग।

२. „ ३८ — वही —

"What we demand is unity of politics and art, of content and form, and of the revolutionary political content and the highest possible degree of perfection in artistic form"

३. „ ३८ — वही —

"Works of Art, however, politically progressive are powerless if they lack artistic quality"

४. —वही—

"Therefore we are equally opposed to work with wrong political approaches and to the tendency towards *so called 'poster and slogan style' which is correct only in* political approach but lacks artistic power,"

भी कला तथा साहित्य के क्षेत्र में नई शैलियों तथा नई विचार धारा के विकास से सम्बद्ध है। लेकिन विचार-धारा की विविधता का अर्थ समाजवादी विचारों से भिन्न प्रतिष्ठा नहीं है। माओ यांग के शब्दों में – "शत-शत पुष्पों के विकसित होने से हमारा अभिप्राय समाजवाद की सीमा के अन्तर्गत उनके होने वाले विकास से है इस सीमा के अन्तर्गत जो पुष्प विकसित होंगे वे समाजवादी पुष्प होंगे।

(We always hold that letting a hunred flowers blosom means blosoming in the scope socialism the flowers to blosom are socialist flowers.[1])

ख्रुश्चेव

१९५७ में सोवियत भूमि के लेखकों तथा साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्यों को सम्बोधित करते हुये श्री एन० एस० ख्रुश्चेव ने भी कला तथा साहित्य के संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि उनके वक्तव्य का अधिकांश साहित्येतर विषयों से ही सम्बद्ध है फिर भी सोवियत भूमि के लेखकों तथा कलाकारों को नये दायित्व की ओर उन्मुख करने में उनका भी महत्वपूर्ण योग है। वह नया दायित्व है—परिवर्तित जन-जीवन का सफल चित्रण। उनके अनुसार, गत वर्षों में सोवियत रूस की जनता के जीवन में जो भी ऐतिहासिक परिवर्तन आये हैं उनका सफल चित्रण अभी तक नहीं हो सका है। अत: *साहित्यिकों और कलाकारों का प्रमुख दायित्व इस अभाव की पूर्ति करना है।* इसके लिये श्री ख्रुश्चेव ने उन्हें जन-जीवन को उसकी गहराई में प्रवेश कर परखने का परामर्श दिया है। तभी सहस्त्रों ऐसे जीवित उदाहरण उपलब्ध होंगे जो यह दर्शा सकेंगे कि किस प्रकार इस बीच जनता का भाग्य परिवर्तित हुआ है और कितनी गौरवपूर्ण सफलता के साथ वे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनके अनुसार, 'दैनन्दिन के जन-जीवन तथा लोगों की श्रम-प्रक्रिया से सुदृढ़ संबंध स्थापित करने के बाद हमारे लेखक और कलाकार उनकी आत्मा, उनके चरित्र, उनके विचार तथा उनकी आशाओं को समझ सकेंगे और लघु कथा तथा उपन्यासों में, कविताओं तथा नाटकों में सामयिक जीवन के पात्रों तथा प्रसंगों को अधिक स्पष्टता के साथ चित्रित कर सकेंगे।'[२]

---

1. Chinese literature. (October 10, 1960)

२. पृष्ठ १०–एन० एस० ख्रुश्चेव : Closer Alliance of Literature and art with the life of the people.

प्रभाव (Effect) के सबंध-स्थापन का है। व्यापक जन-समुदाय के हि का सरक्षण अगर कलाकार का लक्ष्य है तो उनकी स्वीकृति को जीतना उस प्रभाव है। हमें इन्ही दोनों के बीच परस्पर अन्विति स्थापित करनी चाहिए इसके साथ ही हमे उन समस्त कृतियो की भर्त्सना भी करनी चाहिए जो रा विरोधी हो, व्यापक जन-जीवन तथा साम्यवादी आदर्शों के प्रतिकूल हं क्योंकि ऐसी कृतियों से व्यापक जन-समुदाय के बीच एकता की कल्पना नह की जा सकती।

दूसरा प्रतिमान कलात्मक है। इसलिये उक्त कृतियो का कला-विज्ञा (Science of Art) के सूत्रो के द्वारा भी मूल्याकन करना चाहिए ताकि हम कला को निम्नतर स्तर से उच्चतर धरातल पर प्रतिष्ठित कर सकें।[१] ये दोनो प्रतिमान मूर्त तथा परिवर्तन शील हैं। इनमे किसी प्रकार का परस्पर विरोध भी नही है। एक की स्थिति क्रान्तिकारी राजनीतिक वस्तु तत्व (Revolutionary political content) के साथ देखी जा सकती है दूसरे का उसके सर्वाधिक उन्नत कलात्मक रूप के साथ।[२] माओ के अनुसार, वैसी कलात्मक कृतियाँ जो राजनीतिक दृष्टि से उन्नत हो लेकिन कलात्मक गुणो से रिक्त हो, शक्तिहीन सिद्ध होती है।[३] अतः एक ओर कला-कृतियो मे गलत राजनीतिक दृष्टकोण का हमें विरोध करना चाहिये तो दूसरी ओर उनके पोस्टर तथा नारेबाजी की शैली (Poster and slogan style) को।[४] इस दृष्टि से माओ ने कला तथा साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र मे जो नूतन स्थापना (१९५६) प्रस्तुत की है वह 'शत-शत पुष्पो के विकसित होने मे तथा शत-शत विचार धाराओ के प्रसार पाने' की है। इसका उद्देश्य

---

१. पृष्ठ३७– माओ त्से-तुंग।

२. ,, ३८ – वही –

"What we demand is unity of politics and art, of content and form, and of the revolutionary political content and the highest possible degree of perfection in artistic form"

३. ,, ३८ – वही –

"Works of Art, however, politically progressive are powerless if they lack artistic quality."

४. –वही–

"Therefore we are equally opposed to work with wrong political approaches and to the tendency towards so called 'poster and slogan style' which is correct only in political approach but lacks artistic power,"

भी कला तथा साहित्य के क्षेत्र मे नई शैलियाँ तथा नई विचार धारा के विकास से सम्बद्ध है। लेकिन विचार-धारा की विविधता का अर्थ समाजवादी विचारो से भिन्न प्रतिष्ठा नही है। माओ माग के शब्दो मे — "शत-शत पुष्पो के विकसित होने से हमारा अभिप्राय समाजवाद की सीमा के अन्तर्गत उनके होने वाले विकास से है इस सीमा के अन्तर्गत जो पुष्प विकसित होंगे वे समाजवादी पुष्प होगे।

(We always hold that letting a hunred flowers blosom means blosoming in the scope socialism the flowers to blosom are socialist flowers.[1])

ख्रुश्चेव

१९५७ मे सोवियत भूमि के लेखको तथा साम्यवादी दल के सक्रिय सदस्यो को सम्बोधित करते हुये श्री एन० एस० ख्रुश्चेव ने भी कला तथा साहित्य के सबध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं। यद्यपि उनके वक्तव्य का अधिकाश साहित्येतर विषयो मे ही सम्बद्ध है फिर भी सोवियत भूमि के लेखको तथा कलाकारो को नये दायित्व की ओर उन्मुख करने मे उनका भी महत्त्वपूर्ण योग है। वह नया दायित्व है—परिवर्तित जन-जीवन का सफल चित्रण। उनके अनुसार, गत वर्षों मे सोवियत रूस की जनता के जीवन में जो भी ऐतिहासिक परिवर्तन आये हैं उनका सफल चित्रण अभी तक नही हो सका है। अत. साहित्यिको और कलाकारो का प्रमुख दायित्व इस अभाव की पूर्ति करना है। इसके लिये श्री ख्रुश्चेव ने उन्हे जन-जीवन की उसकी गहराई मे प्रवेश कर परखने का परामर्श दिया है। अभी सहस्रो ऐसे जीवित उदाहरण उपलब्ध होगे जो यह दर्शा सकेंगे कि किस प्रकार इस बीच जनता का भाग्य परिवर्तित हुआ है और कितनी गौरवपूर्ण सफलता के साथ वे अनत पथ की ओर अग्रसर हो रहे हैं। उनके अनुसार, 'दैनन्दिन के जन-जीवन तथा लोगों की श्रम-क्रियाओ से सुदृढ सबध स्थापित करने के बाद हमारे लेखक और कलाकार उनकी आत्मा, उनके चरित्र, उनके विचार तथा उनकी आशाओ को समझ सकेंगे और लघु कथा तथा उपन्यासो मे, कविताओ तथा नाटको मे आधुनिक जीवन के पात्रो तथा प्रसगो को अधिक स्पष्टता के साथ चित्रित कर सकेंगे।'[2]

1 Chinese literature (October 10, 1960)

२ पृष्ठ १०—एन० एस० ख्रुश्चेव : Closer Alliance of Literature and art with the life of the people.

साम्यवादी दल क्यों इतनी अधिक साहित्यिक तथा कलात्मक तथ्यों पर स्वय को केन्द्रित करता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुये श्री खुश्चेव ने कहा है—'यह इसलिये चूंकि साहित्य और कला को साम्यवादी दल की वैचारिक सक्रियता के बीच असामान्य उद्देश्य की पूर्ति करना है और वह असामान्य उद्देश्य है—जन-जीवन को साम्यवादी आदर्शों में प्रशिक्षित करना।'[1] "अपने सर्जनात्मक प्रयत्नों के माध्यम से लेखक, कलाकार, मूर्तिकार, संगीतज्ञ आदि सोवियत समाज के रचनात्मक निर्माण में सक्रिय योग दे सकते हैं और अधिक विश्वास के साथ जन-जीवन की सेवा कर सकते है। साम्यवादी दल साहित्यकारों और कलाकारों को अपना सच्चा मित्र और सहयोगी मानता है—वैचारिक संघर्ष में एक विश्वसनीय सहायक के रूप में। यह साम्यवादी दल का लक्ष्य है कि साहित्य और कला अपने वैचारिक तथा कलात्मक पूर्णता (Ideological and artistic parfection) को ग्रहण करते हुये विकसित हो। हमारी जनता साहित्य चित्र और संगीत की वैसी कृतियाँ चाहती है जो श्रममय जीवन के संघर्ष का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करें—साथ ही जिन्हें वह समझ भी सके। समाजवादी यथार्थवाद की प्रक्रिया इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये असीम सम्भावनायें प्रस्तुत करती है।[2]

'कला तथा साहित्य के विकास का प्रमुख मार्ग, श्री खुश्चेव के अनुसार, 'यह है कि वे जन-जीवन से अविभाज्य रूप से सम्बद्ध हो, समाजवादी यथार्थता की समृद्धि तथा विविधता का सही रूप में चित्रित करें और सोवियत जनता के महान परिवर्तन को, आकांक्षा तथा लक्ष्य को, उनके नैतिक स्तर को प्रकाश पूर्ण विधि से चित्रित करें। कला तथा साहित्य का सबसे प्रमुख सामाजिक

---

१. पृष्ठ २१—एन० एस० ख्रुश्चेव

"It is because literature and art have an exceptionally important part to play in our party's ideological work in the communist education of the working people"

२. २१—एन० एस० ख्रुश्चेव : Closer Alliance of Literature and Art with the life of people—

"It is the Party's concern to have literature and art flourish and achieve high ideological and artistic perfection. Our people want work of literature, painting and music that would mirror the pathos of labour the works they could understand the method of socialist realism guarantees unlimited opportunities to this end,"

उद्देश्य, उनके अनुसार यही है कि साम्यवादी-निर्माण की नयी विजय के लिये वह जनता को संघर्षरत करने में सहायक हो।'[1]

तीसरी कोटि

मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तक—

प्लेखनोव

काव्य तथा कला-चिन्तन के क्षेत्र में मार्क्सवादी पद्धति को स्वीकार कर अग्रसर होने वाले विचारकों में जी० प्लेखनोव का प्रथम स्थान है। उनकी सुप्रसिद्ध कृति Art and Social life के अन्तर्गत मनुष्य की कलात्मक चेतना के विकास तथा सामाजिक जीवन से उसके संबंध का विस्तृत विवेचन है। सर्व प्रथम उन्होंने टालस्टाय के इस कथन का कि मनुष्य शब्दों के माध्यम से अपने विचारों को और कला के माध्यम से अपने भावों को सम्प्रेषित करता है, खण्डन करते हुए कहा है—"कला केवल मनुष्य के भावों को ही नहीं वह उनके भाव तथा विचार दोनों को प्रकाशित करती है, भले ही यह प्रकाशन अमूर्त रूप में नहीं होता बल्कि जीवन्त प्रतीकों अथवा सम्मूर्तनों के माध्यम से होता है।'[2] टालस्टाय का यह मत था कि जब मनुष्य अपने द्वारा अनुभूत भाव को दूसरों तक प्रेषित करने के लिये अपने अन्तर्मन पुनर्जागृत करते हुये कतिपय बाह्य चिन्हों के माध्यम से उन्हें व्यक्त करता है तब कला का जन्म होता है। इसका संशोधन करते हुये प्लेखनोव ने कहा है—'मेरे विचार से कला का जन्म तब होता है जब मनुष्य अपने बाह्य जीवन की यथार्थता के प्रभाव से अपने द्वारा अनुभूत भावों तथा विचारों को पुनर्जीवित करते हुये सुनिश्चित सम्मूर्तनों के माध्यम से व्यक्त करता है।[3] यह ठीक है कि यह प्रक्रिया इसीलिये होती है क्योंकि रचयिता, जो कुछ उसने फिर से सोचा है अथवा फिर से अनुभव किया है उसको दूसरे व्यक्तियों तक पहुंचाना चाहता है। कला इस अर्थ में एक सामाजिक प्रक्रिया है।[4]

कला-समीक्षा का कार्य प्लेखनोव ने, जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है, इतिहास की भौतिकवादी धारणा के आधार पर किया है। इतिहास की भौतिक वादी धारणा क्या है? इतिहास की भौतिकवादी धारणा, उसके

१ पृष्ठ २१—एम० एस० बुल्बेव : Closer Alliance of Literature and art with the life of the people,
२. पृष्ठ ८-जी० प्लेखनोव : Art and Social Life.
३. वही
४. „ ९ — वही

अनुसार, यह है कि मनुष्य के सामाजिक संबंध ही उसके मानसिक धरातल को प्रभावित करते हैं और उन सामाजिक संबंधों के मूल में उसके भौतिक तथा आर्थिक जीवन की सक्रियता व्यक्त होती है।[1] अन्तिम परिणति में कला मनुष्य के इस मानसिक धरातल की ही देन है।[2] इस का विश्लेषण करते हुये उसने कहा है—

"The art of any people is determined by its mentality, its mentality is a product of its situation and it is determined in the final analysis by the state of its productive forces and its relation of production"

कला के संबंध में जैसा कि प्लेखनोव ने कहा है, यह एक ऐतिहासिक तथा भौतिकवादी दृष्टि है।

लेकिन कला की उद्भावना किसके लिये होती है?—कला तथा समाज के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण करते हुये प्लेखनोव ने इस सम्बन्ध में दो प्रकार की धाराओं का उल्लेख किया है—

(क) प्रथमतः कुछ लोगों की धारणा है कि कला मानवीय चेतना तथा सामाजिक व्यवस्था के विकास का साधन है।[3]

(ख) अन्य कुछ ऐसे भी हैं जो कला को किसी लक्ष्य विशेष की पूर्ति का साधन न मानकर स्वयं में उसे ही लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार की धारणा का [illegible], प्लेखनोव के अनुसार, तभी होता है जब कलाकार अपने सामाजिक परिवेश से कट जाता है।[4] उदाहरण के लिये उसने [illegible] प्रभृति उन [illegible] स्वच्छन्दतावादियों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है जिन्होंने सामाजिक जीवन से तटस्थ होने के लिये कला को अपना आश्रय [illegible] था। [illegible] कला [illegible] न तो सामाजिक जीवन में किसी परिवर्तन की आशा करते थे न उसके [illegible]। [illegible] निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

No, not for worldly agitation,
Nor worldly greed, nor worldly strife,

---

1. पृष्ठ ११ —जी० प्लेखनोव Art and Social Life,
2. पृष्ठ १० — वही
3. पृष्ठ १० - वही
4. —वही — १
[illegible]

But for sweet song, for inspiration,
For prayer the poet comes to life

प्लेखनोव के मत से, 'कला कला के लिये' का आदर्श ही लक्षित होता है।[1] लेकिन दूसरी ओर कला की सोद्देश्यता अथवा उसकी उपयोगिता विषयक प्रवृत्ति भी विकसित थी—उल्लास सहित सामाजिक जीवन के संघर्षों में भाग लेने के लिये उत्सुक थी। इस प्रवृत्ति का विकास, प्लेखनोव के मत से होता है जब समाज तथा ऐसे व्यक्तियों के बीच जिनकी सर्जनात्मक कला में सक्रिय रुचि हो, पारस्परिक सहानुभूति तथा सामंजस्य की भावना हो।[2]

कलाकृति का उत्कर्ष उनके अनुसार, अन्तिम विश्लेषण में वस्तु तत्व का ही उत्कर्ष है।[3] कवि या कलाकार की रचनायें, उसके मत से, हमेशा कुछ न कुछ कहती हैं उनका लक्ष्य निरन्तर किसी तथ्य को अभिव्यक्ति देना रहता है—भले ही उनके कहने की विधि कुछ भी क्यों न हो इतना तो अवश्य है कि सामान्य व्यक्ति की तरह वे तार्किक निष्कर्षों का प्रयोग नहीं कर सकते। कलाकार जब सम्मूर्तनों के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करने के बदले तार्किक पद्धति अपना लेता है तब वह कलाकार न होकर प्रचारवादी बन जाता है।[4] इसका अर्थ यह भी नहीं कि कलाकृति में विचारों का योग नहीं रहता। प्लेखनोव ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है—

"There is no such thing as an artistic production which is devoid of idea. Even productions whose authors by store only on form and are not concerned for their content, nevertheless express some idea in one way or another."[5]

भले ही इन कृतियों में रचयिता की निषेधात्मक दृष्टि ही क्यों न प्रस्तुत हो। दूसरे प्रकार की दृष्टि का संकेत रस्किन के इस कथन में मिलता है, जब वह कहता है कि किसी भी कलाकृति की विशेषता उसमें व्यक्त भावों के उत्कर्ष से निर्धारित होती है। प्लेखनोव ने उसका समर्थन करते हुये कहा

१. पृष्ट १५२—जी० प्लेखनोव : Art and Social Life
२. ,, १६३ —वही।
३. ,, १७१ —वही।
४. ,, १७१ —वही।
५. ,, १३१ —वही।

है—कलाकृति का भावोत्कर्ष जितना ही अधिक समुन्नत होगा, सामाजिक जीवन के लिए वह उतना ही प्रभावपूर्ण साधन बन सकती है।[१]

काडवेल

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवादी आदर्शों की विधिवत् स्थापना सर्व प्रथम काडवेल द्वारा हुई। उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'Illusion and Reality' में जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, ऐतिहासिक भौतिकवाद ही उनकी कला समीक्षा का आधार है।[२] उनके अनुसार, कला-समीक्षा के क्षेत्र में प्रवेश करने का अर्थ ही कला के बाहर स्थित होकर उसे परखने का प्रयत्न करना।[३] लेकिन कला के बाहर है क्या ? कला के बाहर है समाज। अतः काडवेल के शब्दों में, 'कला के बाहर स्थित होने का अर्थ है समाज के अन्तर्गत स्थित होना To stand out side art is to stand inside society)।[४] इस प्रकार कला तथा साहित्य का विवेचन समाज-शास्त्रीय होना स्वाभाविक है और वह समाज शास्त्र जिसके माध्यम से काव्य तथा कला का विवेचन सम्भव है, उनके मत से ऐतिहासिक भौतिकवाद है।[५]

इसी दृष्टि से-अर्थात् ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टि से प्रथमतः काडवेल ने काव्य के उद्भव तथा विकास का विस्तृत विवेचन किया है। कविता के आदिम रूप पर दृष्टि डालते हुये, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदि कविता उस समाज में उत्पन्न हुई जो फल एकत्र करने वालों या शिकारियों का समाज था। वह वर्गहीन समूह कुछ सामान्य भावनायें और विचार रखता था।' उसके सामूहिक संवेग लय-युक्त भाषा में अभिव्यक्त होते थे और यही उच्चतर गेय भाषा कविता का आदिम रूप है। कविता का यह आरंभिक रूप एक ऐसे समाज की देन था जिसमें आर्थिक विभेद नहीं थे। अतः उस समाज में सामूहिक संवेग अथवा सामूहिक भाव (Collective emotion) की उत्पत्ति सम्भव थी। लेकिन श्रम विभाजन के साथ सामाजिक जीवन में नये परिवर्तन आये। वर्गीय समाज की सृष्टि हुई जिसके अन्तर्गत शासक वर्ग को ही केन्द्र मानकर समाज की सारी चेतना एकत्र हो गई—आलस्य तथा निष्क्रियता को

---

१. पृष्ठ १७२— जी० प्लेखनोव : Art and Social Life.
२. ,, १० — काडवेल Illusion and Reality
३. ,, ९ — वही।
४. ,, — वही।
५. ,, १० — वही।

काडवेल ने [illegible] विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद [illegible] में [illegible] की काव्य चेतना का विशद विवेचन किया है। मनोवैज्ञानिक समीक्षा की दृष्टि से Illusion and reality का यह अंश अत्यन्त समृद्ध है। यहाँ काडवेल ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि इस युग में कविता की [illegible] चेतना केवल मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक कारणों से नहीं निर्मित हुई है। इसका रागात्मक जीवन एवं सौन्दर्य बोध पूंजीवाद एवं क्रांति, [illegible] एवं सामाजिक, नैतिकता, न्याय, कानून, दर्शन इत्यादि से प्रभावित और परिवर्तित हुआ है।'[3]

सैद्धान्तिक दृष्टि से आधुनिक कविता की जिन चारित्रिक विशेषताओं पर उसने प्रकाश डाला है उनमें उसकी व्यक्ति चेतना, अबौद्धिकता, प्रतीकात्मकता, मूर्तता तथा सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करने की क्षमता आदि प्रमुख हैं।[4] इन तत्वों का भी काडवेल ने विस्तार सहित विवेचन किया है।

Illusion And Reality का उत्तरार्ध काव्य अथवा कला के मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बद्ध है। यहाँ काडवेल ने फ्रायड की तरह यह स्वीकार करते हुए भी कि बहुत से स्वप्न तथा कवितायें कामेच्छा-प्रसूत या 'क्षति-पूरक' होती हैं, यह मान्यता व्यक्त की है कि 'जीवन के महान स्वप्न और कवितायें

---

१. पृष्ठ २८ — काडवेल : Illusion and Reality
२. ,, १९ — ,, ? —वही—
३. ,, २८३ — काडवेल के काव्यालोचन सबधी सिद्धान्त : अवन्तिका।
४. ,, ९९ — काडवेल की समीक्षा-प्रणाली : समालोचक (यथार्थवाद विशेषांक)

जो मनुष्य की मुक्ति के साधन हैं इनमें अपवाद है। स्वप्न और कविता में भेद है। स्वप्न में मनुष्य मनोविकारों का दास है और कविता में मनुष्य मनोविकारों का स्वामी। स्वप्नों में मानव-विकारों का मुक्त प्रवाह होता है जिसे अतियथार्थवादी कवियों ने अपनी विचित्र, अर्थहीन तथा घोर व्यक्तिवादी कविताओं का आधार बनाया है। कविता का स्वप्न समाज द्वारा निर्दिष्ट और प्रभावित व्यक्ति का स्वप्न है जो अपनी व्यक्तिगत चेतना के द्वारा एक समस्त वर्ग की रचनात्मक भूमिका को प्रतिफलित करता है।[1]

रैल्फ फाक्स—

'क्रिटिक आफ पालिटिकल इकोनामी' की भूमिका को आधार मानकर काव्य तथा कला को समाज के आर्थिक जीवन से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध मानना—प्रारम्भिक मार्क्सवादी विचारकों की बहुत बड़ी सीमा थी। फाक्स ने इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुए सर्वप्रथम यह मान्यता व्यक्त की—"यह दावा करना कि मार्क्स कलाकृतियों को भौतिक तथा आर्थिक प्रकरणों का प्रतिबिंब समझते थे मार्क्स का उपहास करना है।"[2] उनके अनुसार, "मार्क्स को निस्संदेह यह विश्वास था कि जीवन का भौतिक विधान अन्ततोगत्वा बौद्धिक विधान को निर्धारित करता है किन्तु एक क्षण के लिए भी कभी उन्होंने नहीं सोचा कि इन दोनों के बीच का संबंध सीधा है, सहज ही दीखने और यन्त्रवत् विकसित होने वाला है। न कभी वह यह मानते थे कि चूंकि उत्पादन का पूंजीवादी तरीका सामन्ती तरीके से अधिक प्रगतिशील है इसलिए पूंजीवादी कला सामन्ती कला से सदा ऊँचे स्तर की होनी चाहिए।"[3]

साहित्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति पर विशेष बल देते हुए फाक्स ने उसे बाह्य जीवन की परिस्थितियों तक ही नहीं मनुष्य के आन्तरिक जीवन, उसके भाव जगत तक भी व्याप्त माना है। डा० शर्मा के अनुसार, "फाक्स की यह स्थापना महत्वपूर्ण है कि भाव जगत और बाहरी जगत में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। दोनों के समन्वय से ही भरे पूरे यथार्थवाद का विकास हो सकता है।"[4] उपन्यास के सैद्धान्तिक धरातल पर विचार करते

---

१. पृष्ठ २८३—काडवैल के काव्यालोचन सम्बन्धी सिद्धान्त, अवन्तिका।

२. पृष्ठ ६३—रैल्फ फाक्स—

The Novel And the People—"It is only a caricature of Marxism to suggest that Marx considered works of art to be the direct reflection of material and economic cause."

३. पृष्ठ १३—रैल्फ फाक्स—उपन्यास और लोक जीवन।

४ भूमिका : उपन्यास और लोक जीवन।

समय फील्डिंग के चरित्र-चित्रण सम्बन्धी सिद्धांतों को मान्यता देते हुए उन्होंने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी यथार्थवाद के बीच के पुराने तथा कृत्रिम विभाजन का अन्त होना आवश्यक माना है। मनोवैज्ञानिकों के मानव-सम्बन्धी निष्कर्षों की अपूर्णता की ओर संकेत करते हुए फाक्स ने कहा है—"वे व्यक्ति को समग्र रूप में—एक सामाजिक प्राणी के रूप में—देखने में पूर्णतया असमर्थ रहे हैं। उन्होंने जीवन के बारे में उस झूठे दृष्टिकोण के लिये आधार प्रदान किया है जिसके कारण फाउस्ट और ज्वायस में कला का एकमात्र लक्ष्य मानव-व्यक्तित्व की रचना करने के बजाय मानव-व्यक्तित्व का विघटन करना बन गया।"[1]

व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत फाक्स ने मुख्यतः यूरोपीय उपन्यासकारों का सम्यक्-विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके इस विवेचन के अन्तर्गत भी मार्क्सवादी आलोचक के स्वतन्त्र चिन्तन और उसकी रचनात्मक प्रतिभा का पूर्ण आभास परिलक्षित होता है। अपने विवेचन क्रम में फाक्स ने एक ओर जहाँ टालस्टाय और गोर्की की विशेषताओं का उल्लेख करते हुये उनकी अभ्यर्थना की है वहीं अन्य सोवियत उपन्यासकारों में चेतना और संवेदना के प्रसारण की शक्ति का अभाव भी दर्शाया है। अपने देश के प्रगतिशील लेखकों को प्रकाश में लाने का बहुत बड़ा श्रेय फाक्स को प्राप्त है। 'फाक्स के लिये अठारहवीं सदी अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का स्वर्ण-युग था, कारण यह कि पूँजीवादी क्रान्ति ने अंग्रेजी दर्शन की सृष्टि की और अंग्रेजी उपन्यास साहित्य इस दर्शन से प्रभावित था।'[2] फील्डिंग की कला का विवेचन करते हुए उन्होंने उसे पूँजीवादी समाज व्यवस्था का तीव्र आलोचक सिद्ध किया है। इसी प्रकार १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध पर फाक्स ने बाल्ज़ाक का अप्रतिम प्रभाव स्वीकार किया है। अन्य फ्रांसीसी उपन्यासकारों में उन्होंने फ्लाबेयर और थैकरे की प्रशंसा की है क्योंकि इनके साहित्य में पूँजीवादी वर्ग के प्रति तीव्र घृणा तथा आक्रोश के स्वर हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी उपन्यासकारों की क्रान्तिकारी चेतना को फाक्स ने मुक्त कंठ से सराहा है और उनमें जनता के दुःख तथा दर्द की व्याप्ति के साथ कलात्मक चिन्तन का समुचित नियोजन माना है।

हावर्ड फास्ट

हावर्ड फास्ट अमेरिका के प्रमुख प्रगतिशील उपन्यासकार हैं। कथा-साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने पर्याप्त ख्याति भी प्राप्त की है। The last

१. पृष्ठ १००-१०१—उपन्यास और लोक जीवन।
२. पृष्ठ ३, भूमिका : वही।

Frontier और The unvanquished प्रभृति कृतियाँ किसी भी साहित्य का स्थायी उपादान बन सकती हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनकी सर्व प्रमुख कृति है 'साहित्य और यथार्थता' (Literature and Reality) इसके अन्तर्गत यथार्थता को ही काव्य तथा कला-विवेचन का प्रमुख प्रतिमान माना गया है। लेकिन साहित्य के अन्तर्गत जिस यथार्थता का नियोजन होता है वह उनके अनुसार वस्तु जगत की यथार्थता से यथावत् सादृश्य उत्पन्न नहीं करती। इस सबंध में मार्क्स के इस कथन को—

"All science would be superfluous if the appearance, the form, and the nature of things were wholly identical."[1]

उद्धृत करते हुये उन्होने कहा है—चूँकि ये तीनों तथ्य किसी भी रूप में एक ही नही है अतः यथार्थता का आकलन सभ्यता के प्रारंभ से ही एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।[2] जैसे-जैसे मानव-मस्तिष्क वस्तु जगत की गहराई में प्रवेश करता है उसे यथार्थता के विभिन्न स्तर दिखाई देते है—प्रथम स्तर की, द्वितीय स्तर की यथार्थता और इसी प्रकार अन्य स्तरों की भी। लेकिन साहित्य में नियोजित यथार्थता की प्रकृति इन सभी स्तरों से भिन्न होती है।

साहित्य में यथार्थता का नियोजन कलाकार की उस सृजन-प्रक्रिया के माध्यम से होता है, जो हावर्ड फास्ट के अनुसार, आवृत्तिमूलक न होकर सश्लिष्ट है।[3] लेखक को, उनके मत से, चयन करना चाहिये सांख्यिक विस्तार नहीं (The writer must select, he cannot enumerate)[4] दूसरी पद्धति प्रकृतवादी है यथार्थवादी नहीं, जिसकी आलोचना करते हुये फास्ट ने उसे यथार्थ से पलायन (A retreat from realism) की संज्ञा दी है।[5] यथार्थवाद, उनके अनुसार वह साहित्यिक संश्लेष है जो चयन तथा सृजन के द्वारा सहृदय की यथार्थता-विषयक धारणा को तीव्र करता है।[6] इसी अर्थ में उनके अनुसार Brand whit lock ने भी कहा था—

"Fiction after approached closer to the truth than non-fiction"[7]

---

१ पृष्ठ १६, हावर्ड फास्ट—Literature and Reality
२. वही।
३. १९ —वही—।
४. वही।
५. पृष्ठ २०—वही।
६. वही।
७. वही।

कोई भी कलाकार अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं के बावजूद महान कला का निर्माण नहीं कर सकता है जबकि वास्तविकता को नूतन दीप्ति दे—आवश्यक नाटकीय सत्य को (Essential dramatic truth) अनावश्यक तथ्यों से मुक्त करे।[1] यह सत्य स्वयं में तटस्थ, स्थिर तथा पूर्ण वस्तु नहीं है बल्कि पक्षात्मक तथा परिवर्तनशील है। इसलिये इसे ग्रहण करने के लिये एक ऐतिहासिक दृष्टि का होना आवश्यक है ताकि इसके वर्तमान के साथ ही इसके भविष्य और अतीत को भी ग्रहण किया जा सके। इसे विश्लेषित करते हुये हावर्ड फास्ट ने एक हड़ताल का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, कला के रूप में उसकी परिणति तभी होगी जबकि ऐतिहासिक प्रक्रिया से उसे सम्बद्ध किया जाये और वह ऐतिहासिक प्रक्रिया तटस्थ नहीं हो सकती। वह स्वयं में हड़ताल मात्र नहीं है बल्कि इससे बहुत कुछ अधिक भी है। मील मालिक के लिये उसकी सम्पत्ति तथा लाभ की दृष्टि से हड़ताल एक अवैध प्रयास है, मजदूर के लिये हड़ताल उसके जीवन-मरण की वस्तु है, उसके तथा उसके परिवार के अस्तित्व से जुड़ा हुआ एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। स्थानीय समाचार पत्र के लिये हड़ताल एक Public nuisance है—ग्राहकों के लिये उनकी असुविधा का एक कारण।[2] इसी प्रकार अन्य दृष्टियाँ भी हो सकती हैं जो यथार्थता के अलग-अलग पक्ष हैं। हावर्ड फास्ट के शब्दों में, 'इस प्रकार सत्य कोई सेब नहीं है कि कोई भी व्यक्ति उठा ले।[3] सत्य एक या दूसरा पक्षमात्र है और इसीलिये लेखक को सत्य की प्रकृति समझने के लिये किसी न किसी पक्ष विशेष को चुनना चाहिए। सत्य इस अर्थ में पक्षधर है—तटस्थ नहीं (The truth is partisan, not neutral)[4] पुन वह परिवर्तनशील भी है अत उसका कोई स्थायी प्रतिमान नहीं हो सकता लेकिन इसके साथ ही वह ऐतिहासिक दृष्टि से गुजरे हुये अतीत तथा आने वाले भविष्य से भी सम्बद्ध है। अत उसे इनसे विच्छिन्न नहीं माना जा सकता।

यथार्थता की उक्त पक्ष धरता तथा परिवर्तन शीलता के बाद हावर्ड फास्ट ने साहित्य के अन्तर्गत यथार्थवादी प्रक्रिया का विशद विवेचन किया है। उन्होंने यह स्पष्ट शब्दों में घोषित किया है कि कलाकृति के निर्माण के लिये

---

१. पृष्ट २०—हावर्ड फास्ट—Literature and Reality
२. ,, २१—वही।
३. ,, २१—वही।
४. ,, २१—वही।

यथार्थवादी पद्धति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी पद्धति नहीं हो सकती।[1] लेकिन कलाकृति में यथार्थता का आरोप स्थूल और यांत्रिक विधि से नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से, फास्ट के अनुसार, कला की मूलवर्ती जीवन-चेतना ही समाप्त हो जाती है।[2] फिर यथार्थवाद की प्रक्रिया है क्या? यथार्थवाद की प्रक्रिया, फास्ट के अनुसार, जीवन के विस्तृत फलक से मर्म छवियों के चयन की है, जिनकी अन्तिम परिणति रूप-रुचि, लय तथा जीवन-दृष्टि के माध्यम से साहित्य के रूप में होती है। कोई भी लेखक प्रकृति का पर्याय नहीं प्रस्तुत कर सकता।[3]

कला स्वयं में एक सश्लेषण है और उसका रचयिता किसी भी अर्थ में भिन्न नहीं है। उसकी निष्पत्ति सर्जनात्मक होती है वह स्वयं सृष्टा है और उसके उपादान हैं जीवन के विभिन्न तत्व। अगर उसकी कलात्मक उपलब्धि सिर्फ उसी के लिये हो तब उसका कोई मूल्य नहीं है। कला स्वयं में वैयक्तिक वस्तु नहीं है कला के सम्पूर्ण अर्थ में जीवित रहने के लिये, हावर्ड फास्ट के शब्दों में, लेखक की कृति को उसके तथा उसके पाठकों के बीच प्रेषणीयता का सेतु निर्मित करना चाहिये और इस सेतु की सफलता ही सही अर्थों में कला की श्रेष्ठता का प्रतिमान है।[4]

गोर्की और समाजवादी यथार्थवाद

रूसी क्रान्ति के बाद 'सोवियत का आधार है समाजवादी यथार्थवाद' और गोर्की इस समाजवादी यथार्थवाद के जनक हैं। १९वीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों के रूसी साहित्य की तमाम खूबियों के बावजूद उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी रूसी किसानों की दुख झेलने की क्षमता और उसकी निष्क्रिय विनम्रता को आदर्श बनाकर पेश करना। टाल्सटाय भी इस कमजोरी के बुरी तरह शिकार थे। उन्होंने एक तरफ नेपोलियन के विरुद्ध रूसी जनता के शानदार संघर्ष की गौरव-गरिमा को महाकाव्यात्मक रूप में चित्रित किया है और दूसरी तरफ अपनी धार्मिक

---

१. पृष्ठ ३५—हावर्ड फास्ट Literature and Reality
"There is no other method than realism
where by art may be created"

२. „ ३५—वही।

३. „ ३६—वही।

४. „ ३७—वही।

रचनाओं, निबन्धों आदि में 'रूसी-किसान के दब्बूपन का गुण-गान कर उसे विरोधियों का विरोध न करने का उपदेश दिया।'[1]

गोर्की के हृदय में टाल्सटाय के प्रति पर्याप्त समादर की भावना थी। फिर भी उनकी निष्क्रिय विनम्रतावाद अथवा भाग्यवाद का उन्होंने समर्थन नहीं किया। उनका कहना था—"रूसी जनता का यथार्थवादी रूप पौराणिक अंध विश्वासों से जकड़े मार खाते किसान का नहीं है। उसका असली रूप है इन अंध-विश्वासों को तोड़कर नये युग का निर्माण करने वाले आगे बढ़ते हुये किसान का।"[2] इसी आदर्श को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपनी रचनात्मक कृतियों का निर्माण किया और इसे ही उन्होंने अपने समीक्षादर्श का रूप भी दिया है।

समाजवादी यथार्थवाद में निर्धारित साहित्य की रूप-रेखा स्पष्ट करते हुए उन्होंने जिन दो लक्ष्यों की ओर संकेत किया है, वे इसी के द्योतक हैं। समाजवादी यथार्थवाद के अनुसार, उनके मत से, साहित्य के द्वारा दो उद्देश्यों की पूर्ति आवश्यक है—प्रथमतः मनुष्य की प्रगति में बाधा डालनेवाली सभी अवरोधक शक्तियों को उनकी यथार्थता में उद्घाटित करना, पुन नये यथार्थ की सफलताओं को कलात्मक रूप देकर समेटना, सजोना तथा निर्धारित भविष्य की ओर अविराम गति से आगे बढ़ते हुये नये नायक को आदर्श पुरुष के रूप में प्रस्तुत करना।"[3] संक्षेप में उनके द्वारा प्रवर्तित तथा परवर्ती चिन्तकों द्वारा विकसित समाजवादी यथार्थवाद की रूपरेखा अपने ऐतिहासिक संदर्भ में निम्नलिखित है—

समाजवादी यथार्थवाद

१९वीं शताब्दी में पाश्चात्य कथा-साहित्य के अन्तर्गत यथार्थवादी आन्दोलन की एक जीवन्त परम्परा परिलक्षित होती है। इसके प्रारंभिक पुरस्कर्ताओं में चार्ल्स डिकेन्स, बालजक, फ्लावेयर, जोला आदि के नाम विशेष स्मरणीय हैं जिनकी कृतियाँ तद्युगीन समाज, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और अन्तत: समूचे सामाजिक जीवन के परिवेश का यथार्थ चित्र प्रस्तुत

१. पृष्ठ ७० श्री शिव वर्मा : 'सोवियत साहित्य में यथार्थवाद का विकास' समालोचक, यथार्थवाद-विशेषांक।

२ पृष्ठ ७१—श्री शिव वर्मा : सोवियत साहित्य में यथार्थवाद का विकास, समालोचक, यथार्थवाद-विशेषांक।

३ „ ७३ —वही।

करती है । यदि "बालजक के उपन्यासों में हमें दम तोड़ती हुई सामतवादी समाज-व्यवस्था सारी सड़ांध को लिये दृष्टिगोचर होती है, तो फ्लावेयर, जोला तथा पुनः बालजक की कतिपय कृतियां समस्त प्रकार के शोषण तथा अनैतिकता को प्रश्रय देने वाली पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में घुट-घुटकर जीने और मरनेवाले मनुष्य को हमारे समक्ष प्रत्यक्ष करती है और इस प्रकार प्रकारान्तर से पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के प्रति एक तीखी घृणा को जन्म देती है ।

किन्तु इस यथार्थवाद अथवा प्रकृतवाद की एक सीमा है जिसके अन्तर्गत फ्लावेयर, जोला, बालजक तथा उस युग के अन्य यथार्थवादी कथाकार बन्दी है । इनके उपन्यासों के चरित्र पूंजीवादी समाज–व्यवस्था की सारी अनैतिकता, उसकी शोषणवृत्ति को मूर्त तो अवश्य करते हैं किन्तु इस परिवेश को अतिक्रान्त कर, एक स्वस्थ जीवन की ओर किस प्रकार गतिशील हुआ जा सकता है, युग जीवन की सारी यन्त्रणा को समाप्त कर उनसे किस प्रकार मुक्त हुआ जा सकता है, इस तथ्य से अनभिज्ञ हैं । ये लेखक इतिहास की उस द्वन्द्वात्मक भूमिका को देखने में असमर्थ रह गये हैं जिसके अन्तर्गत प्रगतिशील तथा प्रतिगामी शक्तियों का चिरन्तन संघर्ष चल रहा है और अन्ततः प्रतिगामी शक्तियां पराजय की ओर मुड रही है और एक नये प्रगतिशील जीवन का विकास हो रहा है । इनके पात्र युग जीवन की परिस्थितियों से प्रभावित ही नहीं प्रताडित भी है, किन्तु साथ ही उन परिस्थितियों से संघर्ष कर उनमें परिवर्तन लाने की क्षमता से हीन भी है । 'इनके यहां केवल शोषण, अनाचार, पतन और पराजय की शक्तियां ही मुखर, है इन शक्तियों के साथ संघर्षरत और आगे आने के लिये आतुर उस दूसरी शक्ति का स्वरूप नहीं जो समस्त जर्जर, प्राचीन तथा प्रतिगामी को मिटाकर नये सृजन की वास्तविक नियामिका बनेगी ।" १९ वी शताब्दी के यथार्थवादियों की इसी सीमा की ओर लक्ष्य करते हुये गोर्की ने कहा था—

"This form of realism however, has not served and cannot serve, to educate socialist individuality, since while criticizing all things it has established nothing or at worst has returned to an affirmation of all it has itself denied.

यथार्थवादी आन्दोलन की इस पृष्ठभूमि पर समाजवादी–यथार्थ का आविर्भाव हुआ जो अपने पूर्व की सारी एकांगिता तथा विवशता का परिहार कर एक स्वस्थ तथा क्रान्तिकारी जीवन दृष्टि का परिचय देता है । सोवियत

लेखकों की १९३४ में पहली कांग्रेस में मैक्सिम गोर्की ने सर्वप्रथम समाजवादी-यथार्थवाद की घोषणा करते हुये तथा उसके महत्वपूर्ण उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुये कहा—

"Socialist realism proclaims that life is action, creativity. Whose aim is the unfettered development of man's most valuable abilities for his victory over the forces of nature, for his health and longivity for the great happiness of living on earth, which he uncofirmity with the constant growth of his requirements, wishes to cultivate as a magnificient habitation of a mankind united in one family"

इस प्रकार समाजवादी-यथार्थवाद मार्क्स तथा एँजिल्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की उस धारणा का अनुवर्ती है जिसके अनुसार दो परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच चलने वाली संघर्षमूलक स्थिति में ही एक विकासमान-परिवर्तन आने की निश्चित सम्भावना है। समाजवादी-यथार्थवाद का लेखक युग-जीवन को इसी दृष्टिकोण से युक्त होकर यथार्थता की द्वन्द्वात्मक भूमिकाओं में देखता है और भविष्य में आने वाले जीवन की आशावादी व्याख्या करता है। सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी समीक्षक राल्फ़फाक्स के अनुसार, समाजवादी यथार्थवाद के लेखक को 'निरेवर्णन या आत्मगत विश्लेषण में ही नहीं, बल्कि परिवर्तन में, कार्य-कारण सबंध में, संघर्ष और द्वन्द्व में सरोकार रखना चाहिये।' उसमें 'वस्तुओं के सारतत्व की खोज—उनके तात्विक भेदों को देख पाने की क्षमता तथा सभी स्तर के लोगों से अपनत्व स्थापित करने की क्षमता' होनी चाहिये। और 'तात्विक भेदों के भीतर प्रवेश करने का अर्थ है उन अन्तर्विरोधों को खोलकर रखना जो मानव कृत्यों को उत्प्रेरित करते हैं। इनमें मानव के चरित्र में निहित अन्तर्विरोध भी शामिल है और वे बाह्य असंगतियाँ भी जिनके साथ वे अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं।' इन दोनों आयामों में अपने दायित्व के निर्वाह के प्रति सजग दृष्टिवाला लेखक ही समाजवादी-यथार्थवाद की सच्ची अभिव्यंजना प्रस्तुत कर सकता है।

किन्तु अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे आधार-भूत तत्व क्या है जिनके आधार पर समाजवादी-यथार्थवाद के लेखक की सफलता की जाँच होगी? यदि संक्षेप में हम इन आधारभूत तत्वों का उल्लेख करना चाहें तो डॉ० शिवकुमार मिश्र के अनुसार, उनको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

वस्तुगत यथार्थ का उसके गतिशील विकास की पूर्वदिशा के सन्दर्भ में समाजवादी-दृष्टि के आधार पर चित्रण।

समाज-विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की भूमिका में प्रगतिशील तथा प्रतिगामी शक्तियों की परख।

ऐतिहासिक विकास की मूलभूत अन्तर्धाराओं का ज्ञान, नये को समर्थन देकर जर्जर प्राचीन का बहिष्कार, ऐतिहासिक समता; जीवन के 'पाजिटिव' पक्ष पर अधिक बल।

समाज में व्याप्त वर्ग संघर्ष तथा वर्गीय असंगतियों का गहरा और सूक्ष्म विश्लेषण तथा उद्घाटन।

मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अंकन, जीवित, सक्रिय तथा सामाजिक मनुष्य की प्रतिष्ठा, 'पाजिटिव' हीरो की सृष्टि।

भविष्य के एक क्रान्तिकारी, रचनात्मक तथा वैज्ञानिक दृष्टि से सम्पन्न तर्क-सम्मत का मूर्तीकरण।

उपर्युक्त व्यापक उद्देश्यों से परिचालित होते हुये भी समाजवादी-यथार्थवाद की एक वैचारिक सीमा है। समाजवादी-यथार्थवाद लेखक की यथार्थ जीवन के प्रति समाजवादी दृष्टि की महत्ता स्वीकार करता है। उसके लिए लेखक की एक मात्र सार्थकता यही है कि वस्तुगत यथार्थ को समाजवादी ढाँचे में प्रस्तुत करे। अतः जो आलोचक इस समाजवादी दृष्टि को नहीं स्वीकार करते उनके लिये समाजवादी-यथार्थवाद की सम्पूर्ण आकृति ही दोषपूर्ण, असंगत और एकांकी हो उठती है।

स्वाभाविक है कि वैचारिक मतभेदों की इस भूमिका पर किसी प्रकार के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। 'हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य वाजपेयी ने इसके अन्तर्गत एक प्रकार के 'राजनीतिक पूर्वाग्रह अथवा कट्टरता ......या ऐसे ही अन्य तत्वों' के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करते हुये भी इसके मूलभूत आदर्शों को अपने समर्थन का स्वर दिया है। उनके शब्दों में, 'यह एक वास्तविक जीवन दृष्टि है, जिसमें तात्कालिक यथार्थ और उसे गति और दिशा प्रदान करने वाला आकांक्षित भवितव्य दोनों का द्वन्द्वात्मक संयोग है। साथ ही इस दृष्टिकोण की भूमि भी पूर्णतया सामाजिक है। '' ऐंजेल्स ने इस आधार पर मानव समाज की चरम परिणति इसमें देखी है कि सामाजिक सहयोग के आधार पर मनुष्य अपनी समस्त परिस्थितियों का पूर्णतया सचेतन नियन्त्रण करे, वह निसर्ग की दया पर निर्भर न रहे, या आकस्मिक संयोग और घटनायें ही उसका भाग्य निर्णय न करें, किन्तु अपने भाग्य का नियेता स्वयं मनुष्य ही बने और ऐसा वह व्यक्तिगत रूप से करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। यह परिणति वर्गहीन समाज के सहयोग की भू

यह एक दृढ़ आशा का स्वर है, इसमें मानवता की चिर विजयनी आत्मा का पूर्ण विश्वासप्रदीप्त होता है।'

इलिया एहरेनबुर्ग

इलिया एहरेन बुर्ग ने अपने लघु निबन्ध 'The writer and his craft' के अन्तर्गत लेखक की रचना-प्रक्रिया का विस्तार सहित विवेचन किया है। किसी कृति का रचयिता, उनके अनुसार, विभिन्न प्रसंगों को यान्त्रिक विधि से दर्ज करने वाला उपकरण मात्र नहीं है। वह इसलिये नहीं लिखता है चूंकि वह लिखने की कला में निपुण है न इसलिये ही चूंकि उसके जीविकोपार्जन का वह माध्यम है बल्कि वह इसलिए लिखता है क्योंकि वह लोगों से कुछ कहना चाहता है, क्योंकि उसकी कृति निर्मित होने के लिये उसे विवश करती है अथवा उसने कुछ ऐसे व्यक्तियों का, वस्तुओं का और भावों का साक्षात्कार किया है जो अभिव्यक्ति पाने के लिये चीखते हैं। तभी, उसके अनुसार भावनात्मक कलाकृतियों का निर्माण होता है। इसी अर्थ में कला-कृति वास्तविकता पर आधारित होती है। कलाकार की कल्पना, व्यक्ति, वस्तु, भाव या क्रिया को किसी सीमा तक परिवर्तित कर सकती है, लेकिन यथार्थता से वह पूरी तरह विच्छिन्न नहीं होती। सामाजिक परिवेश उसे पग-पग पर नियंत्रित करता है, उसके विचारों को, उसकी संवेदनाओं को, उसके जीवन तथा उसके कृतित्व को प्रतिक्षण निर्धारित करता है।[१] अतः उससे विच्छिन्न होने की कल्पना की भी नहीं जा सकती।

फिर भी, किसी भी कलाकृति के निर्माण में रचयिता की मूलवर्ती भावना का स्वतन्त्र योग है जिसकी अन्तिम परिणति इलिया एहरेन बुर्ग के अनुसार, प्रवृत्तिमूलकता (Tendentiousness) के सन्निवेश में होती है।[२] पूँजीवादी विचारकों ने सोवियत लेखकों पर प्रायः यह आरोप लगाया है कि उनकी कृतियाँ प्रवृत्ति विशेष से ग्रस्त होती है। इस आरोप का उत्तर देते हुये एहरेन बुर्ग ने कहा है—'यह पूरी तरह स्वाभाविक है कि लेखक अन्य व्यक्तियों की तरह कुछ वस्तुओं को प्यार करता है और कुछ से घृणा करता है। वह न्याय, विवेक तथा बन्धुत्व की ओर आकृष्ट हो सकता है, सामाजिक विषमता, असमानता आदि से घृणा कर सकता है।'[३] ऐसी स्थिति में उसके लिये प्रवृत्ति

---

१. पृ० १२—The writer and his craft.
२. „ १३—वही
३. „ १३—वही

विशेष से युक्त होना कोई अभिशाप नही है। इलिया एहरेन बुर्ग के अनुसार उपन्यासो में प्रवृत्तिमूलकता का अर्थ है भावना तथा अनुभूति की तीव्रता। इस भावना तथा अनुभूति की तीव्रता के अभाव मे, उसके अनुसार, श्रेष्ठ कला का जन्म नही हो सकता। शैलीगत अभावो से मुक्त पाना आसान है, अन्य साहित्यिक दोषो से भी लेकिन आन्तरिक तटस्थता से मुक्त होना शीघ्र सम्भव नही है।[1]

इसके साथ ही रचयिता के अन्तर्गत एक और भी विशेषता अपेक्षित है। यह ठीक है कि उसके अन्तर्गत भावना तथा कल्पना का आवश्यक योग हो लेकिन इसके साथ ही इतिहास की दिशा को पहचानने की क्षमता भी होनी चाहिये तभी वह सामाजिक जीवन मे होने वाले परिवर्तनो का साक्षात्कार कर सकता है।[2] इस क्रम मे उसकी दृष्टि वही तक नही जाती जहाँ तक सामान्य व्यक्ति की जाती है। सामाजिक जीवन की विभिन्न स्थितियो तथा पात्रो की आन्तरिक महत्ता मे प्रवेश करते हुये उनके अन्तर्गत होने वाले परिवर्तन तथा विकास को परख लेना ही लेखक की सबसे बडी विशेषता है। इसके लिये एहरेन बुर्ग ने लेखक मे निरीक्षण की क्षमता तथा उसकी वृत्ति (Recep-tive nature) की सजगता अपेक्षित मानी है तभी वह वस्तुतत्त्व को उसकी समस्त विशेषता मे ग्रहण कर सकता है और अपनी कलाकृति मे कल्पना के माध्यम से उसका नियोजन भी।[3]

मार्क्सवादी आदर्शों के साहित्यिक प्रतिफलन की यह एक सामान्य रूप रेखा है। जहाँ तक प्रथम कोटि के विचारको का प्रश्न है—जैसा कि मै प्रारम्भ मे कह चुका हूँ मार्क्सवादी आदर्शों से वे प्रत्यक्षत सम्बद्ध न थे। इनमें से कई का आविर्भाव तो मार्क्स के पहिले ही हुआ था लेकिन पाश्चात्य समीक्षा के अन्तर्गत साहित्य के सामाजिक आदर्शों के प्रति विशेष आग्रह व्यक्त करने का श्रेय इन्ही के द्वारा प्रारम्भ हुआ। इनके पहले पश्चिमी साहित्य-चिन्तन अधिकतर

१. पृ० १६—The writer and his craft

It is far easier to get rid of stylistic lapses weak composition and other literary defects than to free oneself of inner coldness

२. Page 17 · It is well if the writer possesses a rich imagination but that alone is not enough

. . . . . Perhaps, then, the most essential quality in a writer's gift is the ability to apprehend the course of history.

३. पृष्ठ १६—The wr

वैयक्तिक होकर कलावादी आदर्शों की ओर मुड़ने का उपक्रम कर रहा था। यह अतिवादिता फ्रांस में विशेष रूप से लक्षित हुई थी। प्लेखनोव ने अपने निबंध 'कला और सामाजिक जीवन' के अन्तर्गत इसका विस्तार सहित विवेचन किया है। परिणामतः, इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का बीज-वपन भी वहीं हुआ। सैन्त ब्वे तथा तेन का समीक्षा कार्य इसी का प्रतिफलन था। यद्यपि इसे मात्र प्रतिक्रिया रूप ही हम नहीं कह सकते। इसके पीछे एक सुनिश्चित विचार-धारा का प्रवाह भी था जिसे हम समाज-शास्त्रीय विचार धारा कह सकते हैं। जहाँ तक साहित्य के सामाजिक आदर्शों के संकेत का प्रश्न है पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में अवश्य ही यह इनका एक महत्वपूर्ण प्रदेय था। कलाकृतियों के निर्माण में रचयिता की बाह्य जीवन-स्थितियों का तथा स्रोतों का जो उसके जीवन को प्रभावित करते हैं, आवश्यक योग है—यह इनका महत्वपूर्ण निष्कर्ष था। लेकिन इसके साथ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इनका दृष्टिकोण बहुत कुछ यांत्रिक था—साहित्यिक न होकर जीव-शास्त्रीय था। ये प्राकृतिक तथ्यों तथा कला कृतियों में किसी प्रकार का अन्तर स्थापित करने के पक्ष में न थे। सामाजिक परिवेश तथा साहित्य के बीच केवल कार्य कारण संबंध दिखला देना ही इनकी समीक्षा की सीमा थी। साहित्य के सामाजिक आदर्शों की सही स्थापना वस्तुतः रस्किन, टालस्टाय तथा बेलिन्सकी द्वारा ही हुई। ये मूलतः भाववादी विचारक थे, फिर भी साहित्य के रचनात्मक पक्ष की ओर इनकी दृष्टि विशेष रूप से लगी थी। टाल्स्टाय के मत से प्रेषणीयता अथवा संक्रमणशीलता (Infection) ही कला का आवश्यक धर्म था। वह उसे सामाजिक जीवन के नियमन का आवश्यक उपकरण भी मानता है। बेलिस्की में आदर्शवादिता के बीज रहते हुए भी यथार्थता का विशेष आग्रह किया। मार्क्सवादी आदर्शों का पूर्वाभास वस्तुतः उसी के चिन्तन में लक्षित होता है। परवर्ती विचारक चर्निशेवस्की में भौतिकवादी आदर्शों की पूरी व्याप्ति थी लेकिन साहित्य-चिन्तन की जो समग्रता बेलिस्की में लक्षित होती है वह उसमें नहीं दीखती। तात्विक होते हुये भी उसका साहित्य-चिन्तन एकांगी आदर्शों से ही परिचालित है।

मार्क्सवादी चिन्तन की दूसरी कोटि के अन्तर्गत भी इसी प्रकार की एकांगिता और इसमें भी अधिक अतिवादिता व्यक्त हुई है। लेनिन से लेकर माओत्से-तुंग तथा ख्रुश्चेव तक साहित्य चिन्तन की जो परम्परा विकसित हुई है, भले ही मार्क्सवादी साहित्य पर इसका पर्याप्त प्रभाव रहा हो साहित्य-विवेचन की दृष्टि से वह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। साहित्य के व्यावहारिक आदर्शों के संबंध में संकेत करना अथवा समाज के नव-निर्माण से उसका

आवश्यक संबंध निर्धारित करना ही उनके चिन्तन की महत्वपूर्ण विशेषता है। साहित्य उनकी दृष्टि में उनके आदर्शों के अनुरूप निर्मित होने वाले सामाजिक जीवन का एक आवश्यक उपकरण है। इसलिये उन्होंने उसके उन्हीं पक्षों पर विशेष बल दिया है जिनसे व्यावहारिक उद्देश्यों की सिद्धि हो।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की तीसरी कोटि प्लेखेनोव, काडवेल तथा रेल्फ फाक्स प्रभृति साहित्य समीक्षकों के कृतित्व से निर्मित हुई है। अपनी प्रारंभिक मान्यताओं में यद्यपि इस कोटि के विचारकों ने भी एक प्रकार की यांत्रिकता का परिचय दिया था—प्लेखनोव प्रभृति समाज-शास्त्रियों ने साहित्य तथा कला को समाज के आर्थिक जीवन तथा उसकी उत्पादन प्रणाली से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध करते हुये भी उसकी स्वतंत्र विशेषताओं की प्रायः उपेक्षा ही कर दी थी। काडवेल भी इस भ्रान्ति से मुक्त न थे फिर भी समग्रता में उनके द्वारा किया गया कार्य पाश्चात्य साहित्य चिन्तन के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रदेय के रूप में स्वीकृत है। काव्य के विशिष्ट उपकरणों तथा तत्वों को सैद्धान्तिक स्तर पर विश्लेषित करने के अतिरिक्त उन्होंने आंग्ल-साहित्य के परवर्ती विकास की भी बड़ी विशदता के साथ विवेचन किया है। रेल्फ फाक्स का समीक्षक व्यक्तित्व इस कोटि के अन्तर्गत शायद सर्वाधिक संतुलित और उदार था। मार्क्स के निष्कर्षों के संबंध में उन्होंने जो निजी अभिमन्यक्त किये हैं उनसे पूर्ववर्ती विचारकों द्वारा उत्पन्न तथा विकसित भ्रान्तियों का बहुत कुछ निवारण भी हो सका है। हिन्दी के आधुनिक समीक्षकों ने इन्हीं के तर्कों का सहारा लेकर अपने विरुद्ध लगाये गये आरोपों का बहुत दूर तक समाधान प्रस्तुत किया है। हावर्ड फास्ट, गोर्की और इलिया एहरेन बुर्ग मूलतः समीक्षक न होकर रचनाकार हैं। इसलिये इनकी समीक्षा को आनुषंगिक कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। गोर्की के साहित्य-चिन्तन का विशेष महत्व 'समाजवादी यथार्थवाद' से उनकी सम्बद्धता को लेकर है। यद्यपि इसके मूल में प्रथमतः लेनिन के आदर्शों की ही अभिव्यक्ति थी फिर भी वे इसके प्रवर्तक रहे हैं। परवर्ती चिन्तकों ने इसे पर्याप्त व्याप्ति दी है। इलिया एहरेन बुर्ग के काव्य-रचना संबंधी विचार इस व्याख्या के ही परिचायक हैं।

अध्याय ३

हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का उद्भव और विकास

हिन्दी में प्रगतिशील भावना का विकास

हिन्दी में प्रगतिवाद का उद्भव भारतीय साहित्य की उस विशाल परंपरा का अंग है जिसके मूल में लोक-मंगल की भावना निहित रही है। भारतीय साहित्यशास्त्री प्रारंभ से ही साहित्य में 'शिवतत्व'[1] की प्रतिष्ठा पर बल देते रहे हैं। रामायण और महाभारत जैसे प्रारम्भिक महाकाव्यों में सत्य की प्रतिष्ठा के साथ असत्य की पराजय का भी आख्यान है। इसी परम्परा में प्रभावित एवं विकसित *'हिन्दी साहित्य,'* आचार्य बाजपेयी के शब्दों में, 'सदैव जन-समाज का साहित्य बनकर ही अपनी समृद्धि करता आया है।[2]'

हिन्दी साहित्य की इस प्रगतिशीलता की भावना के क्रमागत विकास को परखने में भारतेन्दु-युग का अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण है। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – 'देश भक्ति, परोपकार, भावना, मातृ-भाषा के प्रति प्रेम, समाज-सुधार और पराधीनता के बंधन से मुक्ति इन दोनों की प्रगतिशील मनोवृत्तियों के चिह्न हैं।[3]' राष्ट्रीय भावना का प्रतिष्ठापन करते हुये इस युग के साहित्यकारों में देश की सामाजिक एवं आर्थिक दुर्दशा से उत्पन्न क्षोभ की व्यंजना के स्वर प्रमुख है। अंग्रेजों द्वारा भारतीय शिल्प-कला, उद्योग-धंधे आदि पर प्रहार के कारण देश में आर्थिक संकट की सूचना इस युग के कवि ने यथास्थल दी है।[4] उनकी कृतियों में सामाजिक दुरावस्था

---

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये।
सद्य. परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे ॥ — आचार्य मम्मट।

२. आचार्य बाजपेयी : आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५०।

३ आचार्य द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, „ ३९६।

४. जहाँ कृषी, वाणिज्य, शिल्प सेवा सब माही।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं ॥
—डॉ० राम विलास शर्मा कृत 'भारतेन्दु-युग' से उद्धृत, पृष्ठ १५३।

और कुप्रथाओं के विनाश, धार्मिक रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों का खण्डन और आवश्यक समाज-सुधार की पुकार भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है।[1]

यह एक विचित्र प्रहेलिका ही है कि इस युग की राष्ट्रीयता का आरम्भ तो होता है राजभक्ति[2] से और उसका पर्यवसान होता है देशभक्ति[3] में। इस सबध में डॉ० केसरीनारायण शुक्ल का मन्तव्य है कि 'राजभक्ति और देशभक्ति का स्वर-संयोग कुछ लोगों को बेसुरा प्रतीत होता है और उनको आश्चर्य में डाल देता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। वह युग ही ऐसा था जिसमें राजभक्ति और देशभक्ति का सामंजस्य सम्भव था।[4]'

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युगीन साहित्यकारों ने यद्यपि अपने युग के सबंध में अन्तर्विरोधी वक्तव्य भी दिये हैं, परन्तु उनकी कृतियाँ तत्कालीन देश-दशा का बहुत कुछ यथार्थ चित्रण भी करती हैं, तथा साहित्य में यथार्थवाद की एक नयी परम्परा का सूत्रपात करती हैं। यही यथार्थवादिता क्रमशः विकसित होते हुये बाद को साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गयी। परन्तु भारतेन्दु युगीन लेखकों को सकीर्ण अर्थ में यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। डॉ० शुक्ल के अनुसार 'उनको यथार्थवादी इसलिये————कहा गया है कि वे युग की आवश्यकताओं और वास्तविकताओं को समझते थे और उनको साहित्य के बीच स्थान दे रहे थे।[5]'

भारतेन्दु-युग में साहित्य और समाज का जो व्यापक संगम हुआ वह द्विवेदी-युग में निरन्तर विकसित होता गया। सुधारवाद और मर्यादावाद की प्रधानता से आद्यन्त पूर्ण इस युग के साहित्य में समाज-सेवा का भाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। समाज-सुधार के हेतु प्राचीन चरित्रों की अवतारणा इस युग की कृतियों में द्रष्टव्य है। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में — 'यदि वाल्मीकि के राम वीर क्षत्रिय और आदर्श सम्राट थे और यदि मध्य कालीन तुलसी के राम 'कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम्' के प्रतीक महामानव थे, तो हमारी इस ————पीढ़ी के कवियों के लिये वे नव भक्ति-धर्म, सुधार,

१. आवश्यक समाज-संशोधन करो न देर लगाओ-प्रेमघन।
२. राजभक्त भारत सरिस, और ठौर कहुँ नाहिं-प्रेमघन।
३. तब सब होवो भारत [illegible], रहयो [illegible] —प्रतापनारायण मिश्र।
४. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत पृ० १००।
५. –वही–, पृष्ठ ९८।

चरित्रवान् नेता और व्यवहार–कुशल नागरिक बन गये थे ।'[1] इस युग के साहित्य और राजनीति–उभय क्षेत्रों में गांधी जी तथा कांग्रेस का प्रभाव परिलक्षित होता है । मैथिलीशरण गुप्त और 'हरिऔध' इस युग के दो प्रतिनिधि कवि हैं जिनकी कृतियों में गांधीवाद के प्रगतिशील तत्वों का निदर्शन हुआ है । मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' इस युग की वाणी को पूर्णरूपेण प्रतिध्वनित करती है । 'हरिऔध' के 'प्रिय-प्रवास' की राधा भारतीय नारी की जागरूकता का प्रतीक है । इन सबके अतिरिक्त जाति-पाँति, छुआछूत, स्त्री की सामाजिक स्थिति, विधवा और बाल-विवाह जैसी सामाजिक समस्यायें भी इस युग के साहित्य में मुखर हैं ।

भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी युग के साहित्य में प्रगतिशील मनोवृत्तियों की जो झलक दिखाई पड़ती है उसकी व्याप्ति केवल काव्य तक ही नहीं है, गद्य के विविध आयामों तक भी उसका विस्तार है । गद्य के क्षेत्र में उपन्यासों के माध्यम से प्रगतिशील मनोवृत्तियों की सर्वाधिक अभिव्यंजना प्रेमचन्द जी की लेखनी से सम्पन्न होती है । प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उत्तर भारत के ग्रामीण एवं मध्यवर्गीय जन-जीवन की बहुमुखी समस्याओं की कलात्मक नियोजना है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'प्रेमचन्द शताब्दियों से पद-दलित, अपमानित और निष्पोषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्व के प्रचारक थे ।'[2] अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द जी ने ग्रामीण जीवन की समस्याओं एवं संघर्षों के चित्रण के साथ मध्यवर्गीय जीवन की मार्मिक यथार्थताओं पर प्रहार किया है ।

इसी प्रकार 'कंकाल' और 'तितली' में प्रसाद जी की दृष्टि मूलतः सामाजिक जीवन की यथार्थताओं पर ही केन्द्रित है । कंकाल में प्रसाद जी ने, आचार्य वाजपेयी के अनुसार, 'हमारी आलोचना और आभिजात्य की मान्यताओं पर एक बड़ा प्रश्न चिह्न लगाया है । हमारे 'आदर्शवादी' चरित्र को भी वास्तविक परिस्थितियों में परखकर उसे कच्चा सिद्ध किया है ।'[3] 'तितली' में भी लेखक ने ग्रामीण जीवन की यथार्थता का उद्घाटन करते हुए जमींदारी प्रथा के उन्मूलन और भूमि समस्या के प्रति जो क्रान्तिकारी सुझाव उपस्थित किये हैं, वे उनकी प्रगतिशीलता के ही सूचक हैं ।

---

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १२ ।
२ हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४१५ ।
३. आधुनिक साहित्य, „ ४१ ।

काव्य तथा उपन्यास के अतिरिक्त, इस युग की साहित्य-समीक्षा में भी 'प्राचीन आध्यात्मिकता की अपेक्षा, एक व्यावहारिक आदर्श की ओर' विशेष रूप से झुकाव लक्षित होता है। इस युग की परिसमाप्ति के क्षणों में आचार्य शुक्ल के समस्त चिन्तन की यही विशेषता है, जिसकी परिणति कहीं आदर्शात्मक बुद्धिवादी और कहीं रसवाद के रूप में हुई है। आचार्य शुक्ल का समग्र साहित्यिक आदर्श वस्तुतः लोक मंगल के सूत्र में ही ग्रथित है। उनके द्वारा काव्य के स्वतंत्र उपकरणों तथा तत्वों का विश्लेषण भी इससे सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। उनकी व्यावहारिक समीक्षा में—सूर, तुलसी आदि की श्रेष्ठता का यह प्रमुख निकष तो है ही, सैद्धान्तिक समीक्षा में भी इसी की व्याप्ति है।

हिन्दी का प्रगतिवादी आन्दोलन हिन्दी-साहित्य की इसी विकासशील, सामाजिक परम्परा का एक अंग है।

तिथि-निर्धारण

साहित्यिक परिस्थितियाँ १९३६ में इस नये युग को सम्भव बनाती हैं तथा छायावादी 'युगान्त', प्रगतिवाद की 'युगवाणी' का आह्वान करता है।

प्रगतिवादी आन्दोलन के उद्भव की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

हिन्दी साहित्य में प्रगतिवादी आन्दोलन का उद्भव तथा विकास एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि का परिणाम है। यों तो प्रत्येक प्रकार की चिन्ता-धारा के मूल में उस युग विशेष की विविध परिस्थितियाँ सक्रिय रहती हैं परन्तु प्रगतिवाद तथा समाजवाद के रूप में सन् १९३६ के आसपास साहित्यिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में जिस नये युग की प्रतिष्ठा हुई उसके मूल में सन् १९३० के आसपास से लेकर सन् १९३६ और उसके कुछ पश्चात् तक की उपर्युक्त परिस्थितियों का विशेष योग रहा है। साहित्य तथा सामाजिक जीवन के जिस गतिरोध ने, फासिज्म तथा नाजीवाद की जिन विरूप छायाओं ने द्वितीय महायुद्ध के सम्भावित संकट से त्रस्त योरोप की धरती के बुद्धिजीवियों को सन् १९३५ में पेरिस में प्रगतिशील लेखक संघ के मंच से गतिरोध तथा जड़ता को दूरकर विकास की नई दिशाओं की ओर देखने के लिये बाध्य किया था, प्रथम महायुद्ध के पश्चात् का भारतीय जीवन भी महायुद्ध की सम्भावित छाया के नीचे यहाँ के बुद्धिजीवियों को कुछ वैसा ही सोचने के लिये विवश कर रहा था।

पूँजीवाद अपने निर्मम शोषण चक्र को लिये हुये शनैः शनैः सघन होता जा रहा था। उन्मुक्त प्रतियोगिता तथा स्वतन्त्र बाजार की उसकी नीतियाँ न केवल आर्थिक शोषण की प्रक्रिया को तीव्रतर बना रही थी वरन् मनुष्य और मनुष्य के बीच स्थित समस्त प्रकार के सामाजिक संबंधों के मूल में अर्थ की प्रतिष्ठा कर उनके पारस्परिक सहयोग की भूमिका को भी लगभग समाप्त कर देने का उपक्रम कर रही थी। इस नीति का ही परिणाम था कि एक ओर तो उत्पादन के सारे साधनों पर अपने एकाधिकार के कारण एक विशेष सुविधा भोगी वर्ग देश की समस्त पूंजी को अपने आधीन करता हुआ पूंजी का साम्राज्य कायम कर रहा था वहाँ दूसरी ओर उसके निर्मम शोषण चक्र में पिसते हुये जन-साधारण की स्थिति उत्तरोत्तर दयनीय बनती जा रही थी।[1] ग्रामीण क्षेत्रों

---

१. (क) मजदूर बस्तियों में व्याप्त भीषणतम गंदगी तथा उनके भारतीय जीवन पर आर्थिक टिप्पणी करने के पश्चात् Whitley report सूचित करती है,'

(शेष पृष्ठ ९० पर)

में यही दयनीय दशा सामंतवादी अत्याचारों के लक्ष्य किसान वर्ग की थी। प्रसिद्ध समाजवादी विचारक अशोक मेहता ने अपनी एक पुस्तक में शनैः शनैः सघन से सघनतर होती हुयी भारतीय सामाजिक जीवन में व्याप्त इस विषमता [illegible] को स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है।[1]

पूंजी का यह असमान वितरण ही था जिसने भारतीय समाज में छोटे बड़े अनेक वर्गों को जन्म दिया और इस प्रकार समाज की संश्लिष्ट इकाई को विच्छिन्न कर दिया। मुख्य रूप से समाज में तीन वर्गों की सत्ता दीख पड़ी। प्रथम उच्च वर्ग जो पूंजीपतियो तथा जमीदारो का वर्ग था; द्वितीय मध्य वर्ग जिसमे समाज का अधिकांश शिक्षित जन-समुदाय सम्मिलित था;

पृ[illegible]

तृतीय निम्न वर्ग जिसके अन्तर्गत किसान, मजदूर अथवा इसी स्तर के अन्य लोग थे। पूंजी की चोट से सबसे अधिक पीड़ित समाज के निम्न तथा मध्य वर्ग ही थे। वस्तुतः यह इन वर्गों के जीवन और मरण का प्रश्न था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा देशी पूंजीवाद तथा सामन्तवाद के दुहरे और तिहरे प्रहार इन पर हो रहे थे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि ये या तो जीवन भर समाज की शोषण सत्ता का लक्ष्य बनते रहें अथवा उसे चुनौती दें। अपनी अनेक संस्कारगत प्रवृत्तियों के कारण मध्य वर्ग तो विशेष सक्रिय न हो सका परन्तु किसान और मजदूरों ने तेजी से दूसरा मार्ग अपनाया।[1] फलतः भारतीय आर्थिक राजनीतिक इतिहास में प्रथम बार किसान और मजदूर आन्दोलनों का श्री गणेश हुआ। एक ओर नये-नये अभियान (किसान-मार्च) देख पड़े, दूसरी ओर हड़ताल तथा तालाबन्दी के संदर्भ में मजदूरों के जुलूस। रूस की राज्यक्रांति को संपन्न हुये अभी बहुत थोड़ा समय ही बीता था परन्तु १०-१२ वर्षों के इस अवधि में ही वहाँ की जनता ने जैसे अपने अर्ध-खेतिहर राष्ट्र की काया पलटकर दी हो। रूस के इस नव-निर्माण ने साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद से संघर्ष करती हुई भारतीय जनता को पर्याप्त प्रेरणा दी। उनके हृदय में इस समाजवादी विचार-धारा के लिये एक तीव्र आकर्षण जगाया जो उसकी समस्त प्रगति की विधायिका थी।

समाजवादी विचार-धारा का प्रभाव देश के बुद्धिजीवियों से लेकर जन-सामान्य तक गहराई से पड़ा। हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के कर्णधार कांग्रेस के नेतागण भी उससे अप्रभावित न रहे। सन् १९३१ कराची-अधिवेशन भारतीय राजनीतिक जीवन में उस समय एक नये अध्याय को खोलता है जब कि प्रथम बार कांग्रेस के मंच से किसानों तथा मजदूरों के लिये अनेक

---

१. "जहाँ तक जीवन भर रक्त की होली खेलने वाले अहिंसा की तरफ आकर्षित हो रहे थे या कम से कम हिंसा से मुंह मोड़ते जा रहे थे वहाँ दूसरी तरफ असंख्य किसान सैकड़ों मील चलकर गाँवों में आते थे और अपने संगठन अलग कायम करते थे। ये नये संगठन कम या अधिक मात्रा में कांग्रेस के विरुद्ध होते थे इसके लिये उन्होंने एक उद्देश्य, एक झण्डा और एक नेता मिल गया। ··· किसानों के नेताओं ने देहातों में दूर-दूर तक दौरे किये। ·········।" —पट्टाभि सीता रमैया 'कांग्रेस का इतिहास' भाग २, पृष्ठ ७३।

Also refer—*A. R. Desai* : Sociological background of Indian nationalism—Page. 179

प्रकार की सुविधाओं की माँग की जाती है तथा भविष्य में समाजवादी चेतना के अनुरूप आगे बढ़ने का संकल्प किया जाता है।[१]

सन् १९३६ में अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना होती है जिसका प्रथम अधिवेशन दिसम्बर १९३६ में ही फैजपुर में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन के साथ होता है। अखिल भारतीय किसान सभा के समान ही अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना मजदूर वर्ग के हितों की सुरक्षा की दिशा में एक नया अध्याय खोलती है।

इस युग में मजदूर वर्ग जिन क्रान्तिकारी भूमिकाओं से होकर गुजर रहा था उसे रजनीपामदत्त ने अपनी पुस्तक 'भारत-वर्तमान और भावी' में बड़ी स्पष्टता से अभिव्यक्त किया है।[२] सन् १९१८ से १९२० के बीच ऐतिहासिक हड़तालों की एक शृंखला सी दीख पड़ती है जो शीघ्र ही समस्त देश को अपने में जकड़ लेती है। सन् १९२० के प्रथम छः महीनों में ही समस्त देश में कोई दो सौ हड़तालें होती हैं जिनमें पन्द्रह लाख मजदूर भाग लेते हैं। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस इन्हीं परिस्थितियों में जन्म लेकर अपने दायित्व का निर्वाह करती है। सन् १९२९ के प्रारम्भ होते होते इन किसान और मजदूर आन्दोलनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की मूल भूमिका को प्रभावित किया। फलतः राजनीतिक आकांक्षा के साथ-साथ आर्थिक दासता से मुक्ति पाने की कामना भी इस युग की श्रमिक चेतना का अविभाज्य अंग बन गई। जहाँ समाज

---

१. "आर्थिक जीवन के संगठन में न्याय के सिद्धान्त अवश्य सन्निहित होने चाहिये कि जिससे जीवन निर्वाह का एक उपयुक्त स्टैण्डर्ड प्राप्त हो जाये।"

—पट्टाभि सीतारमैया, 'कांग्रेस का इतिहास', भाग १, पृष्ठ ४६८-४६९

'प्रस्ताव में यह भी घोषित किया गया था कि शासन सूत्र हाथ में आ जाने के पश्चात् सरकार के किसी भी कर्मचारी का वेतन पाँच सौ रुपये से अधिक न होगा।'—नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ १०।

२. 'पहला महायुद्ध खतम होने के बाद भारत में जिस प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा हो गयी थीं, और इस देश पर रूसी राज्य क्रान्ति तथा उसके बाद सारी दुनियाँ में उठने वाली क्रान्तिकारी लहर का जो प्रभाव पड़ा था, उसके कारण भारत का मजदूर वर्ग मानों एक छलांग मारकर कर्मभूमि में उतर आया।'

—भारत : वर्तमान [illegible]

अन्य वर्ग स्वतन्त्र भारत का स्वप्न देख रहे थे, भारत का मजदूर वर्ग स्वतन्त्र माजवादी भारत के अपने स्वप्न को साकार करने के लिये संघर्षरत था।[1]

राजनीतिक दृष्टि से भी सन् १९३० के बाद का युग अस्त-व्यस्त स्थितियो ा काल है। स्वाधीनता प्राप्ति के हेतु किये गये प्रयासो की असफलता से ारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे पलायन एव जडता का समावेश हुआ। सन् ९२० के कलकत्ता कांग्रेस मे विचारित अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन की ोजना तथा सन् १९२९ में लाहौर कांग्रेस मे विचारित सक्रिय आंदोलन की ाकांक्षा चिर स्थायी न बन सकी। ४ मार्च १९३१ को सम्पन्न गांधी-इरविन मझौते ने आंदोलन को समाप्ति के निकट ला दिया। इस समझौते की ात्कालिक प्रतिक्रिया निम्नलिखित पंक्तियो मे दृष्टव्य है—

"Was it for this that our people had behaved so gallantly for a year? Were all our brave words and deeds to end in this? The independent resolution of the congress, the pledge of Jan-'26 so often repeated? So I lay and pondered on that March night, and in any heart there was a great empitiness as of something precious gone, almost beyond recall

"This is the way world ends
Not with a bang, but auhimper."

(—Jawaharlal Nehru 'Autobiography')

ऊपर से सब कुछ वैसा ही था, वैसा ही रूप रंग, वैसा ही नारे, वैसा ही संघर्ष, वैसे ही लोग, वैसे ही शब्द, लेकिन पंडित नेहरू के शब्दों में, मन मे एक विराट रिक्तता आ गई, जैसे कुछ बहुत मूल्यवान हमेशा-हमेशा के लिये चला गया।'[2]

इसी बीच शिक्षित भारतीय जन-समुदाय की दृष्टि रूस की राज्य क्रान्ति के पश्चात् अर्जित सफलता की ओर गई। समाजवादी आदर्शों से अनुप्राणित

1. The Indian working class, like the working classes of other countries being divorced from the modern means of production, which in itself operated on the basis of wage system, increasingly gravitated to the conception and programme of a socialist society............while the other classes of contemporary Indian society desired a free India, Indian Labour dremt of a free socialst India. —A. R. Desai Sociological background of Indian nationalism—P. 13.
२. देखिये—नयी कविता १९६०-६१ संयुक्तांक ५-६ पृष्ठ ८१ से उद्धृत

इस सफलता ने समस्त संसार के पराधीन देशों में आशा एवं जागृति का संचार किया। सन् १९३१ के करांची-कांग्रेस में इस बात की पुष्टि की गई कि—'साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता में लाखों भूखे मरने वालों की आर्थिक स्वतंत्रता निहित हो।'[1]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में समाजवादी चेतना का प्रसार करांची अधिवेशन के पूर्व से होता आ रहा था। सन् १९२६ में कांग्रेस महासमिति ने जो कौंसिल संबंधी कार्य-क्रम बनाया था, राष्ट्रीय जीवन स्तर की उचित वृद्धि तथा देश के आर्थिक कृषि संबंधी उद्योग एवं व्यापार संबंध हितों की उन्नति का स्पष्ट उल्लेख था। १९३४ तक आते आते कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी पार्टी की स्थापना हुई जिसने समाजवाद को स्पष्ट रूप से अपना लक्ष्य घोषित किया। सन् १९३६ में पंडित नेहरू ने लखनऊ में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्षपद से स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि 'चाहे समाजवादी सरकार की स्थापना सुदूर भविष्य की ही बात क्यों न हो और हममें से बहुत लोग उसे अपने जीवन में भले ही न देख पायें लेकिन समाजवाद वर्तमान में वह प्रकाश है जो हमारे पथ को आलोकित करता है।'

इन स्थितियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक धरातल पर देश में एक ओर समझौतावादी प्रवृत्ति भले ही फूटती रही हो, दूसरी ओर से समाजवादी चेतना की लहर भी आवश्यक प्रसार पाती रही। इस स्थिति का विवेचन करते हुए श्री रजनीपामदत्त ने कहा है कि '१९३०-३४ का संघर्ष व्यर्थ नहीं गया। उसकी भट्ठी में तपकर जनता में एक नयी और पहले से अधिक दृढ़ राष्ट्रीय एकता, एक नया आत्म विश्वास, एक नया गौरव और नई दृढ़ता उत्पन्न हुई।'[2]

सांस्कृतिक दृष्टि से देखा जाय तो सन् १९३० के पश्चात् का यह समय युग की दो प्रधान विचार धाराओं के मंथन और संघर्ष का काल है जबकि एक ओर तो अपने सर्वोदय तथा रामराज्य के आदर्शों को लिये हुए गांधीवाद भारतीय जन जीवन को आकृष्ट करता है तो दूसरी ओर ऐतिहासिक भौतिक दृष्टि, क्रान्ति तथा वर्ग-विहीन समाजवादी समाज की स्थापना का उद्देश्य लिए समाजवाद युग की चेतना का आह्वान करता है। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सूचित करती हैं कि सन् १९३६ के पश्चात् यह समाजवाद किस प्रकार युग-

---

१. देखिये—कांग्रेस का इतिहास—भाग १ पट्टाभि सीतारमैया—पृ० ४६८-६९
२. रजनीपामदत्त—'भारत-वर्तमान और भावी, पृष्ठ १९१

धर्म के रूप में स्वीकृति प्राप्त करता है या कम से कम गांधीवादी विचार धारा की समतुलना में प्रतिष्ठित हो जाता है। डॉ० पट्टाभिसीतारमैया ने अपने 'कांग्रेस का इतिहास' में इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप में स्वीकार किया[1] तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू का अनेक कथन तो उसे पूरी तरह प्रमाणित करते हैं।[2] संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कतिपय वर्षों का भारतीय समाज व्यापक अर्थों में समाजवादी विचार धारा से बल पा रहा था जिसकी अन्तिम परिणति राष्ट्रीय आन्दोलन की जागरूकता तथा अन्ततः साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद की प्रतिष्ठा में हुई।

साहित्यिक पृष्ठभूमि

प्रगतिवाद के रूप में जिस नवीन साहित्यिक चेतना ने सन् १९३६ में अपने को अभिव्यक्त किया, युगीन स्थिति की पृष्ठभूमि में वह कितनी अनिवार्य थी इसे पूर्ववर्ती युग की साहित्यिक गतिविधियों पर संक्षिप्त रूप से दृष्टिपात करके स्वतः जाना जा सकता है। यह स्वीकार करते हुए भी कि पूर्व युग के अनेक साहित्यकार गंभीरता पूर्वक अपने दायित्व को निभा रहे थे, समग्रत स्थिति बहुत अच्छी न थी। साहित्य का जीवन तथा समाज से जो अविच्छिन्न संबंध होता है अथवा होना चाहिये तथा जिस पर हमारे साहित्य मनीषी बहुत पहले से बल देते आये हैं उनको अपेक्षित महत्व नहीं मिल पा रहा था। समाज और जीवन की वास्तविकताएँ विषम से विषमतर हो रही थी और हमारा साहित्य बिलकुल भिन्न दिशाओं में जाता प्रतीत हो रहा था। यही सब अनुभव करके ही कदाचित् मुंशी प्रेमचन्द ने अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुये कहा था—

---

१. इस को देखकर यहां लोगों की कल्पनायें जागतीं, आशायें और आकांक्षायें उभरतीं और अपने पड़ोसी एकांगी किन्तु आकर्षक कथाओं को सुनकर भावनायें सजीव होतीं। कांग्रेस का इतिहास—खण्ड २ पृ० ४

२. फैजपुर में समाजवादी सम्मेलन को भेजे गये अपने संदेश में पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—'जैसा कि आप लोगों को मालूम है मुझे हर समस्या के प्रति समाजवादी दृष्टिकोण में बड़ी भारी दिलचस्पी है। इस पद्धति के पीछे जो सिद्धान्त है उसे हमें समझना चाहिए। इससे हमारी दिमागी उलझन दूर होती है और हमारे काम की कुछ उपयोगिता हो जाती है।'—उद्धृत—पट्टाभिसीतारमैया-कांग्रेस का इतिहास—भाग १ पृष्ठ १६

"हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बाधा करते थे। कही फिसानये अजायब की दास्तान थी, कही बोमस्ताने ख्याल की और कही चन्द्रकान्ता—संतति की। इन आख्यानो का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव नही था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनो परस्पर-विरोधी वस्तुएँ समझी जाती थी। कवियो पर भी व्यक्तिवाद का रंग चढ़ा था। प्रेम का आदर्श वासनाओं को तृप्त करना था, और सौन्दर्य आँखों को। इन्ही शृंगारिक भावो को प्रकट करने मे कवि-मंडली अपनी प्रतिभा और कल्पना का चमत्कार दिखाया करती थी। पद्य मे कोई नई शब्द योजना, नई कल्पना का होना दाद पाने के लिए काफी था—चाहे वह वस्तु स्थिति से कितनी ही दूर क्यो न हो।

निस्संदेह, काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियो की तीव्रता को बढ़ाना है, पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नही है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय शृंगारिक मनोभावो और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह व्यथा, आदि तक ही सीमित हो—जिसमे दुनिया और दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गयी हो, हमारी विचार और भाव संबंधी आवश्यकताओ को पूरा कर सकता है ? शृंगारिक मनोभाव मानव जीवन का एक अंग मात्र है और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो वह उस जाति और उस युग के लिए गर्व करने की वस्तु नही हो सकती और न उनकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।

क्या हिन्दी क्या उर्दू कविता मे दोनो की एक ही हालत थी। उस समय साहित्य और काव्य के विषय मे जो लोक रुचि थी उसके प्रभाव से अलिप्त रहना सहज न था।—हमारे कवियो को साधारण जीवन का सामना करने और उसकी सच्चाइयो को प्रभावित करने का या तो अवसर ही न थे या हर छोटे बड़े पर कुछ ऐसी मानसिक गिरावट छायी हुई थी कि मानसिक और बौद्धिक जीवन रह ही न गया था।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियो मे प्रगतिशील आंदोलन से पूर्व की जिन साहित्यिक गतिविधियो का उल्लेख हुआ है उनके मूल में कुछ अतिरिक्त कथन भले हो हो वे एक सीमा तक वस्तुस्थिति को सही रूप मे उभारते हैं।

१. देखिये—साहित्य का उद्देश्य : पृष्ठ

जिस दुर्बल आकृति का परिचय दिया, विषपान तथा आत्महत्या की जो बातें की वे हिन्दी कविता की गौरवशाली परम्परा के कदापि अनुकूल न थी।'[1] प्रगतिवादी काव्य ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में फैलने वाली इस विकृति का भी विरोध किया तथा 'निराशा, परती और पराजय के स्थान पर आशा और आस्था के स्वरों का सधान किया।'[2]

प्रेमचन्द जी के भाषण का जो लम्बा अंश हमने ऊपर उद्धृत किया है उसका संबंध समस्त पूर्ववर्ती काव्य अथवा साहित्य से नहीं बल्कि व्यक्तिगत विलास, मात्र मनोरंजन अथवा सीमित पृष्ठभूमि वाले साहित्य से ही है।

समाजवादी चेतना के प्रसार की भूमिका तो तैयार ही हो चुकी थी, आचार्य नरेन्द्रदेव, प्रेमचन्द तथा बाद में सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित 'जागरण' पत्र एवं प्रेमचन्द जी द्वारा प्रवर्तित और सम्पादित 'हंस' जैसे पत्रों ने इस बीच रचे जाने वाले साहित्य को समाजवादी विचार धारा से सम्पृक्त करने में पर्याप्त योग दिया। सन् १९३६ के पूर्व के तीन चार वर्ष इन पत्रों की महान सक्रियता के वर्ष हैं। इन्होंने विशेषकर 'हंस' ने कविता, उपन्यास, नाटक तथा समीक्षा के क्षेत्रों में एक नई चेतना फैलाने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस सक्रियता का ही परिणाम था कि साहित्य और समीक्षा के क्षेत्र में आगे चल कर नये मूल्यों के लिये वास्तविक भूमि तैयार हो सकी।

नवीन युगारंभ-एक अनिवार्य परिणति

सन् १९३६ के पूर्व की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन यह सूचित करता है कि किस प्रकार नये युग का आरंभ इन परिस्थितियों के संदर्भ में एक अनिवार्य परिणति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। जैसा कि स्पष्ट है, यह नया युग न केवल साहित्य-जगत में अपनी अभिव्यक्ति पाता है वरन् सामाजिक-राजनीतिक जीवन में भी उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। साहित्य तथा सामाजिक जीवन, दोनों ही प्रगतिशील चेतना का संस्पर्श प्राप्त करते हैं। यह नया युग साहित्य के क्षेत्र में यदि प्रगतिवाद की भूमियों को प्रशस्त करता है तो सामाजिक जीवन में समाजवादी विचारों के प्रचार एवं प्रसार की योजना करता है। इसका इससे अधिक सबल प्रमाण और क्या हो सकता है कि सन् १९३६ में लखनऊ नगर

---

१. विस्तृत विवरण के लिये देखिये—नया हिन्दी काव्य : डॉ॰ शिवकुमार मिश्र उत्तर छायावादी व्यक्ति—परक काव्य' शीर्षक अध्याय—

२. सप्तपर्णी—भूमिका, स॰ डॉ॰ शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ ९।

मे, एक ही समय, साहित्यिक तथा राजनीतिक मचो से 'प्रगतिशील लेखक सघ' के सभापति मुंशी प्रेमचन्द व अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति प० जवाहरलाल नेहरू द्वारा समाजवादी लक्ष्यों के आधार पर देश के [illegible] व जन-जीवन के निर्माण की घोषणा वस्तुतः नये युग के प्रवेश की ही घोषणा है।'[1]

प्रगतिशील आन्दोलन का प्रारंभ तथा विकास-यात्रा

अखिल भारतीय स्तर पर प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना [illegible] १९३५ मे हुई। इसकी स्थापना का श्रेय लन्दन-स्थित कुछ भारतीय विद्यार्थियों को था जिनमें डॉ० मुल्कराज आनन्द तथा श्री सज्जाद जहीर प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त डॉ० के० सी० भट्ट, डॉ० जे० सी० घोष, डॉ० एस० [illegible] सिन्हा और श्री एम० डी० तासीर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस सस्था का प्रमुख लक्ष्य था—'भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-प्रान्तों में लेखकों को सगठित करते हुये प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि, जो कलात्मक दृष्टि से निर्दोष हो तथा जिसके माध्यम से सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर [illegible] स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ा जा सके ..... ।'[2] घोषणा पत्र मे युगीन साहित्य के कल्पनापरक तथा अवास्तविक [illegible] की भर्त्सना करते हुये कहा गया था—'हमारा समाज जो नया रूप धारण कर रहा है, उसको साहित्य मे प्रतिबिम्बित करना और वैज्ञानिक युक्तिवाद की [illegible] करके प्रगतिशील चिन्ता धारा को तीव्र करना यही हमारे लेखकों का कर्तव्य है। हम चाहते हैं कि साहित्य हर क्षेत्र के जीवन चित्रों को [illegible] करे और भविष्य की परिकल्पना हम जो कर रहे हैं उसे पूरा करने में सहायक हो।'[3]

---

1. देखिये—नया हिन्दी काव्य : डॉ० शिवकुमार मिश्र, पृष्ठ १२।
2. उद्धृत, प्रेमचन्द : साहित्य का उद्देश्य (प्रगतिशील लेखक [illegible] अभिभाषण,
3. प्रेमचन्द, साहित्य का उद्देश्य (प्रगतिशील लेखक सघ का अधिवेशन [illegible] [illegible]

ध्यानपूर्वक देखने के पश्चात् हम इन आदर्शों को सर्वथा नवीन नहीं कह सकते क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इनकी पूर्व-स्थापना हो चुकी थी। प्रगतिशील लेखक संघ के आविर्भाव के ठीक एक वर्ष, सोवियत लेखकों की प्रथम कांग्रेस की अध्यक्षता करते हुए गोर्की ने भी इन आदर्शों को दृष्टिगत रखते हुए 'समाजवादी यथार्थवाद' की मान्यताएँ प्रस्तुत की थी। भारत के प्रगतिशील लेखकों में साहित्य को सामयिक जीवन के अनुरूप ढालने तथा भविष्य की सुन्दर कल्पना को वास्तविक बनाने की जिस भावना का उदय हुआ उसका स्रोत यही निहित था। प्रेरणा का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्रोत था, सुप्रसिद्ध उपन्यासकार ई० एम० फार्स्टर की अध्यक्षता में उसी वर्ष पेरिस में हुआ प्रगतिशील लेखक संघ (Progressive Writer's Association) नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का अधिवेशन जिसकी स्थापना के मूल में फासिज्म, नाजीवाद तथा सांस्कृतिक गतिरोध को दूर कर समाज तथा साहित्य को प्रशस्त पथों की ओर निरन्तर ले जाने का उद्देश्य निहित तथा भारतीय

(पृष्ठ १०० का शेष)

हिलती जा रही हैं और एक नये समाज का जन्म हो रहा' है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वह भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रांति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। हम भारतीय सभ्यता की परम्पराओं की रक्षा करते हुये, अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की बड़ी निर्दयता से आलोचना करेंगे और आलोचनात्मक तथा रचनात्मक कृतियों से उन सभी बातों का संचय करेंगे, जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुंच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नये साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए, और वह है हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी सामाजिक अवनति का और हमारी राजनैतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हम में क्रियात्मक शक्ति आवेगी। वह सब कुछ जो हमें निष्क्रियता, अकर्मण्यता और अन्धविश्वास की ओर ले जाता है, हेय है, वह सब कुछ जो हम में समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिये प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हममें संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।'

हों—जो हममें गति और संघर्ष की बेचैनी पैदा करें, सुलायें नहीं क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[1]

प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा अधिवेशन सन् १९३८ में विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर की अध्यक्षता में कलकत्ता के आशुतोष मेमोरियल हाल में नियोजित हुआ। पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार इसकी अध्यक्षता का भार स्वयं गुरुदेव ने स्वीकार किया था। लेकिन अस्वस्थता के कारण उनकी अनुपस्थिति में उनका लिखित वक्तव्य ही अधिवेशन के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। इस अधिवेशन में प्रगतिशील लेखक संघ का दूसरा घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया।[2]

---

१. पृष्ठ   प्रेमचन्द . साहित्य का उद्देश्य

२. उद्धृत 'हंस' अक्टूबर १९४४

—प्रत्येक भारतीय लेखक का कर्तव्य है कि वह भारतीय जीवन में होने वाले परिवर्तनों को अभिव्यक्ति दे और साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्रान्ति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये। उन्हें साहित्य-समीक्षा के ऐसे दृष्टिकोण का विकास करना चाहिये जो परिवार, धर्म, काम, युद्ध और समाज के प्रश्नों पर सामान्यतः प्रतिक्रियाशील तथा पुरातनपंथी प्रवृत्तियों का विरोध करे। उन्हें ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विरोध करना चाहिये जो साम्प्रदायिकता जाति-द्वेष तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की भावना को प्रतिबिम्बित करती हों।

हमारे संघ का उद्देश्य साहित्य तथा अन्य कलाओं को जो अब तक रूढ़िपंथी वर्गों के हाथ में पड़कर निर्जीव होती जा रही हैं, उनको मुक्त कराके, उनका निकटतम संबंध जनता से कराना और उन्हें जीवन के यथार्थों की अभिव्यक्ति का माध्यम और नये विश्व का निर्माण करने वाली शक्ति बनाना है।

जो कुछ भी हममें उदासीनता, निष्क्रियता और विवेकहीनता उत्पन्न करता है, उसे हम प्रतिक्रियाशील समझते हैं और उसका प्रतिवाद करते हैं, जो कुछ भी हममें एक आलोचक की सी वह स्वस्थ जिज्ञासा उत्पन्न करता है, जो संस्थाओं और प्रचलित रीति-रिवाजों को विवेक की रोशनी में देखती है और हमें अपने कार्य में, अपने को संगठित करने में, परिवर्तन लाने में सहायता पहुँचाती है, उसे हम प्रगतिशील समझते और स्वीकार करते हैं।

भारतीय साहित्य मे प्रगतिशील चेतना के विकास को दृष्टिगत रखते हुए इस दूसरे अधिवेशन का एक विशिष्ट महत्व है। इस अधिवेशन के माध्यम से प्रगतिवादी आन्दोलन का एक व्यापक एवं सुनिर्दिष्ट स्वरूप देश के समक्ष प्रस्तुत हुआ। इसका प्रभाव केवल हिन्दी साहित्य तक ही सीमित न रहकर अन्य भारतीय भाषाओं पर भी बडी तीव्रता से पडा। इसी समय प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा प्रकाशित 'नया साहित्य' जैसे समाजवादी मासिक पत्रों ने भारतीय साहित्य में प्रगतिशील भावना के प्रचार मे महत्वपूर्ण योग दिया। इन पत्रों के माध्यम से प्रगतिशील लेखक सघ के आकांक्षित आदर्शों पर व्यापक प्रकाश पडा तथा देश की जनता के समक्ष उनका उचित रूप से मूल्यांकन हुआ। इसमें हिन्दी के प्रगतिशील लेखक उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, मलयाली आदि अन्य भारतीय लेखकों के निकट सम्पर्क मे आये।

अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सघ के तृतीय तथा चतुर्थ अधिवेशन द्वितीय महायुद्ध के सदर्भ मे हुये। तृतीय अधिवेशन के साथ तो युद्धरत हिंसक शक्तियो के प्रतिकार का उद्देश्य ही स्पष्ट रूप से जुडा हुआ था। अतः इस सम्मेलन को जो दिल्ली मे मई १९४२ मे हुआ, अखिल भारतीय फासिस्ट विरोधी लेखक सम्मेलन की संज्ञा दी गई है।[1] यह सम्मेलन प्रगतिशील

---

१ इस सबध में 'हंस' (अक्टूबर १९४८) में प्रकाशित फासिस्ट विरोधी लेखक सम्मेलन के घोषणा-पत्र का निम्नलिखित अंश भारतीय लेखकों के विक्षोभ पर पर्याप्त प्रकाश डालता है—

आज हमारा कर्तव्य है कि हम फंशीस्ट आक्रमण के खिलाफ अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की राष्ट्रीय भावना अपने देश की जनता मे जगायें। आज हमारा कर्त्तव्य है कि हम फंशीज्म की असली प्रकृति का पर्दाफाश करें और फंशीस्ट प्रचार के चंगुल में आने से अपनी जनता को बचायें। आज हमारा कर्त्तव्य है कि हम देश में एकता पैदा करें और जातियों के बीच की खाई को पूरें जिसमें तत्काल राष्ट्रीय सरकार और देश के सौ फीसदी बचाव का रास्ता साफ हो सके। आज हमारा कर्तव्य है कि हम पस्तहिम्मती के खिलाफ लड़ें और अपने देशवासियों में सभी प्रकार के विदेशी आक्रमण और आधिपत्य के खिलाफ प्रतिरोध करने का संकल्प पैदा करें। हम हिन्दुस्तान के महान् और बहुमूल्य सांस्कृतिक उत्तराधिकार के प्रहरी हैं। फंशीस्ट लुटेरों से इसकी रक्षा

(शेष अगले पृष्ठ पर)

लेखकों तक ही परिसीमित न थी। इसके अन्तर्गत उन लेखकों तथा साहित्यकारों ने भी भाग लिया था जो प्रगतिशील लेखक संघ के सक्रिय सदस्य न होने हुये भी जनवादी लक्ष्यों से अनुप्रेरित तथा शांति के आकांक्षी थे। लेकिन इस सम्मेलन के क्रम में ही प्रगतिशील लेखकों का एक विशेष अधिवेशन अलग से हुआ था जिसके सभापति डॉ० अलीम थे।[1]

अखिल भारतीय स्तर पर प्रगतिशील लेखक संघ का चतुर्थ अधिवेशन विख्यात समाजवादी नेता श्री अमृतपाद डांगे की अध्यक्षता में बम्बई में मई १९४३ में हुआ। तृतीय अधिवेशन की तुलना में इसका आधार फलक अधिक व्यापक था। द्वितीय महायुद्ध के बादल इस समय भी मँडरा रहे थे और संकट कालीन स्थिति के उक्त सामयिक संदर्भ में यह अधिवेशन भी किसी अर्थ में निरपेक्ष न था और न ऐसा होना संभव ही था।[2] इन विशिष्टता की ओर

(पृष्ठ १०४ का शेष)

करना हमारा कर्तव्य है। अपनी रचनाओं द्वारा हमें फैसीज्म के खिलाफ अपने को दिमागी तौर पर मजबूत बनाने में हमें जनता की मदद करना चाहिये। किताबों और पैम्फलेटों, रेडियो और सिनेमा, गानों और रंग-मंच के जरिये हमें विशाल जनता के पास पहुँचना चाहिये। अपनी मातृ-भूमि के आह्वान पर आगे आना और मुक्ति तथा संस्कृति की दीपशिखा को प्रज्वलित रखना हमारा कर्तव्य है।

1. डॉ० शिवकुमार मिश्र को लिखित श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के पत्र के आधार पर।
2. इस संदर्भ में चतुर्थ अधिवेशन की घोषणा का निम्नलिखित अंश विशेष महत्वपूर्ण है—

   'हमारा देश अपने इतिहास के सबसे गंभीर संकट में फँसा हुआ है। एक ओर एक क्रूर और आमानुषिक विदेशी साम्राज्यवादी नौकरशाही जनता के हाथ में ताकत देने से इनकार कर रही है, दूसरी ओर खूंखार, लुटेरे जापान का फैसीज्म हमारे पूर्वी सीमान्त के द्वारा पर प्रहार कर रहा है। हजारों हिन्दुस्तानी देश भक्त जेलों में सड़ रहे हैं। फैसीस्ट आसाम और बंगाल पर बम बरसा रहे हैं। अन्न और वस्त्र की दिन-ब दिन कमी होती जा रही है। कागज, किताब और छापखाने के लिये सभी जरूरी-जरूरी चीजों की सख्त कमी है, जो हमारे सांस्कृतिक जीवन के विकास के लिये बहुत जरूरी हैं। उत्पादन प्रश्न स्पष्ट हो रहा है। हमारे समाज की पूरी आर्थिक व्यवस्था के छिन्न भिन्न हो जाने का खतरा है।'

सन्देश करते हुये अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री श्री सज्जाद ज़हीर ने लिखा है: "वर्तमान साहित्यिक समस्याओं पर विचार करने के लिये भिन्न-भिन्न भाषाओं के सिद्ध हस्त लेखकों का एकत्र होना इस बात का द्योतक था कि ये सभी सचेत और ईमानदार राष्ट्र प्रेमी बुद्धिजीवियों का सांस्कृतिक मोर्चा संगठित करने के लिये परम उत्सुक हैं जिससे इस संकटग्रस्त परिस्थिति में, जब हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिये अभूतपूर्व विपत्ति उठ खड़ी हुई है, जबकि फासिस्ट आततायियों के हाथ उसके जड मूल से विनष्ट होने का भय है, ये जनता को संगठित करके पलायनवादी और निराशावादी मनोवृत्ति के विरुद्ध लड करके सांस्कृतिक और आत्मिक धरातल को सुरक्षित बना अपने प्राथमिक कर्तव्य का पालन कर सकें और जनता जनार्दन की सेवा में हाथ बटा सकें।[1]"

बम्बई के इस अधिवेशन में जोश मलीहाबादी तथा मामा वरेरकर जैसे मानवतावादी, बकुलेश (गुजराती) जैसे यथार्थवादी, विष्णु दे (बंगला) एवं नरेन्द्र शर्मा जैसे मार्क्सवादी तथा अन्य ख्यातिप्राप्त लेखकों ने सक्रिय भाग लिया था। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में श्री डांगे ने जहां मराठी साहित्य के उत्थान और पतन की रूप रेखा प्रस्तुत की वहीं आगामी लेखकों को नये कर्तव्यों एवं उत्तर दायित्वों का भी परिचय दिया। शोषण ग्रस्त जन-समुदाय के संघर्षों को मूर्त करते हुये, उसकी आशाओं और आकांक्षाओं का कलात्मक तथा सप्राण चित्रण—भविष्य के लेखक वर्ग से उनकी यही 'अपील' थी। उन्होंने अपने भाषण में कहा—"बाहर आइये और खुली नजरों से देखिये कि किस तरह करोड़ों आदमी शोषण और विपत्ति के गाल में पड़े रहने पर भी काम करते हैं, सोचते हैं, लडते हैं और आगे बढ़कर स्वतन्त्रता के संग्राम में भाग लेते हैं। उनको देखिये और यदि आपका हृदय गवाही दे तो उनकी भावनाओं को वाणी दीजिये। यदि आप उनकी सच्ची स्थिति का चित्रण कर सकें और उन्हें अपनी कला में सजीव कर सकें तो आपसे हम यह कभी शिकवा नहीं करने आयेंगे कि 'अरे साहब, आपने किसी पात्र के मुख से कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो भी कहलाया ही नहीं। जनता की प्रवृत्तियों के अनुसार अपनी कल्पना परिवर्तित कीजिये, अपने मानसिक प्रवृत्तियों के अनुरूप काल्पनिक जनता मत खड़ी कीजिये। तभी यह साहित्यिक जड़ता दूर हो सकेगी। नहीं तो कृपया मेहनतकश जनता का पीछा छोड़िये, क्योंकि शरत् बाबू के शब्दों में, उनके कलाकार का

---

१. जनजीवन और साहित्य (श्री अमृतपाद डांगे) का अध्यक्षीय भाषण का प्राक्कथन।

जन्म हो रहा है, जो शीघ्र ही सामने आकर उनकी वाणी प्रतिध्वनित करेंगे।'[1]

चतुर्थ अधिवेशन के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर अन्य अधिवेशनों के सबंध में पर्याप्त सूचना नहीं प्राप्त होती है। फिर भी इस संदर्भ में डॉ० मिश्र को लिखित श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के पत्र का निम्नलिखित अंश दृष्टव्य है—

पाँचवा सम्मेलन बबई के पास किसी suburb में हुआ, क्योंकि बबई नगर में इस पर रोक लगायी गई थी। यह सन् १९५० के लगभग हुआ। इसके निर्देशक डा० रामविलास शर्मा थे और सभापति-मडल के एक सदस्य अन्ना भाउ साठे थे, जो मजदूर कवि हैं। इस सम्मेलन में एक नया घोषणा पत्र भी तैयार हुआ था।

छठा सम्मेलन १९५३ में दिल्ली में हुआ। यहाँ कृष्णचन्द्र नये मत्री चुने गये।[2] भारतीय प्रगतिशील आदोलन, इस प्रकार, १९३६ से आरभ होकर अपने जीवन के कुछ ही वर्षों में एक महती शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। प्रत्येक प्रांत स्थान नगरों में स्थापित उसकी प्रांतीय तथा जिला-शाखायें, उसके कार्य-क्षेत्र के विस्तार की स्पष्ट सूचना देती हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर अगर हम प्रगतिशील आदोलन के इतिहास पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि १९३६ के बाद का दशक उसका उत्कर्ष काल है। इस बीच साहित्य और कला के अतिरिक्त अन्य उपकरणों के माध्यम से देश के सास्कृतिक जीवन में, विशेषतया लोक संस्कृति के धरातल पर नया जागरण परिलक्षित हुआ अपने उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु प्रगतिशील आदोलन के विभिन्न क्षेत्रों में अपना प्रसार किया और उसके लिये नई समितियां बनायी जिनका कार्य अपने क्षेत्र में व्यापक साहित्यिक सास्कृतिक उपलब्धि करना था। ये समितियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सास्कृतिक सम्मिलन कमेटी (२) जन-गायन कमेटी-ग्राम गीत, लोक नृत्य आदि (३) जन-नाट्यशाला कमेटी-क्रान्तिकारी नाटकों का अभिनय (४) दिवस समारोह कमेटी-तुलसी, इकबाल, रवीन्द्र, कबीर, प्रेमचन्द, गोर्की राल्फफाक्स आदि के दिवस समारोहों का आयोजन (५) साहित्य रचना-कमेटी-निबंध आदि साहित्यिक कृतियों का पठन-पाठन। लोक संस्कृति के इस पुनरुत्थान

---

१. [illegible] प्र० ले० सं० के चौथे अधिवेशन [illegible] का भाषण) पृष्ठ २५

[illegible]ाशचन्द्र गुप्त के पत्र का एक अंश।

…क प्रयत्न ने देश के सांस्कृतिक जीवन में नया आलोक फेंका और सामूहिक …ा व्यापक रूप से उसकी महत्ता को उभारा गया।'[1] 'हिन्दी कविता के क्षेत्र …. . …. …छायावाद की रूमानियत और अतिशय कल्पना-प्रियता के …थान पर यथार्थ ग्राहिता की प्रतिष्ठा हुई।' कल्पना के आकाश में उड़नेवाले …कवि ने ही 'जीव प्रसू' धरती की कटु वास्तविकताओं की ओर देखने की आवाज उठाई—

ताक रहे हो गगन, मृत्यु-नीलिमा-गहन-गगन,
देखो भू को, जीव-प्रसू को…. (पंत-युगवाणी)।[2]

फिर भी जैसा कि आचार्य वाजपेयी ने कहा है कि इस युग की रचनाओं मे एक प्रकार का वैषम्य का स्वर प्रायः सर्वत्र ध्वनित है और उन्ही के शब्दो मे—'उसका सबसे बड़ा कारण है इनके रचयिताओ मे अपेक्षित आस्था का अभाव, परन्तु यह स्वीकार करने मे किसी को आपत्ति न होगी कि इस युग के साहित्य मे सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना का प्राधान्य है। प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दो मे हम कह सकते हैं कि पुरानी व्यक्तिगत कुठाओ का साहित्य जब आगे बढ़ने का मार्ग बन्द पा रहा था, इस युग के साहित्य ने उसे सामाजिक दायित्व की प्रेरणा दी। और यही कारण है कि, इस काल का साहित्य प्रगतिशील आदोलन से मतभेद रखनेवाले लेखको मे भी आदर पाता रहा, क्योंकि उसके बल, वेग और शक्ति निर्विवाद थे।'[3]

इनके माध्यम से जन जीवन तथा क्षेत्रीय सस्कृति से सम्बद्ध कुछ … महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार किया गया जिसका समाधान अखिल भार… स्तर पर सभव न था। उदाहरणार्थ, हम युक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक … द्वारा विचारित जनपदीय विकास योजना[4] को ले सकते है, जिसके अ…

---

१. डा० मिश्र—नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ ३५
२. —वही— —वही— ,, १४९
3. द्रष्टव्य—नया साहित्य, सितम्बर १९२१, प्रकाशचन्द्र गुप्त (सम्पा…
४. इस संबंध मे संयुक्त प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक संघ की कौ… प्रस्ताव का निम्न लिखित अंश द्रष्टव्य है—
'इस कौंसिल का निश्चित मत है कि जनपदीय भाषाओं … विकास से इन प्रदेशों की स्वतंत्र संस्कृतियों और निजी विशे… समुचित प्रस्फुटन होगा। इसके साथ ही-साथ जन पदीय …

(शेष पृष्ठ …

जनभाषा, जन-शिक्षा, तथा जन साहित्य से सम्बद्ध योजनायें सन्निहित थीं। इन शाखाओ मे प्रगतिशील साहित्य के व्यापक आदर्शों पर भी विचार विमर्श हुआ। इस संदर्भ मे काशी प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम तथा द्वितीय अधिवेशन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम अधिवेशन मे साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने युगीन साहित्य के अभावात्मक पक्ष का विश्लेषण करते हुये इस आदोलन की ऐतिहासिक आवश्यकता की ओर सकेत किया। उन्होने अपने भाषण मे कहा—"इधर के हिन्दी साहित्य मे एक महत्वपूर्ण बात छूट गयी थी। वह इस चेतना के जागरण से विरत हो रहा था कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति क्या कर्तव्य होना चाहिये। इस कमी की पूर्ति के लिये प्रगतिवाद की अवतारणा हुई।"[1] दूसरे अधिवेशन के अध्यक्ष आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने प्रगतिशील साहित्य के तत्कालीन वैषम्य तथा उसमें व्याप्त अनेक अभावो का विस्तृत विश्लेषण करते हुये कहा—"रचनाकार किसी वर्ग का क्यों न हो, उसके संस्कारो मे एक दम अछूता नही रह सकता। यही कारण है कि हमारा प्रगतिशील साहित्य अभी अपनी स्वस्थ दशा पर नहीं पहुँचा। हमारी चेष्टायें अधिक नकारात्मक हैं। हममे व्यंग्यात्मकता आ गयी है। हम बौद्धिक दृष्टि से क्रान्तिकारी हैं किन्तु हमारी सास्कृतिक दृष्टि बदली नही है। यह वैषम्य नवीन साहित्य मे स्पष्ट है। हमारे कितने ही लेखक केवल विद्रोह की भावना से ही अनुप्रेरित हैं। उनका साहित्य चुनौती का साहित्य है किंतु उनकी आस्थाओ का कही पता नहीं। सच पूछिये तो हमारा प्रगतिवादी साहित्य जितना अधिक व्यक्तिवादी है, उतना इसके पूर्व का साहित्य न था।" प्रगतिशील साहित्य का यह वैषम्य जैसा कि आचार्य वाजपेयी ने कहा था,

---

(पृष्ठ १०८ का शेष)

विकास से जन शिक्षा के कार्य मे सहायता मिलेगी और देश के सबसे पिछड़े हुए विस्तृत कोनों मे भी जन साहित्य के विकास को अप्रत्याशित बल मिलेगा।—

इस कौंसिल का यह मत है कि ऐतिहासिक रूप से देखने पर जन-पद-आदोलन हमारी बढ़ती हुई राष्ट्रीय चेतना का ही परिणाम सिद्ध होता है। यह चेतना विभिन्न प्रदेशों की जनता की इस प्रजातांत्रिक माँग के रूप में अभिव्यक्ति पा रही है कि उसे अपनी भाषा और संस्कृति की रक्षा और विकास का अधिकार मिले।"

१ काशी प्र० ले० संघ के प्रथम वार्षिकोत्सव की साहित्य परिषद् के सभापति पद से दिया गया भाषण।

साहित्य की ऐतिहासिक स्थिति का परिणाम था', और इसका निवारण तब तक सभव न था जब तक मध्यवर्गीय संस्कृति के स्थान पर किसी नूतन सस्कृति का निर्माण नही होता और जब तक उक्त नवीन सस्कृति अपनी स्वतंत्र कला का सृजन नही करती।' फिर भी इस नये आंदोलन की संभावित आशाओ को वाणी देते हुए आचार्य जी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था—'जो कुछ हो, प्राण इस नवीन आदोलन में अवश्य है और नवीन कला का जन्म इसी से होगा।''[1]

प्रगतिशील आन्दोलन को सुव्यवस्थित एव प्रसारित करने की दिशाओ मे प्रगतिशील लेखक सघ की बगीय शाखा के कार्य भी कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इस शाखा ने अपने कार्यो और आदेशो की अभिव्यक्ति मुख्यत: पत्र-पत्रकाओं के माध्यम से की। १९३७ मे इस शाखा ने रवीन्द्रनाथ की शुभ कामनाओ के साथ 'प्रगति' नामक एक सकलन प्रकाशित किया जिस भूमिका मे बगीय प्रगतिशील लेखक सघ के सभापति श्री नरेशचन्द्र सेनगुप्त प्रगतिशील शक्तियो का आह्वान करते हुए कहा था—'मानव के मानवत्व आशंकित ध्वस से रक्षा करने के लिए सारे मनुष्यों को एकत्र होने आवश्यकता है।—जिसके बाहुओ मे शक्ति है, चित्त मे—भावुकता है, जि कंठ मे वाग्मिता है, सब की सम्मिलित चेष्टा की आवश्यकता है—

---

१. काशी प्र० ले० सं० के द्वितीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर समा से दिया गया भाषण इस अधिवेशन का घोषणा पत्र प्रगतिशील के राष्ट्रीय सदर्भ तथा उसके व्यापक उद्देश्य के अतिरिक्त रू पर भी आवश्यक बल देता है—'——संघ के लेखको का प्रमु ऐसे स्वस्थ, उदात्त, जीवनानुभूति से सिक्त राष्ट्रीय साहित्य है जो देश के जन जन को मातृभूमि के हित त्याग एव आत्मो के लिए आंदोलित तथा अनुप्रेरित कर सके।——राष्ट्रीयत आदर्शो को सामने रखकर जीवन के निकटतम परिचय से उत्पन्न होता है, वही प्रगतिशील साहित्य है और सघ के साहित्य के निर्माण का लक्ष्य है।—साहित्य को स्वाध का शस्त्र मानते हुये हमारे लिए यह सम्भव नहीं कि रूप-सौष्ठव को पूरा-पूरा ध्यान न दें। क्योंकि हम जानते बिना हमारा शस्त्र कुंठित हो रहेगा। कलाहीन, म को हम निरर्थक समझते हैं। हमारा यह निश्चित मत है परिमार्जन एवं परिष्कार सदैव करते र

सभ्यता, संस्कृति को अकल्याण और ध्वंस के मुंह से रक्षा करने के लिए।'[१] इस संकलित कृति के निर्माण में जिन लेखकों तथा साहित्यकारों ने पूर्ण योग दिया, उनमें--भूपेन्द्रनाथ दत्त, विभूति भूषण बन्दोपाध्याय, सुधीन्द्रनाथ दत्त, बुद्धदेव वसु, प्रेमेन्द्रमित्र, तथा मानिक बन्दोपाध्याय प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त इस युग के प्रगतिशील साहित्य ने 'अनेक सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों में भी नेतृत्व किया, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष में, फासिज्म के विरोध में, बंगाल के अकाल में, जन चेतना को जगाने में, जनता के आर्थिक संकट में जन-मत संगठित करने में।'[२]

परन्तु युद्धोत्तर काल में प्रगतिशील आन्दोलन का उत्कर्ष क्षीण पड़ने लगा। इसके कई बाह्य तथा आंतरिक कारण थे। बाह्य कारणों में विरोधियों के भ्रामक प्रचार के अतिरिक्त शासकीय दमन और उसका भय ही प्रमुख था। आंतरिक कारणों में वामपक्षी संकुचित भावना अथवा अनुदारता मुख्य थी। यों तो प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना के कुछ ही दिनों बाद स्टैट्समैन जैसे अंग्रेजी पत्रों ने इसके संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि 'यह कम्यूनिस्ट पार्टी का ही एक छद्म रूप है।' लेकिन युद्धोत्तर काल में इस आरोप की बार-बार आवृत्ति हुई। १९४७ में श्री राहुल सांस्कृत्यायन की अध्यक्षता में सम्पन्न प्रथम अखिल भारतीय हिन्दी प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने बड़े ही खेद के साथ कहा—'प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन पर इलजाम लगाया जाता है कि वह राजनीतिक दल-विशेष सीधा क्यों न कहा जाय, कम्यूनिस्टों का प्लेट फार्म है और मैं चाहता हूँ कि उसकी इस आरोप से रक्षा हो।'[३] परिणामतः उक्त सम्मेलन को यह घोषित करना पड़ा कि—' उसका किसी राजनीतिक दल से संबंध नहीं है। उसका आधार व्यापक है और उस भूमि पर वह प्रत्येक दल के प्रतिक्रिया विरोधी प्रगतिशील लेखकों का स्वागत करता है।'[४]

लेकिन यह घोषणा अथवा अन्य स्पष्टीकरण न तो विरोधियों को ही प्रभावित कर सका न शासन-सूत्र को ही। अवरोधक शक्तियाँ अधिक से अधिक तीव्र होती गयीं। सन् '४८ के आरम्भ में अली सरदार जाफरी के गिरफ्तार कर लिए जाने के पश्चात् प्रगतिशील लेखक संघ का कार्यक्रम तो कुछ दिनों

---

१. द्रष्टव्य, नया साहित्य, पृ० ८ सितम्बर १९५१
२. प्रकाशचन्द्र गुप्त—नया साहित्य, सितम्बर १९५१ पृष्ठ ७४
३. द्रष्टव्य–'हंस', मार्च १९४८, पृष्ठ ४५७
४. — वही —

के लिये ठप्प सा पड़ गया। संगठन का कोई मंत्री नही रह गया था इसलिये एक लम्बे अरसे से कार्य-कारिणी की बैठक नहीं हुई थी। फिर भी १९४९ में, अखिल भारतीय अधिवेशन के रूप मे एक नयी जागृति पुनः लक्षित हुई। सरकार का दमन चक्र तब भी तीव्र था। देश के प्रमुख प्रगतिशील लेखक तब भी बन्द थे। यहां तक कि बम्बई मे अधिवेशन के आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। यह शासकीय दमन नीति का ही परिणाम था। फिर भी लेखकों तथा साहित्यकारो मे इस सुप्त आन्दोलन को एक नयी चेतना प्रदान करने की आकांक्षा थी। अतः प्रतिबन्ध के बावजूद भी इस अधिवेशन का आयोजन बम्बई के पास एक कस्बे मे हुआ। लेकिन इस सगठन-मूलक प्रयत्न की अन्तिम परिणति विघटनकारी तत्वों के जन्म देने मे ही हुई। इस अधिवेशन के पश्चात् प्रगतिशील आन्दोलन का सचालन-सूत्र वामपन्थी लेखकों तथा साहित्यकारो के हाथ मे खिसक आया जो आगे चलकर उसके विघटन का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। शासकीय सूत्रो के नियन्त्रण और दमन के कारण स्थानीय शाखायें तो विच्छिन्न थी ही, वामपक्षी संकीर्णता के कारण अखिल भारतीय तथा प्रान्तीय प्रगतिशील लेखक सघ का अवशिष्ट रूप भी दिन-ब-दिन क्षीण पड़ने लगा। साहित्यिक क्षेत्र मे इसके जो प्रभाव पड़े वे निम्नलिखित थे–

(१) प्रथमतः वामपक्षी सकीर्णता ने कई प्रगतिशील लेखकों तथा उनकी कृतियो को साधारण जनता से अलग कर अपने दायरे में ही सीमित कर दिया।

(२) दूसरे, उक्त सकीर्णता ने साहित्य के कलापक्ष को दबाकर उस पर राजनीतिक सिद्धान्तवादिता का बोझ ला दिया।

(३) सगठन की दृष्टि से, जिन प्रगतिवादी लेखकों ने गतवर्षों मे पारस्परिक सहयोग तथा सम्मिलित प्रयत्न के आधार पर एक नयी साहित्यिक चेतना के उद्भव तथा विकास में योग दिया था, वे खुलकर आलोचना तथा प्रत्यालोचना के क्षेत्रो मे कूद पड़े। पारस्परिक-आलोचना-प्रत्यालोचना की यह भूमिका साम्यवादी नीति के भले ही अनुकूल रही हो लेकिन साहित्यिक धरातल पर यह आत्मघातक सिद्ध हुई—'कई लेखक जो प्रगतिशील आन्दोलन के अभिन्न अंग थे, अथवा कभी उसके हमदर्द थे, उक्त वामपंथी सकीर्णताओं से क्षुब्ध और आहत होकर स्वयं दूर हट गये, या हटा दिये गये। कुछ ऐसे भी थे जो छोटे-मोटे सैद्धान्तिक प्रश्नो पर प्रारम्भ से ही इस आन्दोलन के साथ यथेष्ट संगति की स्थापना नही कर पा रहे थे अथवा कतिपय ऐसे लोग जो सैद्धान्तिक प्रश्नों पर मतैक्य रखते हुये भी सरकारी दमन, आतंक तथा वैयक्तिक और व्यावहारिक

स्वार्थ के कारण एक प्रकार की तटस्थता बरत रहे थे—वे सबके सब प्रगतिवादी आन्दोलन की संकीर्ण तथा विद्वेषपूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर एक दूसरे से दामन खींचकर अलग जा बैठे।'[1]

साहित्यिक क्षेत्र की यह वामपक्षी संकीर्णता, वस्तुतः राजनीति के क्षेत्र से ही आयी थी। युद्धोत्तर काल में कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व पूरनचन्द जोशी के हाथ से निकलकर अतिशय वामपक्षी नेता श्री बी० टी० रणदिवे के हाथ में चला गया और उसके बुद्धिवादी मोर्चे ने प्रगतिवादी आन्दोलन पर अपनी संकीर्णता तथा अतिवादिता से जोरों का प्रहार किया।

(४) अमृतराय के अनुसार, 'इसका प्रमुख कारण था प्रगतिशील लेखक संघ के भीतर जनवाद का नाश। जिस हद तक हमने एक खास प्रकार के साहित्य की रचना पर जोर दिया, बगैर लेखकों को अच्छी तरह कनविंस किये, उस हद तक यह चीज हकीकत में फर्मान का रूप ले लेती है, उसकी शक्ल चाहे जो हो।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रगतिवादी आन्दोलन का इतिहास १९५० के बाद लगभग समाप्त सा हो गया। १९५१ के प्रारंभ में संयुक्त मोर्चे के अन्तर्गत एक व्यापक धरातल पर भारत के जनवादी लेखकों को संगठित करने का

---

१. साहित्य में संयुक्त मोर्चा के अन्तर्गत इस संशयग्रस्त तथा विद्वेषपूर्ण स्थिति का चित्रण करते हुये श्री अमृतराय ने लिखा है—'लेखकों में आपस में मैत्री और सद्भावना का लोप सा होने लगा और उसकी जगह कटुता और आपसी संदेह ने ले ली। वातावरण में भयानक घुटन पैदा हो गयी और आजादी से सांस लेना मुश्किल हो गया। लोग डरे-सहमे मुंह पर ताला जड़े घूमते थे कि कहीं धोखे से ऐसी कोई बात न निकल जाय कि मैं कायर या सुधारवादी या क्रान्ति का दुश्मन न करार दिया जाऊं। इसलिये सबसे भली है चुप रही चीज लिखने से भी हुई। मेरी कलम से कहीं कोई गलत सुधारवादी, कमजोर चीज न निकल जाये जिसे लेकर मेरी खिल्ली उड़ायी जाय या कहा जाय कि प्रगतिशील लेखक संघ को तुम जैसे कायरों की जरूरत नहीं है। इसलिये अच्छा है कि फिलहाल कलम को छुट्टी दे दो। बहुतों ने तो उस दौरान में अपनी कलम तोड़कर फेंक दी [illegible]। लिखना बिल्कुल बन्द कर दिया। जिन्होंने ऐसा नहीं किया उन्होंने सबसे चुरा-छिपाकर अपना लिखना जारी रखा गोया कोई पाप कर्म कर रहे हों।'

२ पृष्ठ १०५—साहित्य में संयुक्त मोर्चा।

प्रयास अवश्य किया गया। 'हंस', 'नया साहित्य', 'नयी चेतना', तथा दूसरे पत्र-पत्रिकाओं में कुछ महीनों तक इस संबंध में जोरों की बहस भी चली— अनेक प्रगतिशील लेखकों ने जो 'प्रगतिशील लेखक संघ' से सम्बद्ध थे, या जो संकीर्ण मतवादियों का दौर-दौरा होने से पहले उसमें थे, इस बहस में भाग भी लिया, और इस अवसर का लाभ उठाकर पुनः एक दूसरे पर जोरों की छींटा-कसी भी की लेकिन अन्ततः किसी प्रकार का समाधान प्रस्तुत न हुआ। सन् १९५० के पश्चात् प्रान्तीय तथा जिला स्तर पर प्रगतिशील लेखकों के यत्र-तत्र सम्मेलन भी हुये (दिल्ली का प्रादेशिक सम्मेलन जो जुलाई सन् १९५० में हुआ इस दृष्टि से विशेष महत्व रखता है) लेकिन इन प्रयत्नों के द्वारा भी प्रगतिवादी आन्दोलन विशेष सक्रिय न हो सका और शनैः शनैः उसकी गतिविधियाँ प्राय बन्द सी हो गईं। प्रगतिशील लेखक संघ का इसके पश्चात् कोई महत्वपूर्ण अधिवेशन न हुआ, फलतः सारे लेखक इधर उधर बिखर से गये और उनका संबंध परस्पर विच्छिन्न हो गया।

प्रगतिवादी आन्दोलन की इस संक्षिप्त रूपरेखा के सन्दर्भ में उसके उन प्रभावों तथा उपलब्धियों का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है जो आज भी आधुनिक हिन्दी काव्य तथा समीक्षा के क्षेत्र में द्रष्टव्य है—

प्रगतिवादी आन्दोलन की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि साहित्य के लक्ष्य से संबंध रखती है। प्रगतिशील आन्दोलन के द्वारा सर्वप्रथम हमें इस प्रकार का एक ठोस उत्तर प्राप्त हुआ जबकि साहित्य की आत्यन्तिक लक्ष्य के रूप में जन-जीवन का उत्थान तथा जन-जीवन की आशाओं और आकांक्षाओं के चित्र को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इसके पूर्व साहित्य किसके लिये—इस प्रश्न का उत्तर इतने साफ तौर से न दिया गया था।

प्रगतिशील आन्दोलन का ही परिणाम था कि सर्वप्रथम साहित्य की वि[illegible] वस्तु को ठोस सामाजिक आधार प्रदान किया गया। छायावाद तथा छा[illegible] वादोत्तर युग के कवियों ने अपनी काव्यवस्तु को मात्र वैयक्तिक जीवन [illegible] अनुभूतियों तथा प्रश्नों तक ही सीमित कर दिया था। नये युग के प्रगति[illegible] काव्य ने व्यापक जीवन की वास्तविकताओं, जनता के संघर्षों तथा [illegible] प्रगति की संभावनाओं को रचयिता की समस्त सहानुभूति के साथ प्रस्तुत करने का उपक्रम किया। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुये हिन्दी के वयोवृद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय ने स्पष्ट कहा है—"प्रगतिवाद हमको [illegible] [illegible] की ओर ले गया है। उसने जनता को [illegible] [illegible] रक्खा है।"

यह सब करते हुये भी युगीन राष्ट्रीयता के साथ भी प्रगतिवादी साहित्य का सबंध अविच्छिन्न रहा। प्रगतिवाद के कट्टर आलोचक डॉ० धर्मवीर भारती तक भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। उन्होने स्पष्टत. कहा है—राष्ट्रीयता का वह स्वरूप जो अतीत मूलक तथा भावोन्मादपूर्ण था, जो अतीत की चिन्तन करते हुये, वर्तमान की क्षतिपूर्ति करता था, जो यह सिद्ध करने मे लगा हुआ था, कि अभी भी हम जगद्गुरु हैं, अब भी संसार का उद्धार हमारी रहस्य साधना से होगा—प्रगतिवादियो को स्वीकार न था। भारतीय के शब्दो मे, 'अतीत के प्रति केवल एक रूमानी भावोन्मादपूर्ण या अन्ध श्रद्धापूर्ण आग्रह के स्थान पर एक वैज्ञानिक दृष्टि रखने की चेतना हमे सबसे पहले मार्क्सवादियो ने दी, इसमे कोई संदेह नही।'[१]

अतः राष्ट्रीयता का वह स्वरूप, जो राष्ट्रीय जीवन की जीवत परम्पराओ तथा गत्यात्मक आदर्शों से जुड़ा हुआ हो, जो राजनीतिक स्वाधीनता की आकांक्षा के साथ आर्थिक मुक्ति के लिये भी नये आयाम रच रहा हो, तथा लोक संस्कृति के धरातल पर सामान्य जन जीवन के व्यापक हितो को साथ लेकर अग्रसर हो रहा हो—उसे स्वीकार कर काव्य तथा साहित्य के क्षेत्र मे अग्रसर होने मे प्रगतिवादी अनेक तथाकथित राष्ट्रीय कवियो से आगे थे।

(५) काव्य की तरह समीक्षा के क्षेत्र मे भी प्रगतिवादी आन्दोलन ने नये मानदण्डो तथा मूल्याकन के नये आधारो को विकसित करने मे योग दिया। इस तथ्य का उल्लेख करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कहा है—'प्रगतिवादी समीक्षा ने दो वस्तुयें मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का सबध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और सवेदनशील है, द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायेगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-सबधी एक नई मापरेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमे दिया है।'[२]

(६) प्रगतिशील आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि लोक-जीवन और लोक-संस्कृति के क्षेत्र मे एक नये आलोक को विकीर्ण करना

१. पृष्ठ ४७, धर्मवीर भारती, मानव मूल्य और साहित्य।

२. „ १८, मुक्त और अतिरिक्त, साहित्य-विवेचन का प्रारूप।

प्रगतिशील आन्दोलन के कार्यकर्ताओं ने व्यापक तथा सामूहिक रूप में लोक संस्कृति के नाना पक्षों को पुनरुज्जीवित करने का गंभीर प्रयास किया। फलतः न केवल नागरिक जीवन में ही साहित्य और कला संबंधी नई अभिरुचियों और नई दिशाओं का प्रवर्त्तन हुआ, वरन् ग्रामीण अंचलों में भी वहाँ की बोलियों तथा रीति-रिवाजों आदि को लिये हुये साहित्य और कला की अनेक रूप की छवियों को प्रत्यक्ष किया गया। इस प्रकार प्रगतिशील आन्दोलन ने नागरिक तथा ग्रामीण दोनों ही अंचलों में एक नये सांस्कृतिक अभियान का प्रारंभ किया। 'स्वतंत्रता के पश्चात् नई राष्ट्रीय सरकार ने भी इस ओर पर्याप्त रुचि दिखाई। साहित्य एकादमी, संगीत नाटक अकादमी, ललित कला अकादमी आदि अनेक सरकारी और अर्ध सरकारी संस्थाओं की स्थापना हुई और देश के विभिन्न अंचलों की साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परायें सामूहिक रूप से प्रकाश में आईं। इस नवीन सांस्कृतिक व साहित्यिक जागृति का देश की जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा और वह इस ओर और भी अधिक उत्साह से अग्रसर हुई।[1]'

इस प्रकार अपने अल्प जीवन काल में ही प्रगतिवादी आन्दोलन ने अनेक महत्वपूर्ण मंजिलें तय कीं। हो सकता है कि जिन व्यापक और प्रशस्त राजपथों पर चलने का संकल्प उसने किया हो, अनेक कारणों के परिणामस्वरूप वह उन पर सदा ही न चल सका हो, सकरी तथा सीमित दिशाओं की ओर जाने वाली पगडंडियाँ उसे अपनी ओर खींच लेती रही हों। परन्तु यदा-कदा इन गलियों में भटक जाने के बावजूद भी अपनी समग्रता में प्रगतिवादी आन्दोलन की विकास यात्रा महत्तर सामाजिक तथा सांस्कृतिक लक्ष्यों से प्रेरित होकर ही दिखाई पड़ती है। एक समय था जब इस प्रगतिवादी आन्दोलन ने उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम देश के समूचे विस्तार को अपनी परिधि में बाँध लिया था। न केवल बुद्धिजीवी वर्ग वरन् सामान्य जन-जीवन भी जिसकी प्रेरणाओं से अनुप्राणित होकर नई संकल्पनाओं से युक्त हो गया था। लगता था जैसे समूचे देश में एक अभूतपूर्व सांस्कृतिक चेतना व्याप्त हो गई हो। छोटे से छोटे साहित्यकार से लेकर रवीन्द्र, शरत् और प्रेमचन्द जैसे प्रख्यात साहित्यिक भी जिसके पुरस्कर्ता के रूप में सामने आते थे। इस व्यापक सांस्कृतिक चेतना, सामूहिक उल्लास तथा प्रशस्त और लोक-मंगलकारी लक्ष्यों के प्रति होने वाले बृहद् सामाजिक अभियान की तुलना आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन से की है, जो स्वतः समूचे

---

१. नया हिन्दी काव्य।

देश के जन-जीवन को किसी समय साधना की प्रशस्त और लोकपरक मू
की ओर ले जाने में सफल हुआ था।

'भक्ति के महान आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य दृढ़ नि
दिखाई पड़ी थी जो समाज को नये जीवन आदर्श से परिचालित करने
संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुयी
उसी प्रकार यह आन्दोलन भी हो सकता है।'[१]

हिन्दी साहित्य ।

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा—एक विहंगावलोक

हिन्दी समीक्षा के विकास में प्रारम्भ से ही भारत की प्राचीन सांस्कृति
परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक भाव-प्रेरणा से समन्वित सामाजि
चेतना का सक्रिय योग रहा है। साहित्य की सामाजिक उपादेयता का प्रश
भारतीय काव्य शास्त्रियों के समक्ष निरन्तर उपस्थित रहा है। सामाजि
तथा सांस्कृतिक चेतना से अन्न मस्कार करती हुई भारतीय आलोचना क
क्षेत्र में सदैव नवीन उद्भावनायें परिलक्षित हुई हैं जो साहित्य को नई स्फूर्ति
गति और दिशा का निर्देश करती आयी हैं। संस्कृत साहित्य में 'सत्य शिव
सुन्दर' की परिकल्पना समाज की कल्याणकारी मनोवृत्तियों के आधार प
प्रतिष्ठित है और इसी व्यापक आधार-भूमि पर हिन्दी समीक्षा के आदर्श
का भी निर्माण हुआ है। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में, 'कोई भी चिन्त
सामाजिक वास्तविकता से अछूता नहीं रह सकता, बल्कि वास्तविकता की
विभिन्न प्रतिक्रियायें साहित्य और जीवन संबधी चिन्तन में व्यक्त होती है।'[1]
अपनी समकालीन पार्श्वभूमि पर आधारित परिस्थितियों के स्वाभाविक विकास
के अनुरूप हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत सामाजिक चेतना के विभिन्न पक्षों की
[illegible]

साहित्यकार की कारयित्री-प्रतिभा सहज रूप से युगीन आदर्शों से अनुशासित तथा प्रेरित होती है। अतः एक निश्चित काल मे विकसित साहित्यिक मान्यताओं के सन्दर्भ मे ही उसकी आलोचना की प्रकृति का उचित विश्लेषण एव अध्ययन सभव है। इसी दृष्टि से हम काल क्रमानुसार हिन्दी की प्रगतिवादी-समीक्षा की व्यापक पृष्ठभूमि का निर्देश करते हुए उसके विकास की एक रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे।

पृष्ठभूमि

भारतेन्दु युगीन समीक्षा—भारतेन्दु युगीन समीक्षा वस्तुतः आचार्य वाजपेयी के शब्दों मे 'हिन्दी नवीन प्रयोग कालीन समीक्षा' है।[1] जिस प्रकार भारतेन्दु युग मे रचा गया साहित्य अपने समय की सामाजिक तथा सास्कृतिक परिस्थितियो की देन है, उसी प्रकार इस युग की समीक्षा भी तत्कालीन समाज सुधारकों द्वारा प्रस्तुत की गई सास्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियों की आलोचना के संदर्भ मे प्रकाशित किये गये विचारों से अनुशासित है। ये विचार ही वस्तुत इस युग की समीक्षा की प्रस्तावना का निर्माण करते हैं। भारतेन्दु युग मे जहां एक ओर प्राचीन रीतिवादी पद्धति पर काव्यगत लक्षणो आदि का निरूपण करती हुई कतिपय विचार सारणियां दिखायी पड़ीं, वहां दूसरी ओर युग के नये जागरण के स्वर भी कतिपय साहित्य-चिन्तको के माध्यम से प्रतिध्वनित हुए। इन साहित्य-चिन्तको ने ज्ञान-विज्ञान के नए आलोक मे जीवन तथा साहित्य की नई भूमिकाओ और नए सबधो की ओर अपने समय की साहित्यिक चेतना का ध्यान आकृष्ट किया। काव्य के परीक्षणो मे भी अधिक गहरी दृष्टि की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। फलत. कतिपय नये प्रयासों के लिये द्वार खुला। भारतेन्दु के अतिरिक्त प० बालकृष्ण भट्ट जैसे लेखको ने साहित्य को जनसमूह के हृदय का विकास मानते हुए उसे सामाजिक भावनाओ से युक्त देखते हुए आग्रह किया। ऐसे अनेक समीक्षात्मक लेख भी पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित हुए जिसे स्पष्ट आभास मिला कि साहित्यिक श्रेष्ठता का मापदण्ड जनता की चित्तवृत्तियों, उसकी सुरुचि तथा नैतिक आग्रहो के सन्दर्भ मे ही विवेच्य है। वस्तुतः इस युग के समीक्षक एक ओर तो साहित्य को सामयिक जीवन सस्पर्शो से सजीव भी देखना चाहते थे दूसरी ओर वे साहित्य को शाश्वत स्वरूप के भी समर्थक थे। प्राचीन और नवीन सामाजिक तथा साहित्यिक मूल्यो के सम्पर्क की अनिश्चित स्थिति के कारण भले ही कोई सुदृढ़ एवं

१. पृष्ठ २४—नया साहित्य : नये प्रश्न

आधारभूत सिद्धान्त न बन सका हो फिर भी इसके मूल में सामाजिक तत्वों की स्थिति स्वीकार्य है। राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, जन-रुचि, समाज कल्याण और नैतिकता के आधार पर विकसित इस समीक्षा का प्रगतिवादी आलोचना के सन्दर्भ में अपना विशिष्ट मूल्य और महत्व है।

द्विवेदी-युगीन समीक्षा

भारतेन्दु युग की सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन दृष्टि द्विवेदी युग में आकर क्रमशः प्रौढ़ता प्राप्त हुई और साहित्य अपने विकासक्रम में सामाजिक जीवन की नैतिकता और आदर्श निष्ठा के अधिक निकट आया। साहित्य और समाज के बीच संबंध स्थापन का जो प्रयास भारतेन्दु युग में किया गया था उस पर भक्ति एवं शृंगार का आवरण रहने के कारण साहित्य में सामाजिक उद्देश्य की भली भाँति पूर्ति न हो सकी थी। परन्तु द्विवेदी युगीन राष्ट्रीयता और समाज सुधार की भावनाओं के समक्ष साहित्य से शृंगार और भक्ति का आवरण हटने लगा। 'सुरुचि, नैतिकता और राष्ट्रीयता की जिस भावना को भारतेन्दु कालीन आलोचना में प्रश्रय मिला और गुण-दोष की उद्‌भावना की जिस पद्धति के बीज का उस काल में अंकुरण हुआ उसी भावना और अंकुर को और अधिक तीव्र एवं विकसित करने का श्रेय द्विवेदी-युग को है।'[1] इस युग की समीक्षा-प्रणाली का आकलन करने के पश्चात् यद्यपि हमें यह अनुभव होता है कि अपनी उपयोगिता और सुधारवादिता में यथेष्ट प्रगतिशील होकर भी यह साहित्य की शुद्ध आनन्ददायिनी शक्ति का सम्यक् विवेचन नहीं कर सकी है फिर भी साहित्यालोचन के अन्तर्गत व्यापक सामाजिक मूल्यों की स्थापना में इसका महत्वपूर्ण प्रदेय है। स्वयं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, आचार्य वाजपेयी के अनुसार, 'नवीन युग की सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप साहित्य निर्माण की प्रेरणा दी और अपनी समीक्षा में उन्हीं कृतियों को महत्व दिया जो सामाजिक उत्थान और राष्ट्रीय विकास की भावनाओं से ओतप्रोत थी।'[2] रीति-युगीन काव्य मीमांसा की परम्परा तथा शृंगार एवं नायिका भेद की अस्वस्थ भावनाओं का उन्होंने अपने विवेचन क्रम से बहिष्कार कर दिया और काव्यानंद को मनोरंजन की भूमि से हटाकर समाज-शिक्षा और सामाजिक लाभ से अनिवार्यतः सम्बद्ध कर दिया।

---

१. पृष्ठ २७—प्रगतिशील आलोचना, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

२. ,, २४—नया साहित्यः नये प्रश्न।

द्विवेदी युग की समीक्षा धारा की प्रौढ़ता तथा उपलब्धियों में आचा[illegible] द्विवेदी के अतिरिक्त श्री मिश्र बन्धु, पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदी[illegible] तथा पं० कृष्णविहारी मिश्र प्रभृति साहित्यकारों के कृतित्व का भी विशि[illegible] योग है। 'द्विवेदी जी की तुलना में ये प्राचीनतावादी अथवा परम्पराव[illegible] अवश्य कहे जा सकते है, पर उनमे अपने युग की आवश्यक नवीनता भी [illegible] जिसके कारण वे गण्यमान समीक्षक कहला सके।'[1]

इस युग की समालोचना के अन्तर्गत व्यापक चेतना और बहुमुखी उन्[illegible] के सदर्भ मे तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र मे घटित क्रान्तिका[illegible] और युग-प्रवर्त्तक घटनाओं की भी सक्रिय भूमिका है। 'ऐसा प्रतीत होता [illegible] कि इस युग की सर्जनात्मक प्रेरणा सजीवनशील विधि के द्वारा देश मे राष्ट्र[illegible] जागरण की स्वर लहरी का प्रसार कर उसे एक निश्चित मार्ग दर्शन करा[illegible] चाहती थी तो समालोचक प्रवृत्ति भी उसे भारतीय काव्य शास्त्र के अधि[illegible] अनुरूप बनाकर साहित्य के सदुद्देश्य को अधिक निकट-वर्ती भावना से स्थ[illegible] करने की आकांक्षिणी थी।'[2]

यह साहित्यकार की जनवादी प्रवृत्ति का ही परिणाम था कि सामन्तवा[illegible] प्रवृत्तियों के प्रति विद्रोह की जो ज्वाला भारतेन्दु काल मे प्रकट हुयी थी उसक[illegible] और तीव्र करते हुये पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-सन्यासियों को [illegible] कर्मभूमि मे उतरने की शिक्षा दी गई। साहित्य के वर्ण्य-विषय मे आमू[illegible] परिवर्तन कर उसमे व्यापकता लाने का प्रबल आग्रह इस युग की आलोचन[illegible] की अपनी प्रमुख विशेषता कही जायेगी। जन सामान्य को काव्य का वर्ण्य[illegible] विषय बनाने की प्रबल आकांक्षा को अभिव्यक्त करते हुए इस युग के साहित्य[illegible] कार के ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—'अभी तक वह (कवि) मिट्टी से स[illegible] हुये किसानों और कल-कारखानों से निकले हुये मैले मजदूरों को अपने काव्[illegible] का नायक नहीं बनाना चाहता था, वह स्तुति, वीर गाथा अथवा प्रवृत्ति[illegible] निर्देशन मे ही लीन रहता था। परन्तु अब वह क्षुद्रों की महत्ता देखेगा।'[3]

अपने इन समस्त सर्जनात्मक तत्वों को समन्वित करती हुयी द्विवेदी युग की समीक्षा कुछ निश्चित साहित्यादर्शों की भूमि पर आधारित है। इस युग[illegible]

---

१. पृष्ठ १८९-८६—श्री वेंकट शर्मा, आधुनिक हिन्दी साहित्य मे समालोचना का विकास

२. पृष्ठ [illegible] : नये प्रश्न।

३. [illegible]

दया है अथवा आचार्य वाजपेयी के अनुसार, 'अपनी काव्य समीक्षा में बड़े समारोह के साथ सामाजिक सम्पर्क का आवाहन किया है।'[1]

शुक्ल जी का 'लोकधर्म' सामाजिक जीवन की व्यावहारिक यथार्थता से स्पष्ट है। डार्विन के विकासवाद (Theory of Evolution को अपनी दृष्टि सीमा में रखकर उन्होंने मानव सभ्यता एवं उसकी तत्कालीन प्रवृत्तियों को 'आत्मरक्षा' की भावना से प्रभावित माना है। उनका 'लोकधर्म' का सिद्धान्त इसीलिए समाज की सुव्यवस्था तथा उसकी रक्षा का समर्थक है। उन्होंने धर्म का अर्थ समाज में रहने का नियम माना है। समाज की सुव्यवस्था तथा रक्षा के प्रयत्न में यदि परिमित धर्म की सीमा का भी उल्लंघन हो जाए तो इसे वे अस्वीकार नहीं करते। बल्कि उनके अनुसार, 'यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्राय ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबाध व्यंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।' इस दृष्टि से शुक्ल जी टालस्टाय के 'भ्रातृप्रेम' और गांधी के 'अहिंसावाद' के पोषक नहीं हैं अपितु लोक-रक्षा के समस्त ध्वंस-कार्य को भी उन्होंने स्वीकृति दी है क्योंकि 'लोक की पीड़ा, बाधा, अन्याय और अत्याचार के बीच दबी हुई आनन्द ज्योति भीषण शक्ति में परिणत होकर अपना मार्ग निकालती है और फिर लोकमंगल और लोकरंजन के रूप में अपना प्रकाश करती है।'

शुक्ल जी के समक्ष प्राचीन भारतीय साहित्य की कर्मशीलता के दृष्टान्त थे' सामाजिक जीवन मे सजगता लाने के हेतु साहित्यकार के अथक प्रयासों का इतिहास था। अत. उन्होंने इसी परम्परा से प्रभावित होकर जनता के सुप्त हृदय चेतना की लहर प्रवाहित करने के निमित्त 'कर्म-सौन्दर्य' की उपासना आवश्यक समझी। काव्यानन्द की अनुभूति को इसी आधार पर उन्होंने दो श्रेणियों—(१) आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष तथा (२) आनन्द की सिद्धावस्था या भोगपक्ष, में विभाजित कर साधनावस्था को ही 'लोकमंगल-कारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयुक्त घोषित किया। यद्यपि शुक्ल जी का मत है कि आनन्द की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था दोनों के प्रति समान

---

१ पृष्ठ ६१—आचार्य वाजपेयी—आचार्य शुक्ल का काव्यालोचन (उद्धृत—श्री वेंकेट शर्मा, आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास, पृष्ठ २५१)।

दृष्टि रखने वाले कवि ही पूर्ण कवि है, क्योंकि वे जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं' फिर भी आनन्द की साधनावस्था का चित्रण करने वाले कवियों के प्रति उनकी विशेष आलोचना रही है। 'समाज में एक तरफ हाहाकार व्याप्त हो, देश की अधिकांश जनता उत्पीडित हो, अभाव, वैषम्य, पराधीनता सबका देश के रंगमंच पर नृत्य हो और दूसरी ओर कवि नैराश्य का अश्रुपात करे, जनता के दुःख ग्लानि पर मानसिक भोग-विलास का अवगुंठन डालने की चेष्टा करे अथवा तटस्थ रहकर उसकी निरपेक्ष आलोचना करे यह शुक्ल जी को मान्य नहीं था।'[1]

आचार्य शुक्ल का 'लोकमंगलवाद' प्रयत्न पक्ष की महत्ता का अनुयायी है। लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग जहाँ लोकधर्म और व्यक्ति धर्म के विरोध की समस्या उपस्थित हो वहाँ लोकधर्म का आश्रय ही उचित होता है क्योंकि लक्ष्य की प्राप्ति अथवा महत्ता के आगे साधन की अधार्मिकता का कोई मूल्य नहीं है। अत्याचार की तमिस्रा में अवस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष न होने वाली कल्याणकारिणी आनन्द ज्योति की प्राप्ति के लिये जब कोई उत्साही कर्मरत होता है अथवा भीषण एवं दुर्दम्य प्रकृति का आश्रय लेता है तो उच्च अभिलाषा एवं पुनीत लक्ष्य के कारण उसकी भीषणता में भी सौन्दर्य की अद्भुत छटा फूट पड़ती है।"[2] शुक्ल जी के मत से 'यदि बीज भाव की प्रकृति मंगल विधायिनी होती है तो उसकी व्यापकता और निर्विशेषता के अनुसार सारे प्रेरित भाव तीक्ष्ण और कठोर होने पर भी सुन्दर होते हैं।"[3]

साहित्य और समाज के घनिष्ठ संबंध-स्थापन का एक प्रमुख श्रेय आचार्य शुक्ल को ही है जिन्होंने प्रथमतः साहित्य साधना को सामाजिक जीवन के संदर्भ में देखने का प्रयास किया है। भारतीय साहित्य की समस्त प्रगतिशील परम्पराओं को आधार मानते हुए उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की—"काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं।" इस प्रकार उनका यह कथन कि "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विषमताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके" उनकी समीक्षा संबंधी धारणा को स्पष्ट करने में बहुत सहायक है। शुक्ल जी की इस उक्ति में उनकी प्रगतिशील दृष्टि का आभास है जिसे लक्ष्य करते हुए डॉ० शर्मा

---

१. पृ० ५९-६० : प्रगतिशील आलोचना, श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।
२. ,, ६१—प्रगतिशील आलोचना—श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव।
३. ,, २२१-२२—चिन्तामणि, भाग १।

से कहा है—' उनके और प्रगतिवादियों के जीवन के दृष्टि में अन्तर अवश्य है किन्तु जहाँ तक कविता को जीवन के संघर्ष में लाने का प्रश्न है आचार्य शुक्ल किसी प्रगतिवादी से कम नहीं थे।'[1]

साहित्य को सोद्देश्य स्वीकार करने वाली शुक्ल जी की प्रवृत्ति का भी प्रगतिवाद के लक्ष्य समान से संगत है, इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती।' साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता का आदर्श आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति का केन्द्र-बिन्दु है जहाँ से 'लोकमंगल' और 'लोकधर्म' की मर्यादा जुड़ी है। उनके अनुसार, व्यक्ति की संकुचित परिधि से ऊपर उठकर समष्टि के व्यापक मनोभूमि पर आ जाने में ही काव्य की सार्थकता है।"[2] शुक्ल जी के सामाजिक दृष्टिकोण का आधार यही व्यापक मनोभूमि है- साधारण जनता का जीवन है।

लोकमंगल तथा लोकधर्म के आदर्शों को दृष्टिगत रखते हुए भी आच शुक्ल की प्रगतिशीलता एक विवादास्पद प्रश्न है जिसके एक छोर पर होकर कोई उन्हें पूर्ण रूप से प्रगतिवादी सिद्ध करने का प्रयास करता है कोई प्रतिक्रियावादी। भले ही प्रगतिवादी समीक्षा के सन्दर्भ में आचार्य के आदर्श भले ही उतने महत्त्वपूर्ण न सिद्ध हों फिर भी हम इस त अस्वीकार नहीं कर सकते कि इस समीक्षा के पथ-निर्माण में उनके आध सिद्धान्तों का विशिष्ट महत्त्व है।

शुक्ल जी की प्रगतिशीलता के सम्यक् मूल्यांकन में सबसे बाधक तत्व उनकी पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति मानी जाती है। पुनरुत्थानवादी होने के कारण ही उनकी दृष्टि हिन्दी साहित्य के अतीत की ओर लगी रही और नये काव्य का सम्यक् विवेचन करने में असमर्थ रही। कहीं-कहीं वैयक्तिक आग्रह के प्रबल मोह के समक्ष शुक्ल जी समीक्षा विषयक विवेचनों में तटस्थ नहीं रह सके हैं। फिर भी जैसा कि आचार्य वाजपेयी ने कहा है—"जो निधियाँ भूगर्भ में पड़ी थी, उन्हें सामाजिक भूमिका पर लाकर और नई टकसाल में ढालकर समाज की सम्पत्ति बना देना केवल पुनरुत्थान नहीं कहला सकता · ·जो साहित्यशास्त्र सामयिक जीवन चेतना का स्पर्श न पाकर केवल पांडित्य का भारवाही बना हुआ था उसे नये सामाजिक और साहित्यिक स्पन्दनों से समन्वित कर जन समाज के सम्मुख रख देना एक अपूर्व उपलब्धि

---

१. पृष्ठ ६१—डॉ० राम विलास शर्मा, रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना।

२. पृष्ठ २६४-६५—हिन्दी साहित्य का इतिहास।

थी।"[1] शुक्ल जी ने शास्त्रीय साहित्य शास्त्र में प्रगति सापेक्ष मूल्यों को ही उनके सिद्धान्तों में समाहित करने का प्रयत्न किया है।

शुक्ल जी की समालोचना अपने युग की सीमा के कारण भले ही सकुचित हो गयी हो, लेकिन आचार्य वाजपेयी के शब्दों में हम कह सकते हैं 'महत्व सीमाओं का नहीं, महत्व है सीमाओं के अन्तर्गत किये गये काम का' और इस दृष्टि से शुक्ल जी की समीक्षा अपनी समग्र सीमाओं के बावजूद प्रगतिशील बुनियादों की उद्भावक कही जा सकती है—उसके अन्तर्गत कुछ ऐसे विशिष्ट तत्वों की स्थिति है जो आज की प्रगतिवादी समीक्षा के विधायक है और जिनका अधिक स्पष्ट रूप क्रमश: हमारे समक्ष आता जा रहा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी का प्रवेश, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, छायावादी काव्य के विवेचक के रूप में हुआ।[2] यद्यपि उन्होंने इस कविता की नूतन कल्पना-छवियों और अभिनव भावा-रूपों का स्वागत किया किन्तु इसके परवर्ती काल में विकसित होने वाली ह्रासशील मनोवृत्तियों को उनके द्वारा प्रश्रय न मिला। पत, प्रसाद तथा निराला के काव्य को आचार्य वाजपेयी ने मानवतावादी और सास्कृतिक भूमि पर आधारित माना है। प्रसाद के काव्य की विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए उनका यह कथन दृष्टव्य है—"उसमें जीवन की वास्तविक विशालता की स्वीकृति है, वर्तमान अभावों का, वैषम्य से इगित है और उस विशालता के आधार पर रहस्यमय जीवन-ऐक्य की स्थापना का प्रयत्न है।"[3] किन्तु बच्चन की निराशा भरी काव्य रागिनी के सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति "उच्च साहित्य जो सदैव हमारे अबाध और अपराजित जीवन का संगीत है, इन विक्षत स्वरों का कितना सम्मान करेगा।"[4] उनकी जातीय तथा सामाजिक समीक्षा दृष्टि का ही व्यजक है।

आचार्य वाजपेयी ने जीवन और साहित्य का सबध अत्यन्त व्यापक धरातल पर स्वीकार किया है। साहित्य को जीवन सापेक्ष्य मानते हुये उन्होंने जीवन से बाहर उसकी सत्ता नही स्वीकार की है। इस सबध मे उनका मत

१. पृष्ठ ३-४ —आधुनिक काव्य चिन्तन—आलोचना, जनवरी, १९५९।
२ ,, १—निवेदन, नया साहित्य : नये प्रश्न।
३. ,, १२—विज्ञप्ति, हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी।
४. ,, १—वही।

है, 'जीवन निरपेक्ष कला के लिये कला भ्रामक है, जीवन सापेक्ष कला के लिये कला सिद्धान्त है।'[१] साहित्य और जीवन में घनिष्ठ संबंध होने हुये भी दोनों की पूर्ववर्ती भूमिका में अन्तर रहेगा ही क्योंकि 'जीवन तो एक धारा प्रवाह है, साहित्य में उसकी प्रेरणादायिनी और रमणीय बूंदें एकत्र की जाती हैं। जीवन के अनन्त आकाश में साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते हैं।'[२] अतः साहित्यकार को युगीन जीवन के परिवेश में कारावद्ध मानना उचित नहीं क्योंकि उसमें वर्तमान के साथ भविष्य के बीज भी निहित होते हैं।

आचार्य शुक्ल की भांति वाजपेयी जी ने भी आधुनिक हिन्दी साहित्य की कलावादी तथा व्यक्ति वैचित्र्यवादी प्रवृत्तियों की बड़ी स्पष्टता के साथ भर्त्सना की है। 'तार सप्तक' में श्री अज्ञेय तथा प्रभाकर माचवे के आप्त कथनों का उद्धरण देते हुये उन्होंने बड़ी तर्कपूर्ण शैली में उन्हीं के शब्दों की व्यंजनाओं के आधार पर प्रयोगवाद की अनिश्चित स्थिति प्रमाणित की है और उनकी उद्भावनाओं का समाहार दिखलाया है। वाजपेयी जी के इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे वास्तविक काव्य—सृजन और प्रयोग में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार, कवि का दायित्व अपनी रसात्मक अनुभूतियों के प्रति होता है जबकि प्रयोग को सब कुछ मानने वाला साहित्यकार उसकी मूल चेतना से बहुत अधिक दूर और हटा हुआ रहता है। उनके निष्कर्षों से कवि का उत्तरदायित्व व्यक्तिगत अनुभूतियों के साथ-साथ सामाजिक जीवन और काव्य सत्ता के साथ भी सम्भव है।

सैद्धान्तिक स्तर पर, अपनी इसी दृष्टि के कारण उन्होंने आचार्य शुक्ल की भांति रस की अलौकिकता का खण्डन किया है। वाजपेयी जी का रस-सिद्धान्त सार्व-भौमिक मानवतावाद पर आश्रित है, जिसमें नीति, भावना और दर्शन का समाहार है। यहाँ उनकी समीक्षा की सैद्धान्तिक सीमायें अत्यन्त व्यापक और उदार बन गई हैं।

वाजपेयी जी 'साहित्य से—सामाजिक जीवन का तथा सामाजिक विचार-धाराओं का संबंध एक अनुवर्ती भूमिका पर स्वीकार करते हैं।'[३] उन्होंने साहित्य की सामाजिकता और प्रगतिशीलता के मध्य कवि की संवेदनाओं को अधिक तीव्र और युगानुकूल माना है। मानवजीवन की शाश्वत संवेदनायें

---

१. पृष्ठ १८, नया साहित्य : नये प्रश्न।
२. „ ४५५, आधुनिक साहित्य।
३. „ १८ — नया साहित्य : नये प्रश्न।

स्थिर और गतिहीन नहीं है, उनमें भी संस्कृति के अनुरूप विकास और प्रगति होना स्वाभाविक है। समाज की परिवर्तनशील स्थिति में कवि की दृष्टि तो और भी अधिक तीव्र और प्रातिभ शक्ति सजग रहती है। इसीलिये सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। 'प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वप्नों और प्रवृत्तियों के शाश्वत-सौन्दर्य संवेदन का स्वरूप देना ही उसका कार्य है।'[1]

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में छायावाद के अपसरण काल में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ प्रगतिवादी आन्दोलन तथा साहित्य के प्रति आचार्य वाजपेयी की अभिमुखता भी उनकी प्रगतिशील जीवन-दृष्टि का ही परिचय है। जहाँ तक साहित्य में प्रगतिशीलता का प्रश्न है, आचार्य वाजपेयी उसे किसी दलगत विचार-धारा में न ग्रहण कर सात्विक रूप में ही श्रेयस्कर मानते हैं। 'कला और साहित्य में प्रगतिशील निर्माण की समस्या', उनकी दृष्टि में, 'उस प्रगतिशीलता से बिल्कुल भिन्न है जिसे हम एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्तया उपचार के रूप में जानते हैं। दोनों को एक ही लाठी से नहीं हाँका जा सकता। साहित्य में जीवन की वास्तविक रचना करनी होती है अतः उसकी प्रगतिशीलता की माप जीवन निर्माण की सफलता और असफलता के आधार पर ही होगी।'[2] उन्होंने प्रगति को जीवन-साहित्य की एक अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में देखा है और प्रत्येक युग में उसकी सस्थिति आवश्यक मानी है। प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप निर्धारण करते हुये उन्होंने अपने तीन-सूत्रों की आयोजना की है जो उनकी सुलझी हुई तात्विक दृष्टि के परिचायक हैं। इन सूत्रों में पहला सूत्र आत्मचेतना या जीवन चेतना का है जिसके अभाव में साहित्य अथवा कला का वास्तविक निर्माण हो ही नहीं सकता। उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का दूसरा सूत्र यह माना है कि वह परिवर्तन के क्रम को समझते हुये नवीन समस्याओं के सम्पर्क में आवे और नवीन ज्ञान का उपयोग करता जावे। तीसरे सूत्र के अन्तर्गत उन्होंने कला-निर्माण के पक्ष को महत्व दिया है। इन सूत्रों में उन्हें प्रगतिशील साहित्य की बाह्य तथा आभ्यन्तरिक विशेषताओं का सम्पूर्ण संयोजन मिला है।[3]

वाजपेयी जी की प्रगतिशीलता विषयक दृष्टि के संदर्भ में उनका यथार्थवादी

---

१. पृष्ठ ९ — नया साहित्य : नये प्रश्न।

२. „ १२३ — हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी।

३. „ २८१—श्री वेंकट शर्मा : आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास।

आचार्य द्विवेदी का मानवतावाद सर्वमान्य तथा व्यावहारिक जीवन दर्शन पर आधारित है। अपनी महत्वपूर्ण कृति 'हिन्दी साहित्य' में उन्होंने मानवतावाद की व्याख्या करते हुये उसका आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय वातावरण में माना है।[1] मनुष्य का मन, बुद्धि, संस्कार, धर्म, मत सब कुछ एक विकासमान स्थिति की ओर गतिशील है तथा 'मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की आर्थिक और राजनीतिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विद्याओं का लक्ष्य है' इन दो विश्वासों के आधार पर ही प्रारंभिक मानवतावाद की नींव पड़ी थी।[2] प्राचीन विश्वासों पर आधारित धर्म भावना मनुष्य के परलोक को सुखमय बनाने का संकल्प लिये हुये थी तो इस मानवतावादी दृष्टि ने इसी नश्वर जगत की मर्त्यकाया में ही सुखी बनाने की आस्था व्यक्त की। जीवन दृष्टि के इस परिवर्तन से मनुष्य के आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्यों में जो अन्तर आया, द्विवेदी जी का मानवतावाद उन सबके अत्यधिक निकट है। इस दृष्टि से उनका मानवतावाद यथार्थोन्मुख मानवतावाद है, जो इतिहास और विज्ञान से मुँह मोड़ कर चलने वाला नहीं है।[3] यह मानवतावाद यथार्थोन्मुख होते हुये भी प्रकृतवाद से सर्वथा विपरीत है। 'प्रकृतिवादी लेखक', जैसा कि द्विवेदी जी ने कहा है—मनुष्य को काम, क्रोध आदि मनोरागों का गट्ठर मात्र समझता है और उसके अर्थहीन आचरणों, कामासक्त चेष्टाओं और अहंकार से उत्पन्न धार्मिक वृत्तियों का विशेष भाव से उल्लेख करता है।[4] किन्तु इसके विपरीत मानवतावादी लेखक 'मनुष्य को पशु-सामान्य धरातल से ऊपर का प्राणी मानता है। वह विश्वास करता है कि यद्यपि मनुष्य में बहुत पशु सुलभ वृत्तियाँ रह गई हैं, तथापि वह पशु नहीं है। वर्षों की साधना से उसने अपने भीतर त्याग, तप, सौन्दर्य प्रेम और पर-दुःख कातरता जैसे गुणों का विकास किया है।[5]' आचार्य द्विवेदी के मानवतावाद विषयक इन आदर्शों को दृष्टिगत रखते हुये कहा जा सकता है कि उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व और कृतित्व इसी भाव-धारा में निमज्जित है।

---

१. पृष्ठ ४३०-४३१—हिन्दी साहित्य।

२. „ —वही

३. पृष्ठ ११८, आलोचना, वर्ष २ अंक—१ (डॉ० शंभुनाथ सिंह, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानवतावादी दृष्टि)

४. पृष्ठ ४२९, हिन्दी साहित्य।

५. „ —वही—

अपने जीवन के प्रारंभिक क्षणों में मानवतावाद ने जिन स्वरूप आदर्शों तथा संकल्पों की घोषणा की थी, व्यावहारिक जगत में उनकी यथेष्टपूर्ति न हो सकी और क्रमशः उसमें विकृति का समावेश होने लगा। इस विकृति के मूल में द्विवेदी जी ने व्यष्टिगत जीवन मूल्यों की परिकल्पना की है जो विगत दो महायुद्धों के प्रधान कारण रहे हैं। जबकि सारा मनुष्य समाज एक है, सब मनुष्यता को वैयक्तिक स्वार्थों में सम्बद्ध कर देना द्विवेदी जी को स्वीकार नहीं है और यही कारण है कि उन्होंने जिस साहित्य से संकीर्ण स्वार्थों के बंधन से मुक्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती तथा एक के प्रति आत्मनिवेदित होने की महान् आकांक्षा नहीं जगती, प्रश्रय नहीं दिया है। अपनी ऐतिहासिक दृष्टि के आधार पर निष्कर्ष निकालते हुये, उन्होंने यह आशा व्यक्त की है—असली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी सिद्धि के साधन बनाकर कल्याणप्रद और जीवन पर हो सकते हैं। आज की भौतिक विपदाओं के मूल में वैयक्तिक स्वार्थ और व्यष्टि जीवन मूल्यों की ही स्थिति है। मानवीय संस्कृति अपने आगामी विकास में समष्टिवादी चेतना के आधार पर ही गतिशील होगी क्योंकि उनके अनुसार, 'सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम साधन है। मनुष्य को व्यक्ति को नहीं बल्कि समष्टि मनुष्य को—आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना ही उसका ध्येय होना चाहिये।'[1] उनकी स्पष्ट मान्यता है कि—'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूं जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षता से बचा न सके जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुःख कातर और संवेदनशील बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।'[2] अपने मानवतावादी आदर्शों के आधार पर ही उन्होंने हिन्दी साहित्य का विवेचन किया है। बीसवीं शताब्दी के समस्त हिन्दी लेखकों में उन्होंने मानवता विषयक व्यापक जीवन दृष्टि की कल्पना की है और उसका सर्वोच्च उत्कर्ष प्रेमचद में सिद्ध किया है। प्रेमचद के साहित्य पर विचार करते समय उनके एक पात्र के इस कथन को—'जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है। यह मोक्ष और उपासना अहकार की पराकाष्ठा है जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहाँ जीवन है, क्रीडा है, चहक है, प्रेम है, वही ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही मोक्ष और

1. पृष्ठ ४१४, हिन्दी साहित्य।
2. पृष्ठ १६९, अशोक के फूल।

उपस्थित है ... वह ज्ञान जो मनुष्य को दीन बनाये, ज्ञान नहीं कोल्हू है।' मानवतावादी दृष्टि को स्पष्ट अभिव्यक्त माना है।[1] इसी प्रकार रसवादी काव्य का आकलन करने के पश्चात् उन्होंने उसमें मानवता विषयक दृष्टि की प्रधानता स्वीकार की है। सैद्धान्तिक धरातल पर द्विवेदी जी ने अलंकार, छंद तथा रस को स्वतन्त्र प्रतिमान न मानकर मनुष्य के समझने का साधन माना है।

आचार्य द्विवेदी ने साहित्य को मानव जीवन के सन्दर्भ में रखकर उसकी देश अथवा कालगत सीमाओं की अवहेलना की है। उनके मत में, 'महान साहित्यकारों की रचनायें शाश्वत जीवन को ध्वनित करती हैं। उनमें स्थायित्व होता है।' किन्तु यह स्वयं कवि की मानसिक कल्पना पर आश्रित न होकर सामाजिक जीवन से उसके परिचय पर आधारित है। डॉ० शम्भूनाथसिंह के शब्दों में, 'मनुष्य-मात्र की मंगल-कामना और जीवन के प्रति सुप्रतिष्ठित दृष्टि से द्विवेदी जी का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार का लक्ष्य मनुष्य का हित साधन करना है और उसे कला कला के लिये के निरुद्देश्य और वासना-प्रिय सिद्धान्त से प्रेरणा नहीं ग्रहण करनी चाहिये।'[2] रीति कालीन साहित्य की कलावादिता का खण्डन करते हुये उन्होंने कहा है—'ग्राम गीतों की एक-एक बहू के चित्रण पर रीति काल की सौ-सौ मुग्धायें खंडितायें और धारायें निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारों से लदी हुयी होकर भी निष्प्राण हैं।'[3]

द्विवेदी जी ने साहित्य के इतिहास को अविरल एवं अविच्छिन्न सांस्कृतिक नैरन्तर्य के सन्दर्भ में देखने का स्तुत्य प्रयास किया है। वे इतिहास को जीवन्त मनुष्य के विकास की जीवन-कथा मानते हैं जो काल प्रवाह से नित्य उद्घाटित होते रहने वाले नव-नव घटनाओं और परिस्थितियों के भीतर से मनुष्य की विजय यात्रा का चित्र उपस्थित करता है और जो काल के परदे पर प्रतिफलित होने वाले नये-नये दृश्यों को हमारे सामने सहज भाव से उद्घाटित करता रहता है।'[4] वस्तुत: साहित्य के इतिहास के संबंध में भी उनका मत मानवतावादी ही कहा जायेगा क्यों उनके अनुसार, 'साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव और विकास की कहानी नहीं है। वह वस्तुत

१. पृष्ठ ४३२, हिन्दी साहित्य।
२. पृष्ठ ११९ आलोचना, वर्ष ३, अंक १, १९५३।
३. हिन्दी साहित्य।
४. „ २८१, डॉ० रामाधार शर्मा—'हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा'।

अर्थात् काव्य के प्रभाव से [illegible] जीवित मानव-समाज की ही विराम-
कता है।[1] साहित्य के दृष्टिकोण संबंधी इसी दृष्टि के कारण द्विवेदी जी ने
सर्वत्र साहित्य को सम्पूर्ण सांस्कृतिक जीवन से [illegible] देखा है। उनकी
दृष्टि से साहित्य का दृष्टिकोण लोककल्याण की भावना पर आधारित होता
है। साहित्यकार इसी से [illegible] देता है।

आचार्य द्विवेदी का प्रगतिवाद विषयक विवेचन उनकी उदार तथा व्यापक
समीक्षा-दृष्टि का परिचायक है। उनके मत [illegible] के मत का एक ओर
उन्होंने जहाँ मुक्त कण्ठ से स्वागत किया है वहीं उनकी विवेचना तथा [illegible]
[illegible] का विरोध भी किया है। द्विवेदी जी प्रगतिवाद को मानवतावाद का
ही एक रूप स्वीकार करते हैं जिसके मूल में समष्टि मानव की शोषण-मुक्ति
का स्वप्न है। इस समष्टि मानव के उज्ज्वल नवीन आदर्श से चालित साहित्य
का नाम 'प्रगतिशील साहित्य' है। किन्तु इसी की एक निश्चित सम्प्रदाय पर
आश्रित शाखा को उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य की संज्ञा दी है।[2]

प्रगतिशील लेखकों के अन्तर्गत द्विवेदी जी ने दो श्रेणियों की कल्पना की
है—'एक तो वे जो कम्युनिस्ट पार्टी से संबंधित हैं और पार्टी की निर्धारित
नीति और अंगुलि-निर्देश पर साहित्य लिखते हैं, दूसरे वे जो पार्टी से संबंधित
नहीं हैं, पर इन मार्क्सवादी विचारों को मानते और तदनुसार यत्न करते हैं।'[3]
द्विवेदी जी ने पार्टी से मुक्त साहित्यकारों की ही अभ्यर्थना की है क्योंकि
स्वतन्त्र चिन्तन के मार्ग में पार्टी का आना उनकी दृष्टि में हितकर नहीं है।
'भविष्य में या तो पार्टी का अपना अंकुश उठा लेना पड़ेगा या प्रथम कोटि के
साहित्यकारों से वंचित रहना पड़ेगा।'[4]

कुल मिलाकर आचार्य द्विवेदी की समीक्षा-दृष्टि मानवतावादी होने के
साथ ही सजग और विकासमूलक भी कही जा सकती है। द्विवेदी जी हिन्दी
के उन इने-गिने चिन्तकों में से हैं जिनकी मूलनिष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृति
पर आधारित होते हुये भी नवीनता के एक अद्भुत एवं अपूर्व सामंजस्य से
ओत-प्रोत है। मनुष्य मात्र की एकता और मंगल-भावना के उपासक तथा
जीवन के प्रति आस्थामूलक एवं सुप्रतिष्ठित दृष्टि लेकर अग्रसर होने वाली

---

१. पृष्ठ १७५, विचार और विमर्श।
२. पृष्ठ ४९५, हिन्दी साहित्य।
३. " ४९८, वही।
४. " ४९९, वही।

उनकी विचार-पद्धति ने सामाजिक क्रान्ति की इतिहास सम्मत विचार धारा को वाणी दी है। साहित्य को सामान्य जनता के जीवन से सम्बद्ध मानकर उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को देखने का जो अनुपम प्रयास किया है उसका प्रगतिवादी समीक्षा के सन्दर्भ में विशिष्ट महत्व है। कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी की सन्तुलित विचार-धारा ही सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक समाज-शास्त्रीय धारा है जिसका उपयोग आज की प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत होना शेष है।

काव्य की धारायें और समीक्षा-दृष्टियाँ समानान्तर होते हुये भी एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। इसी क्रम से उनका विकास भी होता है और एक नवीन धारा का आविर्भाव भी। द्विवेदी जी ने मिश्र बन्धु आदि की प्रणालियों का उपयोग करते हुये शुक्ल जी में एक नवीन, प्रौढ़ और शास्त्रीय पद्धति का निर्माण किया। शुक्ल जी की अमूल्य निधि को लेकर साहित्य को वैयक्तिक चारित्रिक निर्माण से ऊपर उठाकर सांस्कृतिक चेतना को स्वर देने वाली स्वच्छन्दतावादी समीक्षा हिन्दी साहित्य में एक नये अध्याय का उद्घाटन करती है। इसके पश्चात् शुक्ल सम्प्रदाय और स्वच्छन्दतावादी समीक्षा प्रणाली से अनुगृहीत होते हुये मार्क्सवादी जीवन दृष्टि को लेकर विकसित होने वाली प्रगतिवादी समीक्षा का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य-समीक्षा का प्रत्येक नया रूप अपनी पूर्ववर्ती भूमिका से जीवन-रस प्राप्त करता है और उसके विकास के बीज उसी भूमिका में अंकुरित होते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के विकास में उपर्युक्त समीक्षा धाराओं तथा साहित्य मनीषियों के कृतित्व का महत्वपूर्ण योग स्वीकार करना होगा बल्कि सही अर्थों में देखा जाय तो इन आचार्यों की समाजोन्मुखी तथा आस्थामूलक जीवन दृष्टि से ही प्रगतिवादी समीक्षा की उस भूमिका का निर्माण किया है जिस पर चल कर प्रगतिवादी समीक्षा ने एक सुनिश्चित रूप धारण करते हुये नये आयामों का स्पर्श किया है।

साहित्य को सामाजिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखने का आग्रह प्रगतिवादी समीक्षा की प्रमुख विशेषता है। 'मार्क्स ने ही सर्वप्रथम यह घोषणा की थी कि भाव धारा का कोई स्वतन्त्र इतिहास नहीं है, भाव धारा का इतिहास मूलतः सामाजिक जीवन का ही इतिहास है। इसीलिये साहित्य, दर्शन आदि सभी मानस-सृष्टियाँ मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बद्ध हैं।'[1] सामाजिक जीवन की चेतना के अनुसार साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं।

---

१. पृष्ठ १, अवतरणिका, नरेन्द्रचन्द्र राय—मार्क्सवाद और साहित्य।

सामाजिक जीवन से हटकर साहित्य के अस्तित्व की कल्पना मार्क्सवादी विचारकों को मान्य नही है। इसी आधार पर सुप्रसिद्ध विचारक काडवेल ने कला को उस मोती की सज्ञा दी थी जो समाजरूपी सीपी से उत्पन्न होता है।'[1] चूँकि साहित्यकार सामाजिक जीवन का ही एक अंग है अतः जिन परिस्थितियों के अन्तर्गत उसकी स्थिति है उनसे वह प्रभावित नही रह सकता। हिन्दी के प्रगतिवादी विचारको में अग्रगण्य डॉ० रामविलास शर्मा के मत से, 'साहित्य का पौधा चूँकि हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है अत साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका एक अ[ंग] होता है।'[2] साहित्य निर्माण के हेतु उन्होने जिन तीन तत्वो इन्द्रिय बो[ध] भाव तथा विचार की एकता आवश्यक मानी है वे भी समाज निरपेक्ष त[त्व] नही है। इस प्रकार अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों ने भी साहित्य की उद्भा[वना] सामाजिक जीवन से ही स्वीकार की है। श्री शिवदानसिंह चौहान ने [...] प्रायोगिक विवेचन मे 'अज्ञेय' की 'शेखर. एक जीवनी' की घोर असामाजि[क...] का खण्डन किया है।

वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक परिवेश से साहित्यकार त[...] का दावा कर भी नही सकता। समाज का सर्वाधिक सवेदनशील [...] समाजिक चित्तवृत्तियो के परिवर्तन के प्रति निरपेक्ष नही रह सकता।[...] को अपने चतुर्दिक हिलोरें मारते देखता है, उसी से वह प्रेरणा प[...] उसका ससार इससे विलग कोई बन्द मुक्ता मजूषा नही। अपनी स्व[...] रखते हुये भी उसकी भावनाओ का ससार निरन्तर बाह्यजगत की [...] से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है।'[3] श्री अमृतराय के अनुसार, 'स[...] चाहे या न चाहे, परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेंगी ही, साम[...] रचना की छाप उस पर पड़ेगी ही।'[4] साहित्य का अभिव्यंजना पक्ष भी सामाजिक जीवन से तटस्थ अथवा पृथक नही होता। प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक एडवर्ड अपवर्ड का कहना है, "कवि की उपमा उत्प्रेक्षाओं और औपन्यासिक पात्र, उसके निरे दिमाग की उपज नहीं होते बल्कि उसके चारों ओर के संसार मे निर्दिष्ट होते हैं उसके लिए शब्द तक बिल्कुल वैसे ही होते

१. पृष्ठ ९, काडवेल।
२. " ६, प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।
३. " २९, प्रकाशचन्द्र गुप्त आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि।
४. " २, नयी समीक्षा।

है जो उसके चारों ओर के संसार में बोरे और मिले जाते हैं। कल्पना की उच्चतम उड़ान भी भौतिक यथार्थ का चित्र होती है।'[१]

प्रगतिवादी समीक्षकों के अनुसार साहित्यकार वर्गीय समाज का एक अविभाज्य अंग है अतः अपनी वर्गगत प्रवृत्ति को भूलकर वर्ग-निरपेक्ष साहित्य का सृजन उसके द्वारा सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में कलाकार के लिये आवश्यक है कि वह ऐसी मृत प्राय सामाजिक व्यवस्था का पक्ष धर न हो जो ढल रही है, पतनोन्मुख है और जीवन के लिये चाहे जितना उग्र संघर्ष करे उसका विनाश अवश्यम्भावी है। 'अगर वह सत्य कहने का जरा भी इच्छुक है ·· तो उसे अपना व्यावहारिक जीवन बदलना होगा, संघर्ष में प्रगतिशील पक्ष के साथ रहना होगा जिसकी विजय ध्रुव सत्य है।'[२] मार्क्सवादी विचारकों की धारणा है कि समाज के अन्तर्गत एक साथ ही प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों की स्थिति होती है और उन्हीं के संघर्ष से सामाजिक जीवन का विकास होता है। श्री चौहान की इस स्थापना का कि 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है,' खण्डन करते हुये डॉ० शर्मा ने कहा है—'अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है।'[४] उनकी दृष्टि में, 'साहित्यकार की प्रगतिशीलता का एक मात्र निकष यह है कि वह अपने सामाजिक जीवन में उस समय की प्रगतिशील शक्ति का साथ देता है या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का।'[५] डॉ० नामवरसिंह ने भी 'अनजानी प्रगतिशीलता' को भ्रान्तिमूलक माना है। उनके मत से, 'नित्य तीखे होते हुये सामाजिक संघर्ष में जिस तरह हवाई मानवतावाद का नारा नहीं चल सकता उसी तरह से अनजानी प्रगतिशीलता भी धोखा है।'[६]

प्रत्येक लेखक का दायित्व है कि वह अपनी लेखनी के माध्यम से सामाजिक जीवन की यथार्थता को वाणी दे—वह ऐसा साहित्य लिखे जो उसके सासारिक अनुभव से सबलित हो। इसी आधार पर श्री एडवर्ड अपवर्ड ने आधुनिक साहित्य के लिये यथार्थवादी दृष्टि का होना अनिवार्य मानते हुये कहा, 'अगर उसे जीवन के प्रति सच होना है, और अगर जीवन के विषय मे उसके भावात्मक निष्कर्ष होने हैं जो सहायक हों तो उसे यथार्थवादी दृष्टि से देखना ही होगा। और सिर्फ जीवन की सतह नही, जीवन के मात्र छिटपुट पहलू नही, बल्कि सतह के नीचे काम करने वाली बुनियादी शक्तियां देखनी होगी।'[1] हिन्दी के प्राय: समस्त प्रगतिवादी समीक्षकों ने प्रेमचन्द की कला को एक स्वर से जनवादी कला घोषित किया है क्योंकि उनके अनुसार, उन्होने अपने युग जीवन का इतिहास लिखा है। 'प्रेमचन्द का साहित्य अपने युग का इतिहास है—वैसा इतिहास जो घटनाओ एव व्यक्तियो पर आश्रित न रहकर उन अन्तर्धारा का सजीव चित्रण करता है जो समाज की रीढ है। प्रगतिवादी विचारकों के मत से, साहित्यकार जीवन सग्राम का योद्धा होता है तटस्थ दर्शक नही।' सामाजिक जीवन से तटस्थ होकर साहित्यकार श्रेष्ठ साहित्य की रचना नहीं कर सकता। श्री हीरेन मुखर्जी के शब्दो मे, 'उस कलाकार मे निश्चय ही कोई गडबडी होगी जो अपने एकाकीपन, अपने हवा महल मे रस पाता है। . ... 'जीवन को सकारना लेखक का सबसे बड़ा कीमती स्वत्व है—अपने उद्दामवेग, अपनी जीवन्त स्पन्दनशील अभिव्यक्ति के साथ जीवन।'[2] सामाजिक यथार्थ अथवा परिवेशन का अस्वीकार कर मात्र कल्पना अथवा स्वप्न के सहारे साहित्य-निर्माण की मार्क्सवादी विचारकों ने कटु आलोचना की है। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुसार, 'जब देश धू धू करके जल रहा हो, तब यह कल्पना असभव हो जाती है कि स्निग्ध चांदनी मे कुमुदिनी खिल रही है अथवा ज्योत्स्ना मकरंद बिखरा रही है।'[3] डॉ० नामवरसिंह ने भी इसी प्रकार जैनेन्द्र की तटस्थता एव अभिव्यक्ति कौशल के निखार का खण्डन करते हुये उन्हे समाज के उस धरातल से विच्छिन्न माना है जहाँ से श्रेष्ठ प्रतिभा का स्रोत फूटता है। महादेवी की व्यक्तिवादिता अथवा सामाजिक यथार्थ को उनके पलायन की ओर लक्ष्य करते हुये श्री अमृतराय ने भी कहा है—वहाँ सब कुछ अतीन्द्रिय है, वहाँ भौतिक

---

१. साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या—एडवर्ड अपवर्ड, हंस, १९४२ (प्रगति अंक)

२. प्रगतिशील आलोचना, हीरेन मुखर्जी हंस अप्रेल—मई, १९४२

३. पृष्ठ २०५—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।

वस्तुओं की गुंजायश नहीं, वहाँ का जीवन व्यवहार दूसरे ही सिक्कों पर चलता है, वहाँ के मानदण्ड उस जगह के अपने हैं, जीवन के सारे सामाजिक यथार्थ वहीं से निर्धारित हैं।'[1]

इस मान्यता के पश्चात् कि साहित्यकार सामाजिक जीवन से तटस्थ नहीं रह सकता और सामाजिक जीवन की वास्तविकता का चित्रण उसके लिये आवश्यक है, प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्यकार सामाजिक जीवन की वास्तविकता को किस प्रकार ग्रहण करता है। मार्क्स के अनुसार समाज का भौतिक धरातल आर्थिक धरातल का ही पर्याय है और विचार-धारा के विभिन्न रूप उसके अनुसार, आर्थिक धरातल से ही प्रभावित होते हैं। किन्तु जैसा कि यूडिन ने कहा है—"जो लोग यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं कि नाना प्रकार की विचार धारायें बिल्कुल सीधे रूप में आर्थिक सम्बन्धों पर आश्रित होती हैं, वे मार्क्सवादी आलोचना के मानदण्ड को अत्यधिक सरल बनाने के प्रयत्न में उसकी आत्मा का ही हनन कर बैठते हैं।"[2] डॉ० शर्मा ने भी कला तथा साहित्य पर समाज के भौतिक धरातल के यान्त्रिक प्रभाव को स्वीकार न करके उसके परस्पर सापेक्ष प्रभाव को ही स्वीकृति दी है। उसके अनुसार समाज स्वयं में एक सीधी इकाई न होकर अनेक तत्वों से युक्त एक संश्लिष्ट वस्तु है। इसलिये साहित्य में उसके प्रभाव की व्यंजना सीधी न होकर संश्लिष्ट होती है।

अब प्रश्न यह है कि साहित्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है। सामान्यतः इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है अर्थात् वह सामाजिक जीवन को यथातथ्य चित्रित कर देता है। किन्तु मार्क्सवादी आलोचकों को यह स्थिति स्वीकार नहीं है। "यदि साहित्य समाज का दर्पण होता है तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिबिम्बित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता।"[3] ऐंजेल्स ने स्पष्ट कहा था 'सामाजिक जीवन का प्रभाव विचार जगत् के अपने नियमों और उसकी अपनी मर्यादाओं के अनुसार ही पड़ता है।' जैसा कि नामवर जी ने स्वीकार किया है मार्क्सवादी समीक्षा के अनुसार समाज और साहित्य के बीच लेखक के व्यक्तित्व की स्थिति है अतः साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है वह

---

१. पृष्ठ १०५—नयी समीक्षा।

२. „ ११—वही।

३ „ ७८—डॉ० रामविलास शर्मा, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय साहित्य।

लेखक के व्यक्तित्व के माध्यम से ही निष्पन्न होती है। साहित्यकार की कृति सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब न होकर सामाजिक जीवन पर आधारित एक स्वतन्त्र सौन्दर्यमयी कृति बनकर प्रस्तुत होती है।

काव्य संवेदना को उद्बुद्ध करने में कलाकार कितनी सफलता पा सका है, अनुभूति की मार्मिक एवं प्रभावशाली अभिव्यंजना उसकी कृति में किस अनुपात में समाहित है, उसकी भाषा-शैली, उसके अलंकारों की नियोजना मन के भावों को उत्प्रेरित करने में किस सीमा तक समर्थ है, आदि प्रश्न भी प्रगतिवादी समीक्षकों द्वारा विचारित हैं। श्री चौहान के अनुसार, प्रगतिवादी समीक्षा के सामने केवल यही प्रश्न नहीं रहता कि अमुक रचना किस युग की उपज है बल्कि उसके सम्मुख यह प्रश्न भी रहता है कि अमुक रचना की सौन्दर्य शक्ति का क्या कारण है, अर्थात् वह रचना आज भी क्यों सौन्दर्य बोध कराने में सफल है, आज भी वह हमारे रागों को जगाने में, अपने संवेदनों को झंकृत करने में क्यों इतनी सशक्त है जितनी शताब्दियों पूर्व थी।"[1] यदि साहित्यकार सामाजिक चेतना को स्वीकार करते हुए कला निर्माण में प्रवृत्त होगा तभी उसकी कृति में सौन्दर्यमूलक तत्वों की सच्ची अभिव्यंजना होगी। किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये, जैसा कि प्रकाशचन्द्र गुप्त ने कहा है—"यह आवश्यक है कि कला के रूप प्रकार सामाजिक हों, भाषा, ताल, लय, संगीत, उपमायें और शब्द—चित्र तीर की तरह लक्ष्य तक पहुँचे और पाठक या दर्शक का मर्म बेध सकें।"[2] सामाजिक जीवन के शोक अथवा सुख के मोती को जन-साधारण की भाषा में पिरोना होगा तभी साहित्यकार मर्म-बेधिनी कला की सृष्टि कर सकेगा।

प्रगतिवादी साहित्यकार वर्तमान युग-सत्य के संघर्ष को ग्रहण करते हुए भविष्य के संबंध में एक आस्थामूलक दृष्टि की नियोजना करता है—उसकी दृष्टि भविष्य के उस स्वर्णिम विहान पर केन्द्रित होती है जो आज की कटुता एवं जड़ता का निषेध करके अपने आगमन की सूचना देगा। इस दृष्टि से उसकी कल्पना में अनागत यथार्थ की ध्वनि होती है जो युगीन सामाजिक संघर्षों के आधार पर विकसित होकर भविष्य में अपनी प्रतिष्ठा का प्रयत्न करता है। डॉ० शर्मा के अनुसार, 'ऐसा नहीं होता कि समाज के रथ में लेखक पीछे बँधा हुआ हो और उसके पीछे-पीछे लीक पर घिसटता हुआ चलता हो लेखक सारथी होता है जो लीक देता हुआ साहित्य की बागडोर संभाले है

१ पृष्ठ ५—प्रगतिवाद।
२. " २७—साहित्य-धारा।

इसे उचित मार्ग पर ले चलता है। 'वह सामाजिक जीवन में आने वाले परिवर्तन के प्रति आग्रह और आस्थावान होना है—और यही आस्थामूलक दृष्टि उसकी प्रगतिशीलता का एक सबल पक्ष होती है। श्री एडवर्ड अपवर्ड के अनुसार, मार्क्सवादी आलोचक के लिये अच्छी पुस्तक वह है जो न सिर्फ किसी सामयिक स्थिति के प्रति बल्कि उन भविष्य की सम्भावनाओं के प्रति भी सच है जो उस स्थिति के अन्दर ही विकसित हो रही हैं। महानतम पुस्तक वे हैं जो भूत या वर्तमान यथार्थ की सतह के नीचे भविष्य की नियामक शक्तियों को पहचान लेने के कारण अधिक से अधिक दीर्घ काल तक यथार्थ के प्रति सच रहती हैं और कभी पुरानी नहीं होती।'[1]

प्रगतिवादी समीक्षकों ने साहित्य के अन्तर्गत के विषय वस्तु की ही प्रधानता स्वीकार की है। उनकी दृष्टि में, साहित्य के अन्तर्गत कलात्मक-नियोजन के लिये उसके रूप पक्ष पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है किन्तु 'उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसी की कारीगरी में सिमट जाना, कोरा रीतिवाद अथवा रूपवाद है।'[2] लुई अरागँ की राय में कला तत्व के क्षेत्र में विषय सबंधी निरपेक्षता का अर्थ इस सत्य की उपेक्षा करना है कि श्रेणी सग्राम में कला की एक गुरुत्वपूर्ण भूमिका है——कला की वास्तविकता का निर्भर रूप के ऊपर नहीं है उसका निर्भर कलाकार के उद्देश्य (Intention) के ऊपर है।' विचार शून्य रूप-योजना साहित्य को शिल्पगत सौन्दर्य की सञ्ज्ञा भले ही दे दे, उसके विचार या भाव की आन्तरिक समृद्धि के कारण नहीं बन सकती। डॉ० शर्मा ने भी साहित्य के अन्तर्गत विषय वस्तु को ही प्रधानता देते हुये कहा है—'जिसके पास उच्च कोटि के विचार नहीं है, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं कर सकता।'[3] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रगतिवादी विचारक साहित्य के रूप पक्ष की ओर से सर्वथा उदासीन हैं बल्कि ध्यानपूर्वक देखें तो वस्तु और रूप की समन्वित स्थिति को ही वे कलाकृति की श्रेष्ठता का मानदण्ड स्वीकार करते हैं। डॉ० रांगेय राघव के अनुसार, 'कला और वस्तु के बीच का भेद शब्द और अर्थ के बीच दीवार खीच देने के समान है जो कि वस्तुत. नहीं होना चाहिये।' इसी प्रकार डॉ०

---

१. पृष्ठ २३, इतिहास और आलोचना।

२. ,, २३३-३४, मार्क्सवाद और साहित्य।

३. पृष्ठ ८—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।

शर्मा का भी मत है' कला क्षेत्र में 'गिराअरथ जल बीचिसम' की तरह रूप और वस्तु 'कहियत भिन्न न भिन्न हैं।'[1] प्रगतिशील साहित्य रूप सौष्ठव का तिरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता। यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में बहुत बड़ा कारण है। हिन्दी के अन्य प्रगतिवादी समीक्षकों में श्री चौहान की समीक्षा दृष्टि सामाजिक वास्तविकता के साथ सौन्दर्यमूलक प्रतिमानों पर भी विशेष बल देती है बल्कि कहा जा सकता है कि उनके परवर्ती कृतित्व में शिल्प पक्ष की ओर उनका अधिक आग्रह परिलक्षित हो रहा है। इसी प्रकार अपने सैद्धान्तिक विवेचन में नामवर जी रूप-विधान की अपेक्षा विषय वस्तु को अधिक महत्व अवश्य देते रहे हैं किन्तु अत्याधुनिक कथा-साहित्य की रूपवादी मनोवृत्ति का समर्थन करके उन्होंने अपनी मान्यताओं के अन्तर्गत एक प्रकार की असंगति का आभास दिया है।

अब प्रश्न यह है कि साहित्य के अन्तर्गत विषय वस्तु का नियोजन किस प्रकार हो ? कुछ लोग दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुकथन को ही उच्च साहित्य का एक अनिवार्य आधार मानते हैं किन्तु जैसा कि मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, एँजेल्स ने कृति की श्रेष्ठता के लिये रचनाकार ■ दृष्टिकोण को व्यंग्य रहना आवश्यक माना है। जो कृतियाँ यथार्थ प्राणपूर्ण वास्तविकता को प्राप्त न होने से पाठक के हृदय को द्रवित और रसमय कर उनके अन्दर प्रदर्शित जीवनादर्श की ओर यात्रा करने की प्रेरणा को जागृत नहीं कर सकतीं वे प्रशंसनीय उद्देश्य के बावजूद प्रचार मात्र हैं, साहित्य नहीं। इस मन्तव्य को प्रकट करते हुये डॉ० नामवरसिंह ने कहा है—'कहानियों और उपन्यासों में अभिप्रेत विचार को पात्रों के जीवन और उनके पारस्परिक संबंधों के सजीव रूपों से सहज उद्भूत और ध्वनित होना चाहिये—ऊपर आरोपित नहीं। कविता में इन विचारों को सजीव चित्रों और प्रतिमाओं के रूप में व्यक्त होना चाहिये।'[2] किन्तु मूर्त रूप-योजना तभी संभव है जब कलाकार को जीवन-वास्तव का अधिक निकट से ज्ञान हो। 'इसी ज्ञान से जीवन के प्रति वह अडिग आस्था आती है जो सम्पूर्ण साहित्य को अदम्य दीप्ति देती है। यह आस्था समाज के व्यापकतम संबंधों और उन संबंधों का वैज्ञानिक ढंग से समझने के प्रयत्न से ही संभव है।' इस प्रकार रचना के रूपात्मक सौन्दर्य का सबसे बड़ा आधार वस्तुजगत की यथार्थता ही होती है। इस संबंध ■ डॉ० शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है—'कला का रूप हवा में नहीं निखरता।

१. पृष्ठ ५२—आस्था और सौन्दर्य।
२. ,, २७—इतिहास और आलोचना।

पूल के रूप रंग के लिए जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौन्दर्य का निखार उसकी विषय-वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है।[१]

'समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर—यही मार्क्सवादी आलोचना का बीज है।' प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने भी साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता पर अनिवार्य आग्रह प्रकट किया है। पाश्चात्य विचारक काडवेल के मत से, 'साहित्य क्यों मोती सौन्दर्य प्रसाधन एवं हास विलास मात्र के लिये उत्पन्न नही होता वह एक सामाजिक कार्य है।' इसी आधार पर प्रगतिवादी समीक्षक किसी कृति का मूल्यांकन समाज पर पड़े उन प्रभावों के सन्दर्भ में करता है जो सदैव समाज को विकासोन्मुख वृत्ति की ओर प्रेरित करते हैं। प्रगतिवादी समीक्षकों के इस निष्कर्ष में मूलतः मार्क्स की 'क्रिटीक ऑव पोलिटिकल इकॉनोमी, की भूमिका की स्थिति है जहाँ उन्होंने विचार-धारा के विभिन्न रूपों का सामाजिक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण योग स्वीकार किया है। मार्क्सवादी विचारकों के मत से कलाकार अपने युग की परिस्थितियों से सचालित होते हुये भी उनका दास नहीं होता, उन परिस्थितियों मे परिवर्तन लाने की क्षमता भी उसमे निहित होती है। 'हर महान कलाकार इसी अर्थ में महान होता है कि उसने अपने युग को प्रभावित किया है, उसकी परिस्थितियों को बदला है, समाज को बदला है।[२] श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के अनुससार—'कला जीवन के साथ संघर्ष मे मनुष्य का सामाजिक हथियार बनती है।—इसके माध्यम द्वारा मनुष्य समाज की नृशसता से छुटकारा पाता है।[३]' साहित्य केवल जीवन की अभिव्यक्ति का साधन नही है, उसमे परिवर्तन लाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है।

साहित्य की सामाजिक उपयोगिता के सन्दर्भ में साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न उपस्थित होता है। रेलफाक्स के मत से, 'लेखक अपनी आन्तरिक चेतना की सतह पर वास्तविकता के गर्म लोहे को रखकर उस पर हथौड़े चलता है, विचार की चोटों से उसे पीटता है और अपने उद्देश्य के अनुकूल उसे रूपान्तरित कर लेता है।[४]' यह साहित्यकार का दायित्व है कि अपनी कृति मे वह जिस समाज का उद्घाटन करने जा रहा है, उसका उसे अन्यतम परिचय हो क्योंकि मानसिक जगत मे रहकर कलाकार यथार्थ जीवन को नहीं

१. पृष्ठ —प्रगति और परम्परा।
२ ,, १५—नयी समीक्षा।
३. ,, १३—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
४. ,, २१—रैलफाक्स, उपन्यास और लोक जीवन।

देख सकता। श्री अमृतराय के शब्दों मे, 'यदि कोई साहित्यकार जनता के जीवन का चित्रण करना चाहता है तो उसे सम्पूर्ण रूप से जनता के जीवन के साथ अपने को एकाकार कर देना चाहिये, उसी दशा मे साहित्यकार जनता के सामूहिक भावों का यथोचित परिपाक अपने मे कर सकेगा।'[1] काडवेल ने इसी आधार पर प्रगति शील साहित्यकारो को कला के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग के नेता होने की सलाह दी है। वास्तविक जीवन के क्षेत्र मे सर्वहारा वर्ग के साथ तादात्म्य ही उसमे उस वर्ग के जीवन की यथार्थता के अंकन की सामर्थ्य देगा। डॉ० शर्मा के अनुसार, 'लेखक और कलाकार का कर्तव्य होता है कि वह उत्पादन सबधो और उत्पादन शक्तियो के सघर्ष को समझे और अपनी कला द्वारा विकासमान शक्तियो को सहारा देकर और उनसे स्वयं जीवन प्राप्त करके मनुष्य और समाज की मुक्ति की ओर अग्रसर हो।

साहित्य के मार्क्सवादी चिन्तको ने सामाजिक जीवन के प्रवाह मे साहित्य की सक्रिय भूमिका स्वीकार की है। कुछ विचारको ने कलात्मक कार्यवाही को समाजवादी निर्माण का अभिन्न अंग माना है। यद्यपि इस संदर्भ में प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत कुछ अतिवादिता भी विकसित हुई है फिर भी कला अथवा साहित्य को निरुद्देश्य पथ से हटाकर एक स्वस्थ तथा सोद्देश्य भूमिका प्रदान करने का श्रेय मार्क्सवादी विचारको को ही है। लेनिन के मत से, 'कला जनता की वस्तु है। इसकी जड़ें दूर तक जनता को सघर्ष करने की प्रेरणा देता है। उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के सस्कारो मे भी परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है। इसी आधार पर मार्क्सवादी आलोचक कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाले साहित्य को ही श्रेष्ठ मानते है। उनकी दृष्टि मे, जो कलाकृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियो को थपकिया देकर सुलाती है और उसे अफीम का नशा-सा पिलाकर जीवन के सघर्ष से विरत करती है, वह निश्चय हीन को[illegible] की है।'[2] शोषक वर्ग अत्याचारो से पिसती हुई साधारण जनता की उदा[illegible] तथा निष्क्रियता को हटाकर साहित्य सामाजिक जीवन मे स्फूर्ति और प्रेर[illegible] का सचार करता है। डॉ० शर्मा के शब्दो मे, 'साहित्य का पाचजन्य समर भूमि मे उदासीनता का राग नही सुनाता। वह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिजडे मे पख फटफटाने की प्रेरणा नही देता। इस तरह की प्रेरणा देने वालों की वह पख कतर देता है।'[3]

पृष्ठ १७—नयी समीक्षा।
नयी समीक्षा।
और राष्ट्रीय साहित्य।

अध्याय ५

हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षक

डॉ० रामविलास शर्मा

डॉ० रामविलास शर्मा हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा मे एक प्रधान व्यक्तित्व हैं। एक रचनाकार के रूप में हिन्दी संसार से उनका सम्बन्ध प्रथमत एक कवि के रूप मे स्थापित हुआ था। १९३४ में उन्होने एक उपन्यास भी लिखा था—'चार दिन।'[1] उपन्यासकार के रूप में तो वे ख्यात न हुए, लेकिन उनके कवि-व्यक्तित्व ने हिन्दी जगत मे यथेष्ट सम्मान प्राप्त किया। १९४३ में अज्ञेय जी द्वारा सम्पादित 'तार-सप्तक' नामक काव्य संकलन के एक कवि के रूप मे भी उन्हे ख्याति मिली और 'रूप-तरंग' के नाम से अपनी कविताओ का एक संकलन भी उन्होने हिन्दी-संसार को भेंट किया। लेकिन प्रगतिशील आन्दोलन के विकास तथा उसमे उनके सक्रिय सहयोग के साथ साथ उनका कवि व्यक्तित्व पीछे पड़ता गया और अन्तत एक समीक्षक के रूप मे ही वे विशेष समादृत हुए। अपने व्यक्तित्व के इस उभय पक्षी स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उन्होने कहा है।—'मैंने अपना साहित्यिक जीवन कविता लिखने से आरंभ किया था। कहा जाता है कि असफल कवि सफल समालोचक बन जाता है। यह संशयात्मक है कि कवि रूप मे बिल्कुल असफल रहा हूँ। इसलिए आलोचना की सफलता भी मेरे निकट संशयात्मक ही है।'[1] लेकिन इस 'संशयात्मकता' का भी कोई आधार नही है। आज हिन्दी संसार उन्हें प्रगतिवादी समीक्षा-धारा के प्रतिनिधि समीक्षक के रूप मे स्वीकार कर चुका है, भले ही यह स्वीकृति एक वाद-विशेष की सीमा मे उन्हे आबद्ध करके ही क्यो न दी गई हो?

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे उनका प्रवेश, जैसा कि १९३६ के पूर्व लिखे गये उनके समीक्षात्मक निबन्धो से स्पष्ट है, स्वच्छन्दतावाद के समीक्षक के

---

१. पृष्ठ १, विराम चिन्ह।

रूप मे हुआ। १९३४-३५ के बीच 'शैली और रवीन्द्रनाथ'[1] तथा 'निराला की कविता'[2] शीर्षक निबंधो मे उनकी मार्क्सवादी तथा जनवादी दृष्टि कहीं भी स्पष्ट नही है —उनमें काव्य तथा कला के 'नवीन सौन्दर्य तथा 'नये स्वर-परिधान' का ही प्रमुख रूप मे विवेचन किया गया है। उस समय निराला के काव्य सौन्दर्य का विवेचन करते हुये उन्होंने यह भी कहा था—'कविता हृदय की भाषा है, उसको समझने के लिये अधिक आवश्यकता भावुकता की है, न कि फिलासफी की।[3] लेकिन १९३६ के बाद, प्रगतिशील आन्दोलन के विकास के साथ डॉ० शर्मा की समीक्षा नये आदर्शों से प्रभावित तथा विकसित हुई।[4] उस समय से लेकर अब तक समीक्षा-विषयक उनकी अनेक कृतियाँ प्रकाश मे आ चुकी हैं, जिनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(क) संस्कृति और साहित्य — १९४९ (१९३५ से १९४७ तक के निबन्धो का संग्रह)
(ख) प्रगति और परम्परा
(ग) प्रेमचन्द
(घ) प्रेमचन्द और उनका युग — १९५२
(ङ) भारतेन्दु-युग
(च) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र — १९५३
(छ) प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें — १९५४
(ज) निराला — १९५५
(झ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना — १९५५
(ञ) स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य — १९५६
(ट) लोक जीवन और साहित्य
(ठ) आस्था और सौन्दर्य — १९६२

---

१. पृष्ठ १३२, वही।
२. " ६८, विराम चिन्ह।
३. पृष्ठ ७७ — विराम चिह्न।
४. " १-२ — भूमिका, साहित्य और संस्कृति। इस परिवर्तन की ओर संकेत करते हुये यहाँ उन्होंने स्वयं कहा है — कुछ लोगों का आक्षेप है कि ——— जिस छायावादी काव्य सौन्दर्य का मैं [illegible] था उसे आगे चलकर मैंने तिलांजलि दे दी। छायावाद के मर्मी [illegible] शान्तिप्रिय द्विवेदी ने यह धारणा अपने कुछ निबन्धों में

इन सभी कृतियों में डॉ० शर्मा की मार्क्सवादी तथा जनवादी दृष्टि का ही प्राधान्य है, बल्कि यह कहते हैं कि वह इनमें उत्तरोत्तर विकसित हुई है। प्रारंभिक कृतियों में जहाँ हिन्दी साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों, कवियों, लेखकों तथा समीक्षकों की व्यावहारिक समीक्षा करने का उपक्रम किया गया है, वहीं अन्तिम कृतियों में, विशेषतया—'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' तथा 'आस्था और सौन्दर्य' में सैद्धान्तिक समीक्षा का पर्याप्त प्रौढ़ तथा विकसित रूप सामने आया है। प्रस्तुत अध्याय में उनकी समीक्षा के इन उभय पक्षों का उनके आदर्शों के आलोक में यथासंभव वस्तुगत विवेचन करना ही हमारा अभीष्ट है।

सैद्धान्तिक समीक्षा

वस्तु और रूप—किसी भी रचना के दो प्रमुख अंग होते हैं—(१) वस्तु पक्ष और (२) रूप पक्ष। काव्य कृति में वस्तु पक्ष के अन्तर्गत अनुभूति, भाव और विचार आदि की परिगणना होती है। वस्तु जगत की यथार्थता जो काव्य के रूप में परिणत होती है, इसी के अन्तर्गत समाहित है। इसे काव्य का अन्तरंग पक्ष भी कहा जाता है। रूप पक्ष जो काव्य का बहिरंग है, के अन्तर्गत भाषा और शिल्प आदि परिगणित हैं। काव्य की लय, छंद आदि उपकरण इसी से सम्बद्ध हैं। रूपवादी विचारक सामान्यतः रचना में इन्हीं तत्वों की प्रधानता स्वीकार करते हैं। ऐसे विचारकों को कलावादी अथवा सौन्दर्यवादी भी कहा गया है। वस्तुवादी विचारक इसके विपरीत वस्तु तत्व को ही प्रमुख मानते हैं। इनकी दृष्टि काव्य में नियोजित वस्तु जगत की यथार्थता पर प्रमुख रूप से केन्द्रित रहती है। ये दोनों दृष्टियाँ स्वयं में एकांगी हैं। ये वस्तु और रूप को संयुक्त रूप से आवश्यक न मानकर पृथक रूप में आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार के विवेचन से कृति का सम्यक् मूल्यांकन संभव नहीं।

डॉ० शर्मा का दृष्टिकोण वस्तुवादी होते हुये भी एकांगी नहीं है। यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि—"कला और विषय वस्तु दोनों ही समान रूप से साहित्य रचना के लिये निर्णायक महत्व की नहीं है। निर्णायक भूमिका हमेशा विषय वस्तु की होती है। जिसके पास उच्च कोटि के विचार नहीं है, भावावेश नहीं है, यथार्थ का गहरा ज्ञान नहीं है, वह सिर्फ कला को निखारने की कोशिश करके उत्कृष्ट साहित्य नहीं रच सकता।"[१] फिर भी वे

१. पृष्ठ ८, प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।

रूप पक्ष की ओर से सर्वथा उदासीन नहीं है बल्कि ध्यानपूर्वक देखें तो वस्तु और रूप की समन्वित स्थिति ही वे कला कृति की श्रेष्ठता का मानदण्ड स्वीकार करते हैं। उनके शब्दों में—"कला के क्षेत्र में 'गिरा अरथ जल बीचि सम' की तरह रूप और विषय वस्तु' कहियत भिन्न न भिन्न' है।"[1] ऐसी कृतियाँ जिनमें स्थूल रूप से वस्तुजगत की यथार्थता का ही नियोजन हो उनकी आलोचना की पात्र बनी है।[2] इस संबंध में उनका यह स्पष्ट मत है कि—"प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार करके दो कदम आगे नहीं चल सकता यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में बहुत बड़ा कारण है। वाक्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनावेगा।"[3] लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे रचना में इस पक्ष की ही विशिष्टता पर अधिक बल देते हैं। रूप पक्ष की स्थिति तथा उसकी विशिष्टता उन्हें तभी मान्य है जबकि वह वस्तु रूप से सम्बद्ध हो। रचना के रूपात्मक सौन्दर्य का सबसे बड़ा आधार वस्तु जगत की यथार्थता ही होती है। उनका इस संबंध में यह कथन उल्लेखनीय है—" कला का यह रूप हवा में नहीं निखरता। फूल के रूप रंग के लिये जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौन्दर्य का निखार उसकी विषय-वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। जब कोई रचनाकार इस विषय वस्तु के सामाजिक महत्व के प्रति उदासीन होकर कला के सौन्दर्य की ओर ही दौड़ता है, तो बहुधा उसे निराश होना पड़ता है।"[4]

रूप, भावना और विचार की एकता से कला-सृष्टि

डॉ० शर्मा के मत से, 'साहित्य में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियाँ, हृदय और मस्तिष्क—तीनों का सम्बन्ध होता है। रूप, भावना तथा विचार की एकता से कला सृष्टि संभव है।'[5] जहाँ तक उनके द्वारा प्रस्तुत इन्द्रिय बोध की प्राथमिकता का प्रश्न है। उनका यह दृष्टिकोण मार्क्स की उस प्रतिपत्ति का अनुसरण है जिसमें प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के लिए इन्द्रिय-बोध को प्रस्थान बिन्दु माना गया है।[6] कला-सृष्टि का आधार उनके मत से मनुष्य का इन्द्रिय-बोध

---

१. पृष्ठ ५२, आस्था और सौन्दर्य।
२. " वही।
३. " ५६, प्रगति और परम्परा।
४. " ५६, वही।
५. " ११, लोक जीवन और साहित्य
६. " १११.

है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि—'मनुष्य की चेतना में सबसे व्यापक स्तर इन्द्रिय बोध का है। उसके विचार बदल जाते हैं भाव बदल जाते हैं लेकिन उसका इन्द्रिय बोध अपेक्षाकृत स्थायी होता है।'[1] साहित्य का प्रभाव दर्शन और विज्ञान से अधिक व्यापक इसीलिए होता है कि उसका सम्बन्ध इन्द्रिय बोध से है। साहित्य का माध्यम ही रूपमय है। कल्पना के द्वारा साहित्य श्रोता या पाठक के मन में भिन्न-भिन्न रूपों की सृष्टि करता है। इन्द्रिय बोध के अभाव में शुद्ध कल्पना असंभव होती है। उनके मत से इन्द्रिय-बोध सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है। उनके शब्दों में—'मनुष्य की आत्मगत ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत सामाजिक जीवन में ही विकसित और समृद्ध होती है लेकिन यह ऐन्द्रियता उसके वस्तुगत जीवन का सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।[2]

इन्द्रिय-बोध के साथ ही मनुष्य की भाव-सत्ता का भी प्रस्फुटन होता है। बाह्य जगत का इन्द्रिय-बोध और मनुष्य के मन का भाव-जगत एक ही यथार्थ के दो पक्ष हैं—जो एक दूसरे से निरपेक्ष न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं।[3] डॉ० शर्मा के अनुसार, मनुष्य का भाव-जगत व्यापक और सार्वजनीन नहीं है जितना उसका इन्द्रिय बोध पर उसके विचार-जगत से ही वह अधिक व्यापक है।[4]' साहित्य का कार्य भावों की पुष्टि करना है। उन्होंने कला तथा साहित्य की सरसता का मूल आधार भाव को ही माना है। उनके शब्दों में—'कला और साहित्य की सरसता का सबसे बड़ा कारण उनका यह भावनामूलक स्वभाव है।'

काव्य तथा कला-सृष्टि का तीसरा उपादान विचार-जगत है। मनुष्य के भाव-जगत की अपेक्षा उसके धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों में अधिक परिवर्तन होता है। डॉ० शर्मा के शब्दों में—'साहित्य के सभी तत्व समान रूप से परिवर्तनशील नहीं हैं, इन्द्रिय-बोध की अपेक्षा भाव, और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्तन शील हैं।[5]' जो लोग साहित्य में विचारों के महत्व को परख नहीं कर पाते वे साहित्य का प्रभाव कम कर देते हैं।

---

१. पृष्ठ २५, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य।
२. „ २७, वही।
३. „ २६, आस्था और सौन्दर्य।
४. „ : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य।
५. पृष्ठ : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य :

तुलसीदास की तद्विषयक पंक्तियो को[1] उद्‌धृत करते हुये उन्होंने ठीक ही लिखा है कि—'श्रेष्ठ विचारों के न होने पर केवल हृदय सिन्धु से काव्य के मुक्तामणि निकालना असभव है।[2]'

काव्य का माध्यम

काव्य का माध्यम शब्द है। हेगेल के अनुसार, शब्द एक मानसिक सृष्टि
है और उसमे भौतिकता का पर्यवसान हो जाता है अत. वह अतीन्द्रिय होत
है। डॉ॰ शर्मा ने हेगेल के इस मत का खण्डन करते हुये यह स्थापना दी
कि समस्त कलाओ—यहाँ तक कि काव्य कला का माध्यम भी भौतिक व
से मुक्त नही रहता।[3] उनके शब्दो मे—'कला के माध्यम की ऐन्द्रियता
काल की सीमाओ से बधा हुआ वह आकाश है जिसमे मनुष्य के भाव वि
उडान भरते हैं। यह ऐन्द्रियता उस भौतिक जगत का प्रतीक है जिसके
विचार तत्व अथवा विचार धारा किसी का भी अस्तित्व नहीं है।[4]' ३
पुस्तक 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' मे उन्होंने पत तथा तुलसीदा
की कुछ पंक्तियाँ उद्‌धृत करते हुये यह सिद्ध करके का प्रयत्न किया ए
शब्दो की ध्वनि के द्वारा उतनी ही भाव व्यजना सभव है जितनी कि उनके
अर्थ से प्रकट होती है।[5] अपने विवेचन क्रम मे फ्रांसीसी कवि बोदलेयर को
उद्‌धृत करते हुये उन्होने स्पष्ट कहा है—'शब्दो का चयन कर भिन्न रगो
वाले चित्र खीचे जा सकते हैं, मूर्त अर्थ द्वारा कहकर नही वरन् ध्वनि से
इगित होकर।—शब्दो की ध्वनि मे रेखायें भी होती हैं।[6]'

सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता

आधुनिक काव्य-चिन्तन के अन्तर्गत सौन्दर्य को काव्य तथा कला का केन्द्रीय तत्व माना गया है। हिन्दी समीक्षा मे आचार्य शुक्ल के पूर्व रस, अलकार आदि की दृष्टि से ही काव्य की महत्ता का आकलन किया जाता था। सर्व प्रथम इस सबध मे हिन्दी समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कहा—'आलोचक का पहला और प्रमुख कार्य है कला का अध्ययन

---

१. पृष्ठ ११. उद्‌धृत—लोक जीवन और साहित्य।
  — वही —
२. " ५३, आस्था और सौन्दर्य।
३. " —वही—।
४. " ७२, स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य।
५. " ७३, वही।

और उसके सौन्दर्य का अनुसंधान।'[1] उन्होंने यह भी कहा—किसी भी सिद्धान्त के संबंध में कभी भी मतैक्य नहीं हो सकता किन्तु सौन्दर्य के संबंध में कभी दो मत नहीं हो सकते।'[2]

किन्तु प्रश्न यह है कि सौन्दर्य है क्या? भाववादियों के अनुसार सौन्दर्य की स्थिति रचयिता के मन में अथवा उसकी आत्मा में है। जबकि वस्तुवादी विचारक सौन्दर्य की स्थिति वस्तु जगत की यथार्थता में मानते हैं। उनके अनुसार रचयिता वस्तु जगत के सौन्दर्य को ही कलाकृति में नियोजित करता है।

डॉ० शर्मा ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुये कहा है—'प्रकृति, मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है। इस स्थापना पर यह आपत्ति की जा सकती है कि 'कला में कुरूप और असुन्दर को भी स्थान मिलता है—साहित्य में वीभत्स का भी चित्रण होता है और उसे सुन्दर कैसे कहा जा सकता है।'[3] इस आपत्ति का उत्तर देते हुये उन्होंने कहा है—'कला में कुरूप और असुन्दर विवादी स्वरों के समान हैं जो राग के रूप को निखार देते हैं। वीभत्स का चित्रण देख कर हम उससे प्रेम नहीं करने लगते, हम उस कला से प्रेम करते हैं जो हमें वीभत्स से घृणा करना सिखाती है। जिसे हम कुरूप, असुन्दर और वीभत्स कहते हैं, कला में उसकी परिणति सौन्दर्य में होती है।'[4]

सौन्दर्य क्या है, इस प्रश्न के पश्चात् हमारे समक्ष जो दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है वह सौन्दर्य की स्थिति से सम्बद्ध है। जैसा कि इसके पूर्व कहा जा चुका है कि भाववादी विचारकों के अनुसार सौन्दर्य आत्मगत है जबकि वस्तुवादी विचारकों ने उसे वस्तुगत यथार्थता से सम्बद्ध माना है। चूंकि इन्द्रियों के माध्यम से इस जगत की यथार्थता का बोध होता है अतः इन्द्रियों के माध्यम से जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है उसकी सत्ता वस्तुगत है। डॉ० शर्मा ने भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा है—'इन्द्रियों से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है, बाह्य जगत में उसकी वस्तुगत सत्ता है।'[5]

---

१ पृष्ठ ७९, हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी।
२. ,, ७९, वही।
३ पृष्ठ २०, आस्था और सौन्दर्य।
४ वही।
५. पृष्ठ २४, वही।

सौन्दर्य की आत्मगत सत्ता स्वीकार करने वाले प्रमुख रूप से यह तर्क उपस्थित करते हैं कि एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियो को सुन्दर और असुन्दर लगती है जिसका एक मात्र कारण सौन्दर्यानुभूति की वैयक्तिकता है। डॉ० शर्मा ने इस तर्क मे दो प्रकार के दोष दर्शाये हैं—इस प्रकार के तर्कों मे पहला दोष यह है कि उनमे इन्द्रियबोध और भावो को एक ही वस्तु मान लिया गया है। दूसरा दोष यह है कि भावो और इन्द्रिय बोध की व्यापकता को अस्वीकार किया गया है।[1]

अब प्रश्न यह है कि यदि सौन्दर्य वस्तुगत है तो उसकी अनुभूति मे भिन्नता क्यो पाई जाती है? इस भिन्नता का कारण वर्ग, देश, जाति तथा परिस्थितिगत भेद हैं जिनसे सौन्दर्यानुभूति मे भी कई स्तर हो जाते हैं। अतः डॉ० शर्मा के शब्दो मे 'मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति मे समानता के साथ भिन्नता भी होती है।'

सौन्दर्य और रस तथा रस की स्थिति

डॉ० शर्मा का रस-सवधी विवेचन भी सौन्दर्य-सापेक्ष है। सौन्दर्य-दर्शन की परिणति उनके अनुसार रसानुभूति मे होती है। इसका विवेचन करते हुये उन्होने कहा—'सौन्दर्य-यानी सुन्दर वस्तु—से हुई प्रेरणा (स्टिमुलस)। नारी नामक प्रेरणाकेन्द्र पुरुष को चिरकाल से बाधित करता रहा है। नारी हुई 'कडीशन्ड स्टीमुलस', पुरुष की रसानुभूति हुई 'कडीशड रिफ्लेक्स'। रस और सौन्दर्य का यही मौलिक सबध है।'[2] उनके मत से सौन्दर्य वस्तुतः कलाकृति का उत्कर्ष है और रस उस उत्कर्ष की सहृदयजन्य प्रतीति। भारतीय काव्य शास्त्र मे रस-प्रतीति के सबध मे जो विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं उन्हे वे एक दूसरे का विरोधी न मानकर पूरक के रूप मे स्वीकार करते हैं। डॉ० शर्मा का यह मत मूलतः आचार्य वाजपेयी की तद्विषयक स्थापना का अनुवर्तन है। रस-निष्पत्ति की नयी व्याख्या करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कहा है—'...... ये चारो मत क्रमशः काव्य की प्रेषणीयता और काव्य रस के आस्वादन की समस्या को समझाने का प्रयत्न करते हैं और इनमे से प्रत्येक मत समस्या के एक-एक पहलू को लेकर आगे बढ़ता है। कवि-कल्पित नायक से लेकर अभिनेता के नाट्य प्रदर्शन, सहृदय के भावन और काव्य की ध्वन्यात्मकता के पक्षो की व्याख्या करने वाले ये मत, हमारी दृष्टि मे, काव्य की एक अत्यन्त आवश्यक

---

१. „ २३, आस्था और सौन्दर्य।
पृष्ठ —जन भारती (रस-विशेषांक)

समस्या के उद्घाटन की एक क्रमबद्ध योजना के रूप में उपस्थित किये गये हैं। यह बात दूसरी है कि खण्डन मण्डन के वाग्जाल में पड़ जाने से उनका मूलवर्ती आशय या प्रयोजन भुला दिया गया हो। परम्परा सुरक्षित है, किन्तु उसका स्वरूप विकृत हो गया है।'[१] डॉ० शर्मा ने भी इस संबंध में कहा—'रस निष्पत्ति के सिलसिले में उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, मुक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद नाम से जो चार मत प्रचलित हैं, वे एक दूसरे के विरोधी न होकर पूरक साबित हो सकते हैं।'[२]

भारतीय काव्य शास्त्रियों ने आनंदानुभूति को काव्य अथवा कला का साध्य माना है। इसके विपरीत डॉ० शर्मा आनंदानुभूति को काव्य तथा कला का परम साध्य न मानकर साहित्य शास्त्र का प्रस्थान बिन्दु स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि—'साहित्य में आनन्द मिलता है, यह अनुभव सिद्ध बात है, लेकिन साहित्य शास्त्र यहीं समाप्त नहीं होता बल्कि यहीं से उसका श्रीगणेश होता है।'[३] साहित्य में जिस आनंद की उपलब्धि होती है उसकी सत्ता मानव कर्म में है और उसको प्रभावित करने में ही उसकी उपयोगिता सिद्ध होती है। सौन्दर्य और उपयोगिता थोड़ी देर के लिये परस्पर विरोधी भले ही प्रतीत होते हों परन्तु उनकी द्वन्द्वात्मक एकता के अभाव में साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। अतः 'साहित्य शास्त्र की उपयोगिता यह होगी कि वह साहित्य और जीवन के संबंध की वास्तविकता प्रकट कर दे, जनता के लिये अहित कर साहित्य और अहितकर साहित्य शास्त्र से भ्रम का पर्दा उठा दे', क्योंकि 'साहित्य जनता के लिये—यह हमारा आलोच्य सिद्धान्त बन चुका है।'[४]

साहित्य और समाज

साहित्य और समाज के परस्पर-संबंध की व्याख्या मार्क्सवादी चिन्तन की सर्वप्रमुख विशेषता है। मार्क्सवादी विचारकों में प्राय सभी ने कला तथा साहित्य को सामाजिक जीवन से आविर्भूत माना है। सुप्रसिद्ध विचारक काडवेल ने कलाकृति को सामाजिक जीवन से उसी प्रकार उत्पन्न माना है जिस प्रकार मोती सीप से उत्पन्न होता है (Art is the product of society, as the pearl is the product of the oister)[५]

---

१. पृष्ठ १२३—नया साहित्य नये प्रश्न।
२. पृष्ठ १४. लोक जीवन और साहित्य।
३. " ७, वही।
४. " ८ वही।
५ " ९ Caudwell—Illusion and Reality

मार्क्सवादी विचारक होने के नाते डॉ० शर्मा ने भी साहित्य को एक सामाजिक क्रिया के रूप मे मान्यता दी है। उनके अनुसार, 'साहित्य का पौधा चूँकि हमारे सामाजिक जीवन की धरती पर ही उगता है,[१] अतः साहित्य का इतिहास सामाजिक इतिहास से अलग न होकर उसका एक अंग होता है।[२]

साहित्य-सृजन के हेतु के रूप मे जिन तत्वो—इन्द्रिय-बोध, भाव तथा विचार के समन्वय पर उन्होने बल दिया है, वे भी उनके अनुसार समाज-सापेक्ष हैं। इन्द्रियो द्वारा जिस आनन्द का बोध होता है, उसकी वस्तुगत सत्ता बाह्य जगत मे ही निहित रहती है। भाव-जगत का आधार भी इसी प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की वे अनुभूतियाँ ही हैं जिनका विकास सामाजिक जीवन के धरातल पर ही सभव है। सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य के विचार जगत मे परिवर्तन ला देती हैं। अतः रूप, भावना और विचार की अन्विति जिस कला को जन्म देती है उसका समाज निरपेक्ष होना किसी प्रकार सभव नही है। इस सबध मे अपना मत स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—'कलाकार जिस सौन्दर्य की सृष्टि करता है वह समाज निरपेक्ष किसी व्यक्ति की कल्पना की उपज नहीं है, वरन् सामाजिक जीवन और सामाजिक विकास से उसका घनिष्ट सबध होता है।[३]

काव्य और कला का सौन्दर्य-स्रोत इस प्रकार, सामाजिक जीवन ही है। 'समाज के भीतर जो जीर्ण और मरणशील तत्व हैं, जो जीवन और उदीयमान तत्व हैं, इनसे बाहर सौन्दर्य की सत्ता नहीं। जो जीर्ण और मरणशील है उनके लिये सुन्दरता मृत्यु मे है, अन्याय और अत्याचार के फरेब को ढकने मे है, भविष्य से त्रस्त होने और क्षणमे ही जीवन की साधें पूरी करने की है। जो जीवित और उदीयमान हैं, उनके लिये सुन्दरता सत्य मे है, मृत्यु को जीतने मे है, अज्ञान, अत्याचार और अन्याय की दुनिया को दफनाने मे है, सुख और शान्ति के उज्ज्वल भविष्य की ओर बढने मे है। साहित्य उस मंजिल तक पहुँचने का शक्तिशाली साधन है।[४]

प्रश्न यह है कि साहित्य मे सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है? सामान्यत इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण है अर्थात् वह सामाजिक जीवन की यथार्थता को यथावत्

१. पृष्ठ ६६, विराम चिह्न।
२. „ ६, प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।
३. भूमिका आस्था और सौन्दर्य।
४. पृष्ठ १२, लोक जीवन और साहित्य।

प्रस्तुत करता है। डॉ० शर्मा को यह आदर्श स्वीकार नहीं है। उनके अनुसार–'यदि साहित्य समाज का दर्पण होता तो संसार को बदलने की बात न उठती। कवि का काम यथार्थ जीवन को प्रतिबिम्बित करना ही होता तो वह प्रजापति का दर्जा न पाता। वास्तव में प्रजापति ने जो समाज बनाया है, उससे असन्तुष्ट होकर नया समाज बनाना कवि का जन्मसिद्ध अधिकार है।'[1] प्रजापति के धरातल पर कवि की यह प्रतिष्ठा ही उसे अनुकर्ता मात्र नहीं रहने देती। उसकी कृति सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब न होकर सामाजिक जीवन पर आधारित एवं स्वतन्त्र सौन्दर्यमयी सृष्टि बनकर प्रस्तुत होती है। मात्र प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में कवि का स्वतन्त्र व्यक्तित्व कैसे उभर सकता है? डॉ० शर्मा के मत से कवि का व्यक्तित्व पूरे वेग से तभी निखरता है जब वह समर्थ रूप से परिवर्तन चाहने वाली जनता के आगे कवि-पुरोहित की तरह आगे बढ़ता है।[2] डॉ० शर्मा का यह निष्कर्ष मूलतः मार्क्स की पोलिटिकल एकोनामी की भूमिका पर आधारित है जहाँ उसने विचार-धारा के विभिन्न रूपों का—जिसके अन्तर्गत कला तथा साहित्य भी परिगणित हैं—सामाजिक जीवन के विकास में महत्वपूर्ण योग स्वीकार किया है।

लेकिन यहीं एक दूसरा प्रश्न भी विचारणीय है। मार्क्स के अनुसार समाज का भौतिक धरातल, आर्थिक धरातल, का ही पर्याय है। विचार धारा के विभिन्न रूप उसके अनुसार भौतिक धरातल से ही प्रभावित होते हैं। फिर क्या कला तथा साहित्य समाज के आर्थिक जीवन से अनुशासित नहीं होते? रैल्फ़ाक्स के अनुसार मार्क्स का यह मतव्य नहीं था। इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुये उसने स्पष्ट कहा है—

"It is only a caricature of Marxism to suggest that Marx considered works of art to be the direct reflection of material and economic causes."[3]

विचारधारा के विभिन्न रूपों के साथ समाज के आर्थिक जीवन का सम्बन्ध दर्शाते हुये ऐंजेल्स ने भी कहा था—'धर्म, राजनीति, दर्शन साहित्य कला ··· आदि के विकास का आधार आर्थिक विकास है। लेकिन इन सबका एक दूसरे पर तथा आर्थिक आधार पर भी प्रभाव पड़ता है, ऐसी बात नहीं है कि आर्थिक आधार ही एकमात्र सक्रिय कारण हो और बाकी सब

१. पृष्ठ ७८—स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य।
२ „ ८२,—वही।
३ पृष्ठ ६३—Ralph Fox—The Novel and the people.

चीजें निष्क्रिय रूप से प्रभाव ग्रहण करती हों।' साहित्य भी निष्क्रिय रूप से
प्रभाव नही ग्रहण करता बल्कि सामाजिक जीवन के विकास मे उसका भी
महत्वपूर्ण योग होता है। वह स्वय मे एक महत्वपूर्ण प्रभावोत्पादक तत्व
भी है। दूसरे, जैसा कि डॉ० शर्मा ने कहा है, सामाजिक जीवन का यथार्थ
अपने सश्लिष्ट रूप मे ही साहित्य और कला मे प्रतिबिम्बित होता है।'
समाज उनके अनुसार, स्वय मे सीधी इकाई न होकर अनेक तत्वो से युक्त एक
सश्लिष्ट वस्तु है। उसके अन्तर्गत अन्तर्विरोध तथा असगतियाँ भी रहती हैं—
इसलिये साहित्य मे उसके प्रभाव की भी व्यजना सीधी न होकर सश्लिष्ट
होती है।[२] इसके अतिरिक्त डॉ० शर्मा यह भी स्वीकार करते है कि सामाजिक
विकास से सम्बद्ध कला के अनेक तत्व जहाँ आर्थिक जीवन पर निर्भर होते हैं,
उनका एक स्पष्ट वर्ग-आधार होता है, वे आर्थिक व्यवस्था के बदलने पर या
कुछ समय बाद परिवर्तित हो जाते हैं, वहाँ अनेक तत्व अपेक्षाकृत स्थायी
होते हैं, वर्गों से परे और बहुत कुछ अपरिवर्तनशील होते हैं।"[३] इस प्रकार
डॉ० शर्मा ने कला तथा साहित्य पर समाज के भौतिक धरातल के यान्त्रिक
प्रभाव को स्वीकार न कर उसके परस्पर सापेक्ष प्रभाव को ही मान्यता दी
है। उनके अनुसार, 'ऐसा नही होता कि समाज के रथ मे लेखक पीछे बधा
हुआ हो और उसके पीछे-पीछे लीक पर घिसटता हुआ चलता हो। लेखक
सारथी होता है जो लीक देखता हुआ साहित्य की बागडोर सभाले हुए उसे
उचित मार्ग पर ले चलता है।"[४]

यही सामाजिक जीवन के विकास मे कला तथा साहित्य के महत्वपूर्ण
योगदान का भी प्रश्न उठता है। मार्क्सवादी विचारको ने कलात्मक कार्यवाही
को समाजवादी निर्माण का अभिन्न अग माना है। इस प्रसंग मे यद्यपि कुछ
अतिवाद भी जुड़े हैं और साहित्य की सापेक्षिक स्वतत्रता पर आघात भी हुआ
है, फिर भी कला अथवा साहित्य को 'कला कला के लिये' अथवा 'कवित
कविता के लिये' जैसी भ्रातियो से मुक्तकर एक स्वस्थ तथा सोद्देश्य भूमि
प्रदान करने का श्रेय मार्क्सवादी विचारको को ही है। डॉ० शर्मा के अनुस
"लेखक और कलाकार का कर्तव्य होता है कि वह उत्पादन सम्बन्धो
उत्पादक शक्तियो के सघर्ष को समझे और अपनी कला द्वारा विकास

---

१. पृष्ठ ५३—प्रगति और परंपरा।
२. " ५४—वही।
३. " ३४—आस्था और सौन्दर्य।
४. " ३—प्रगति और परंपरा।

शक्तियो को सहारा देकर और उनके स्वय जीवन प्राप्त करके मनुष्य और समाज की मुक्ति की ओर अग्रसर हो।"[१]

जैसा कि अब तक किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि डॉ० शर्मा न तो साहित्य की पूर्ण निरपेक्ष वर्ग, समाज तथा सामयिक परिस्थितियो से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करते है और न इस मत को मान्यता देते हैं कि कलाकार अपनी कृतियो मे तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियो को यथावत् प्रतिबिम्बित करता है। मार्क्सवादी दृष्टि से कलाकार परिस्थिति सापेक्ष अवश्य है, पर वह परिस्थतियो का दास नही, परिस्थितियो का विधायक है। हर महान कलाकार इसी अर्थ मे महान होता है कि उसने अपने युग को प्रभावित किया है, उसकी परिस्थितियो को बदला है तथा जीवन की गतिशील वास्तविकता को वाणी दी है। रॅल्फ फाक्स के मत से—"लेखक अपनी आन्तरिक चेतना की सतह पर वास्तविकता के गर्म लोहे को रखकर उस पर हथौड़े चलाता है, विचार की चोटो से उसे पीटता है और अपने उद्देश्य के अनुकूल उसको रूपान्तरित कर लेता है।[२]

इस प्रकार सामाजिक जीवन के विकास मे साहित्यकार की एक क्रान्तिकारी भूमिका होती है। प्रत्येक श्रेष्ठ कलाकार सामाजिक जीवन की यथार्थता का उद्घाटन करता है और साधारण जनो के उत्पीडको की आलोचना करता है तथा समय आने पर उनके विरुद्ध क्रान्ति भी करता है। क्योकि रस्किन के शब्दों मे—"Art to be worth any thing must be for the people and not for few pampered aristocrates and ignorant mill-owners" डॉ० शर्मा के मत से सामाजिक परिस्थितियो के अन्तर्गत लेखक की सफलता उसके नैतिक मनोबल पर आश्रित होती है। उनके अनुसार "उसका साहित्य अमर होता है या क्षणिक, यह उसके नैतिक बल पर निर्भर है। जिसका मनोबल क्षीण हो गया है, जो जीवन-सग्राम को दिखाता है, जिसके कठ से शत्रु के लिये ललकार फूटने के बदले आर्त्तनाद सुनाई देता है, वह अमर पद का दावेदार कैसे हो सकता है। अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से बचना वास्तव मे एक प्रकार की कायरता है।'[३]

साहित्य अपने सामाजिक जीवन की परिस्थितियो से सघर्ष करने की प्रेरणा देता है। उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के सस्कारो मे भी परिवर्तन लाने को

१ पृष्ठ ५२—प्रगति और परंपरा।

२. पृष्ठ २१—रॅल्फ फाक्स, उपन्यास और लोकजीवन।

३. पृ०४—प्रगति और परंपरा

क्षमता रखता है। शोषक वर्ग के अत्याचारों से पिसती हुई साधारण जनता की उदासी तथा निष्क्रियता को हटाकर साहित्य सामाजिक जीवन में स्फूर्ति और प्रेरणा का संचार करता है। डॉ० शर्मा के शब्दों में—"साहित्य का पांचजन्य समर भूमि में उदासीनता का राग नहीं सुनाता। वह मनुष्य को भाग्य के आसरे बैठने और पिंजड़े में पंख फटफटाने की प्रेरणा नहीं देता। इसी तरह की प्रेरणा देने वालों के वह पंख कतर देता है।'[१] काडवेल ने प्रगतिशील साहित्यकारों को कला के क्षेत्र में सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करने की राय दी है क्योंकि जब तक जनता और साहित्यकार का संबंध दूर-दूर होगा अथवा बौद्धिक सहानुभूति तक ही परिसीमित रहेगा उसके स्वरों में ओजस्विता का भी अभाव रहेगा। प्रत्येक साहित्यकार के लिये यह आवश्यक है कि वह सामाजिक यथार्थता को ग्रहण करते हुये जनशक्ति की चेतना की नयी भूमिकाओं की ओर अग्रसर करे, सुख और जन कल्याण का प्रशस्त आधार प्रस्तुत करे। यही साहित्य का सामाजिक उपयोग होगा। वैयक्तिक तथा कल्पनात्मक साहित्य की भावधारा समाज को सुख और शान्ति का स्वप्न नहीं दे सकती क्योंकि डॉ० शर्मा के अनुसार—"साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीडन के महापर्वत को काटकर प्रवाहित की जाती। अपनी कुदाल फेंक कर इस पर्वत का चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश गंगा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता।'[२]

प्रगति और प्रतिक्रिया

साहित्य में प्रगति और प्रतिक्रिया विषयक प्रश्न मूलतः सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोध अथवा असंगतियों से सम्बद्ध है। समाज के अन्तर्गत एक साथ ही प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों की स्थिति रहती है। इन दोनों के विरोध से जैसा कि डॉ० शर्मा ने कहा है, समाज को गति मिलती है।[३] साहित्यकार चूंकि सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग है—अभिन्न अंग ही क्यों, उसे विकास की दिशा में उन्मुख करने वाली प्रमुख शक्तियों में उसकी परिगणना है, अतः सामाजिक जीवन के इस द्वन्द्व से वह स्वयं को मुक्त नहीं रख सकता। बल्कि अपनी सक्रिय भूमिका के साथ प्रायः वह प्रगतिशील तत्वों का ही साथ भी देता है। लेकिन जैसा कि मार्क्सवादी विचारकों ने कहा है कि विचारधारा

---

१. पृ० ८१—स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य
२. पृ० ४—प्रगति और परंपरा
३. ,, १—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें

के विभिन्न रूपों में अपनी सक्रिय भूमिका के साथ उपस्थित होने वाले व्यक्तियों के बीच भी एक विरोध की अवस्था परिलक्षित होती है। उनमें से कुछ ऐसे भी होते है जिनकी सहानुभूति पूर्ववर्ती समाज व्यवस्था के साथ है वे इतिहास की गति को एक सीमा तक अवरुद्ध करने में भी नहीं हिचकते। उनका समस्त रचना व्यापार, समस्त वैचारिक भूमि प्रगतिशील तत्वों के विरोध में रखकर देखी जा सकती है ऐसे कवियों, लेखकों तथा विचारकों को प्रतिक्रियावादी की संज्ञा दी जाती है लेकिन ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं होती। कवि लेखक अथवा विचारक चूंकि समाज के प्रबुद्ध वर्ग का निर्माण करते है जन सामान्य जन-समुदाय की तुलना में वे सामाजिक जीवन के विकास की सहज और स्वाभाविक गति को अधिक सरलता से पहचान लेते है। इसीलिये मार्क्स ने विचारधारा के विभिन्न रूपों में ही सामाजिक क्रान्ति का पूर्वाभास होने की ओर संकेत किया है। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक जीवन में इन उभय तत्वों की स्थिति निरंतर बनी रहती है और कवियों तथा लेखकों का समुदाय भी इस स्थिति से निरपेक्ष नहीं है।

डा० शर्मा ने शिवदानसिंह चौहान की इस स्थापना का कि कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है इसी दृष्टि से खंडन किया है। उनके अनुसार, श्री चौहान ने 'साहित्य की परख' नामक निबंध में यह मान्यता प्रस्तुत की थी कि 'कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है उसकी सृजन चेष्टा, बाह्य जीवन के अनुभव और सौन्दर्य मूलक प्रवृत्ति अर्थात् व्यवस्था सामंजस्य और मुक्ति का भी निसर्ग चेष्टा से उत्प्रेरित होता है।'[१] डॉ० शर्मा ने इस मान्यता का खंडन करते हुये कहा है कि—'अगर कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है तो साहित्य में प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी का भेद करना निरर्थक है।'[२] लेकिन वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में प्रगतिशील तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों की स्थिति बनी रहती है उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी इन उभय तत्वों का विरोध निरन्तर लक्षित होता है। वास्तव में जैसा कि डॉ० शर्मा का कथन है—"जो लोग कहते है साहित्य स्वभाव से प्रगतिशील रहता है वे अप्रत्यक्ष रूप से यह मानकर चलते है कि साहित्य प्रतिक्रियावादी भी होता है। प्रगतिशील शब्द सापेक्ष अर्थ का बोधक है। कोई भी घटना-प्रवाह किसी की तुलना में ही प्रगतिशील होगा। इसलिये निरपेक्ष अर्थ में प्रगतिशील शब्द का व्यवहार कर सकना मुमकिन नहीं है।'[३]

---

१. पृष्ठ १—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें
२. वही
३.

डा० शर्मा के मत से—'न तो साहित्यकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है न प्रतिगामी। वे प्रगतिशील तभी होते हैं जब वे जन साधारण का पक्ष लेते हैं।'[१] यह बहुत कुछ उनके सामाजिक दृष्टिकोण तथा सामाजिक जीवन के विकास में उनके द्वारा जो सक्रिय भूमिका प्रस्तुत होती है उस पर आधारित है। समाज के परस्पर विरोधी सम्बन्ध के साथ-साथ उनके गर्भ में निहित विकासमान सम्भावनाओं को जितनी ही सफलता के साथ जो साहित्यकार साक्षात्कार करता है उतनी ही सफलता के साथ उसकी रचना तथा समीक्षा में प्रगतिशील तत्वों का समाहार होता है। इसलिये शर्मा जी के मत से प्रगतिशील साहित्यकार के लिये दो चीजें आवश्यक हैं—'समाज के परस्पर विरोधी सम्बन्धों का चित्रण तथा विकासमान सम्भावना की कल्पना एवं अभिव्यक्ति।'[२] आज के युग का सत्य यह है कि एक तरफ जनता साम्राज्यवाद से मुक्ति के लिये संघर्ष कर रही है दूसरी तरफ साम्राज्यवादी ताकतें और उसके हिमायती उसे दबाने और बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं। इस द्वन्द्व में कलाकार किसी अद्वैत युग सत्य का सहारा न लेकर जनता या उसके विरोधियों का पक्ष लेता है इसलिये स्वभावतः प्रगतिशील होकर उस युग विशेष और समाजविशेष और जनता का पक्ष लेने पर ही उसे प्रगतिशील कहा जा सकता है।'[३]

वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशीलता रचनाकार अथवा समीक्षक के दृष्टिकोण से जुड़ी हुई है, उसकी सहानुभूति सक्रियता से जुड़ी हुई है। 'व्यक्तिगत विचार और सामाजिक चित्रण के द्वन्द्व में उपस्थित होने पर', लुकेक्स के अनुसार हमें सर्वथा यह प्रश्न करना चाहिये कि लेखक किससे घृणा करता है और किससे प्रेम'[४] साहित्यकार के प्रतिक्रियावाद या प्रगतिशीलता को जानने के लिये भी, शर्मा जी के मत से, 'एक मात्र निकष यह है कि वह अपने सामाजिक जीवन में उस समय की प्रगतिशील शक्ति का साथ देता है या प्रतिक्रियावादी शक्तियों का।'[५] प्रगतिशील शक्तियाँ वे हैं जो समाज के परस्पर विरोधी सम्बन्धों के बीच से विकासमान सम्भावनाओं को विकसित करने के लिये सक्रिय हों। प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ इसके विपरीत वे

---

१. पृष्ठ ४—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।

है जो [illegible] के [illegible] अपनी विचार धारा [illegible] और [illegible] से उसे का [illegible] है।

संस्कृति और समाज

मार्क्स ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'क्रिटिक आफ पालिटिकल इकानामी' की भूमिका में [illegible] चेतना के [illegible] अथवा सांस्कृतिक धरातल को भौतिक [illegible] पर ही आधारित माना है। उसके अनुसार मानव इतिहास का अन्तिम नियामक और निर्णायक तत्व मनुष्य की चेतना न होकर उसकी [illegible] परिस्थितियाँ हैं। अतः मनुष्य की [illegible] चेतना का जो भी स्वरूप है, उसकी जो सांस्कृतिक निधियाँ हैं वे सभी समाज के आर्थिक ढाँचे पर आधारित हैं। डॉ० शर्मा के शब्दों में—'मार्क्सवाद मानता है कि संस्कृति किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब है। आर्थिक व्यवस्था अगर नींव है तो संस्कृति उसके ऊपर की इमारत है।'[1]

फिर भी यह समझना कि समाज व्यवस्था के परिवर्तन के साथ ही सांस्कृतिक धरातल पर भी तत्कालिक परिवर्तन का आभास होने लगता है, एक भ्रम मात्र है। मनुष्य के सामाजिक जीवन के आर्थिक धरातल पर जितनी जल्दी एक नयी व्यवस्था के उदय की सम्भावना रहती है, उतना उसके वैचारिक उत्पादन पर नहीं और यही कारण है कि मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति और समाज व्यवस्था के परस्पर संबंधों की व्याख्या करते समय इस बात पर जोर दिया है कि संस्कृति सापेक्ष रूप से स्वाधीन है। डॉ० शर्मा के अनुसार, 'मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का महल बनता है तो इसका मतलब यह नहीं था कि पिछली संस्कृति से ग्रहण करने लायक कोई बात नहीं होती।' वस्तुतः नयी संस्कृति तथा नवीन सामाजिक चेतना को समृद्ध करने मे पूर्ववर्ती युगो की सांस्कृतिक चेतना का भी महत्वपूर्ण योग होता है। ऐसा कभी नहीं देखा जाता कि समाप्त होने वाली समाज व्यवस्था के साथ सांस्कृतिक जीवन के सभी तत्व-कला तथा साहित्य आदि सभी उपादान एक साथ विघटित हो गये हो। इस संबंध मे मार्क्स के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए रैल्फ फाक्स ने कहा था—

"He would have laughed to scorn the idea that

---

१. पृष्ठ १६६—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।

because capitalism replaces feudalism therefore a capitalist art immediately replaces feudal art.[1]

वस्तुतः युगों से संचित मानव चेतना के अबाध प्रवाह को ग्रहण करते हुये नयी सांस्कृतिक चेतना का विकास होता है। बीते हुये युग के जीवन मूल्य ही भविष्य में आने वाली सामाजिक व्यवस्था की कड़ी सिद्ध होते हैं। वर्तमान के लिये यह आवश्यक है कि वह दोनों को सम्बद्ध रखे। इस सम्बन्ध में एंगेल्स का यह कथन नितान्त महत्वपूर्ण है कि सांस्कृतिक अथवा भावात्मक किसी भी क्षेत्र में परम्परा को, परम्परागत भावनाओं को बिल्कुल त्यागकर केवल वर्तमान समाज की अर्थ नीतिक दशा को प्रतिबिम्बित करना सम्भव नहीं है।

पिछली संस्कृति से एकदम विच्छिन्न होकर बिना आधार के नयी संस्कृति का जन्म नहीं होता। मार्क्स ने प्राचीन ग्रीक कला की सुन्दरता का रहस्य बतलाते हुए उन अविकसित सामाजिक परिस्थितियों की ओर संकेत किया था जो आज उत्पन्न नहीं हो सकती फिर भी उनका सांस्कृतिक मूल्य सुरक्षित है। यही नहीं महान साहित्य की सृष्टि उसी रास्ते पर चलकर हो सकती है जिसमें महान साहित्यकारों की कृतियाँ युगों की सीमा पार कर हमारे पास पहुँची हैं तथा आज भी हमारी भावनाओं को आन्दोलित करती हैं अतः डॉ० शर्मा के शब्दों में—"नयी संस्कृति और नयी सामाजिक चेतना के भीतर नये साहित्यकार और लेखक का कर्तव्य होता है कि वे पुरानी संस्कृति के तत्व और रूपों को अपने भीतर समेट कर उन्हे अधिक पुष्ट और विकसित करें।" उनके अनुसार इस विषय मे स्वयं मार्क्सवादियों ने भ्रम की गुंजाइश नही रहने दी है। फिर भी अगर कोई यह दावा करे कि 'मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है' तो इसका कारण मार्क्सवाद का अज्ञान हो सकता है।

व्यावहारिक समीक्षा : प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य

डॉ० रामविलास शर्मा की व्यावहारिक समीक्षा भी मूलत. मार्क्सवादी आदर्शों पर आधारित है। वे कवि लेखक तथा समीक्षक ही उनके लिये प्रमुख रूप से विवेच्य हैं, जिनकी कृतियो मे जनवादी तत्वो की प्रधानता रही है अथवा जिनके अन्तर्गत स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की स्थापना हो सकी है। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत उन्हे निराला, प्रेमचन्द और आचार्य शुक्ल के व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रतीत हुए। इनके सम्बन्ध मे डॉ० शर्मा ने स्वतंत्र समीक्षात्मक कृतियाँ तो प्रस्तुत की ही हैं, इनका अनुवर्णक

---

1. Page 61. Ralph Fox—The Novel and the People.

विवेचन उनकी अन्य कृतियो के सम्बन्ध मे उनकी लोकवरक कृतियो को दृष्टिगत रखते हुये उन्होंने विस्तारसहित विवेचन किया है।

मध्य युगीन साहित्य के प्रथम प्रमुख कवि थे, कबीरा मनुष्यत्व की सामान्य भावना के आधार पर साधारण जनता मे आत्म गौरव की प्रतिष्ठा, शर्मा जी के अनुसार उनकी महत्वपूर्ण देन थी। "इस कार्य मे उन्होंने निम्न वर्ग की सामाजिक चेतना को निखारा, उसे बल प्रदान किया।"[१] लेकिन कबीर की प्रतिभा वास्तव मे ध्वसात्मक थी, तुलसी की भाँति स्थापनामूलक नही। डॉ० शर्मा के मत से, "उनके रहस्यवाद मे रचनात्मक तत्व कम हैं।"[२] इसके विपरीत तुलसी की सम्पूर्ण प्रतिभा, उनका समस्त साहित्य सामाजिक जीवन मे लोकहित की दृष्टि मे नये आदर्शों की स्थापना के लिये सलग्न है। "उनके सामाजिक वर्णन मे, उपमाओ मे, शब्द-चयन आदि मे एक ऐसे व्यक्ति की छाप है, जिसमे अपनी भौतिक पृष्ठभूमि के प्रति असाधारण जागरूकता है।"[३] लेकिन इस पृष्ठभूमि को जो युगीन समस्याओ से आच्छादित थी उन्होने समाधान रहित नही छोडा है। 'किसान दुखी है, प्रजा पीडित है, राजा उत्तरदायित्व-शून्य है, परन्तु इस व्यूह से निकलने का मार्ग क्या है?'[४] उनके रामराज्य की कल्पना, शर्मा जी के अनुसार, इस मार्ग की ओर ही सकेत है। 'यह रामराज्य स्वर्ग मे नही, अवध मे है—इसी जीवन मे इसी धरती पर है।' तुलसी की इस रचनात्मक तथा मानवीय दृष्टि का विश्लेषण करते हुये शर्मा जी ने कहा है—'तुलसीदास ने एक सुखी समाज की कल्पना की थी जिसमे दरिद्रता, विषमता मिट गयी हो। हम अपनी आखो से देख सकते हैं कि मनुष्य अपने प्रयत्न से ऐसा समाज रच सकता है। तुलसीदास का स्वप्न श्रमिक जनता के लिये एक धरोहर है जिससे प्रेरित होकर वह मजिल-दर-मजिल बढती जायेगी।' इस स्थापना के साथ कि 'तुलसी की कविता का स्रोत उनका मानव प्रेम है' उनकी निम्नलिखित पक्तियों को—

कीरति भनिति भूतिभल सोई।
सुर सरि सम सब कह हित होई॥

---

१. पृष्ठ ४—संस्कृति और साहित्य।

२. पृष्ठ ४—संस्कृति और साहित्य।

३. ,, ८६—वही।

४. पृष्ठ ८६—संस्कृति और साहित्य।

उद्धृत करते हुये डॉ० शर्मा ने कहा है—'उनके लिये साहित्य न तो समंतों के मनोरंजन का साधन है, न निरुद्देश्य प्रयोग है। वह ऐसे साहित्य के पक्षपाती है जो जनता का हित करे।'[1] तुलसी के समय का सामाजिक यथार्थ, उनके अनुसार, जर्जर होती हुई सामंती व्यवस्था का यथार्थ है। तुलसीदास इस व्यवस्था के रक्षक नही। उनकी सहानुभूति सामतों के उत्पीडन के विरुद्ध साधारण जनो और स्त्रियो के साथ है।'[2]

लेकिन तुलसी साहित्य के सामत-विरोधी मूल्यो को भुलाकर मध्ययुग के अवसान के समय जिस ह्रासशील प्रवृत्ति का रीतिकाव्य के रूप मे आविर्भाव हुआ, डॉ० शर्मा ने बडी ही तीव्रता के साथ उसकी भर्त्सना की है। उनके अनुसार, 'इस युग की कविता मे नायिकाओ की भरमार, प्रकृति वर्णन के नाम पर घिसे-पिटे अलंकार, दरबारो की उर्दू शायरी मे हुस्न और इश्क की आतिशबाजी—ये सब सामती शासक वर्ग की विकृति रुचि के परिचायक हैं।'

भूषण तथा उनकी परपार के कतिपय अन्य कवियो द्वारा वीर गाथा काल का एक लघु-संस्करण अवश्य इस युग मे मूर्त हुआ फिर भी, ये कवि शर्मा जी के अनुसार, 'युगीन प्रवृत्तियों से सर्वथा मुक्त नये और इन्हे अधिक लोकप्रियता मिलने का कारण भी यही था कि वे अपने आश्रयदाताओ के भक्त पहले थे देश के भक्त बाद को।[3]

आधुनिक साहित्य के प्रारंभिक बिन्दु परस्थित भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा उस युग के अन्य साहित्यकारो के प्रति भी डॉ० शर्मा ने यथेष्ट सम्मान दर्शाया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साहित्य का मूल स्वर देशभक्ति को स्वीकार करते हुये शर्मा जी ने उन्हे 'जातीय नव जागरण के वैतालिक[4]' की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि मे, भारतेन्दु साहित्य की सबसे बडी विशिष्टता उसकी यथार्थवादी भाव-भूमि[5] है, जिसके आधार पर युगीन साम्राज्य प्रेमी और रूढिवादी विचार-धारा का खंडन किया गया है। अपने गद्य-साहित्य के अन्तर्गत, 'भारतेन्दु की दृष्टि जनवादी विचारो से प्रभावित है[6] जहां, 'धर्म, संस्कृति, साहित्य,

१. पृष्ठ २८४—संस्कृति और साहित्य।
२. ,, १८५—वही।
३. पृष्ठ ५—प्रगतिशील साहित्य की समस्यायें।
४. ,, १७९—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।
५. ,, वही।
६. ,, ७२—वही।

[illegible] का दुर्भिक्ष, कौन्सिलों का इन्साफ छोड़ने के उपाय है, विधवा-विवाह का समर्थन तथा बाल-विवाह का विरोध है और कुलीनता, जाति-प्रथा, छुआछूत आदि का [illegible] है।[1] इसी प्रकार, काव्य में भी यथार्थवादी पद्धति का समावेश करते हुए उन्होंने, यह प्रमाणित किया कि कविता का सम्बन्ध देश की जनता के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है।'[2] इस युग के अन्य कवियों तथा लेखकों की राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट आदि की सामाजिक तथा निर्माणात्मक चेतना का उल्लेख करते हुये डा० शर्मा ने कहा है—'इस युग की मूल धारा राष्ट्रीय और जनवादी है।' राष्ट्रीय इसलिये है। कि उस युग के लेखकों में स्वाधीनता का भाव था और अंग्रेजी साम्राज्यवाद की भर्त्सना का अपूर्व साहस। भारतेन्दु-युग का साहित्य 'जनवादी' इसी अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के प्राचीन ढाँचे से सन्तुष्ट न होकर सुधार की आकांक्षा रखता है।' वह राजनीतिक स्वाधीनता का ही साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाई चारे का भी साहित्य है।'

भारतेन्दु युग के पश्चात् साहित्य के क्रमिक-विकास में द्विवेदी-युग का भी अपना महत्वपूर्ण योग है। शर्मा जी के अनुसार, 'साहित्य प्रगति की दृष्टि से प० महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके साथियों ने जो महत्वपूर्ण काम किया, वह पद्य में खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना था।'[3] द्विवेदी जी ने खड़ी बोली का परिष्कार किया और उसकी व्याकरण तथा अन्य अशुद्धियों को दूरकर उसे एक निश्चित रूप दिया। काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी-युग की महत्वपूर्ण देन, शर्मा जी के मत से, मैथिलीशरण गुप्त हैं। उनकी कविता में व्यक्तिवाद की परपरा

रचनायें," शर्मा जी के अनुसार, "हमारी जाति की तरफ से विश्व संस्कृति को भेंट हैं ।[१]

छायावादी काव्यधारा के अन्तर्गत यद्यपि महाकवि निराला ही डॉ० शर्मा के द्वारा प्रमुख रूप से विवेच्य रहे है, फिर भी उन्होंने प्रसाद, पंत तथा महादेवी वर्मा के संबध मे भी अपनी मान्यतायें प्रस्तुत की हैं। उनके मत से, प्रसाद का अधिकांश साहित्य विशेषतया उनका कथा साहित्य यथार्थवादी भूमिका पर आधारित है। पंत के काव्य की समीक्षा करते हुये जहाँ एक ओर उसकी 'ग्राम्या' को उन्होंने, 'प्रगतिशील कविता का ऐतिहासिक मार्ग चिन्ह' कहा है, वही उनकी नव्यतम कृतियों—स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि, उत्तरा आदि की पर्याप्त आलोचना भी की हैं। महादेवी के काव्य की अतिशय वैयक्तिकता एवं वेदना की आलोचना करने के बावजूद उन्होंने यह स्वीकार किया है "निराला को छोड कर किसी अन्य कवि में जीवन के प्रति इतनी चाह नहीं है जितनी महादेवी मे ।'[२]

छायावादी काव्य के अनन्तर डॉ० शर्मा ने प्रगतिशील काव्य-धारा की विवेचना की है। 'प्रगतिशील कविता ने, उनके अनुसार, 'छायावादी काव्य की अस्पष्टता, भाषा की दुरूहता, निराशावादी भावनाओं और पलायनवादी प्रवृत्ति को दूर किया, जीवन मे आस्था, दलित और शोषित जनता के लिये मुक्ति की उत्कंठा, सामाजिक दायित्व की भावना व्यक्त की।'[३] सुमन, नागार्जुन, दिनकर तथा केदारनाथ अग्रवाल प्रभृति कवियो की सामाजिक चेतना शर्मा जी के अनुसार पूंजीवादी असंगतियो का विरोध करती है तथा श्रमजीवी वर्ग को प्रश्रय देती है। लेकिन इस काव्य धारा के अन्तर्गत कतिपय कमियां भी थीं, जिनका उल्लेख करते हुये उन्होंने कहा—'प्रगतिशील कविता की कमजोरी थी—विचार पक्ष की अस्पष्टता और कलात्मक शिथिलता ।'[४] दूसरी कमजोरी का जहाँ तक प्रश्न है, उन्होंने इस संबध मे अपना मत व्यक्त करते हुये स्पष्ट कहा है—'प्रगतिशील साहित्य······

इस प्रकार 'ग्राम्या से लेकर बच्चन के 'बुद्ध और नाचघर' तक यथार्थवाद की धारा अनेक विषमताओं का सामना करती हुई आगे बढ़ी है। इस

१. पृष्ठ २४४—विराम चिन्ह
२. ,, ९२—लोक जीवन और साहित्य
३. ,, २४९—आस्था और सौन्दर्य
४. ,, १४९-५०—वही

विषमताओं में एक विषमता प्रयोगवाद भी था, किन्तु प्रयोगवाद विकासपथ की एक विषमता ही है, विकास की मुख्य दिशा नहीं।' उनके अनुसार, 'कुंठा और घुटन की यह भाव धारा क्षणिक है। हिन्दी साहित्य की भागीरथी इस कदम को बहाकर एक ओर फेंक देगी और अपने गौरवशाली इतिहास के अनुरूप ही जीवन-दायी निर्मल जल से भरी हुई प्रवाहित होगी।'[1]

निराला

छायावादी कवियों के अन्तर्गत डॉ० शर्मा ने निराला को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में निराला जनवादी परंपरा के कलाकार हैं जिनके साहित्य की जड़ें देश की धरती और देश की साधारण जनता में गहरी चली गई हैं।[2] निराला कला और समाज के पारस्परिक संबंध के हिमायती हैं और यही कारण है कि उन्होंने शाश्वत सत्य अथवा ब्रह्मानन्द सहोदर की कल्पना से विचलित न होकर भी लेखक का जनता से घनिष्ठ सम्पर्क माना है। निराला के प्रारंभिक साहित्य में भले ही एक विरोधाभास की स्थिति दिखाई पड़ती है, जहाँ पर कलागत बंधनों से अपने को मुक्त न कर पाये हों तथा समाजवादी यथार्थ का चित्रण न हो सका हो, परन्तु परवर्ती साहित्य में निराला का यथार्थवादी रूप ही प्रमुख बनकर उपस्थित होता है। किसानों के मार्मिक प्रसंग, जमींदारों के अत्याचार तथा मानव जाति की दुर्दशा का निराला के साहित्य में जो चित्रण हुआ है वह एक जनवादी कलाकार की दृष्टि का ही परिणाम है। शर्मा जी के मत से, सामाजिक यथार्थ का चित्र निराला के गद्य साहित्य, विशेषकर उनके कथा साहित्य में अपनी संपूर्ण विशदता, रेखाओं और रंगों की पूरी सजीवता लेकर प्रकट हुआ है। उनके अनुसार, सन् '२६ से ३४' तक का समय निराला जी के जीवन का संक्रमण युग है, जबकि उनकी पुरानी आस्थाओं एवं आदर्शों में एक व्यापक परिवर्तन के चिन्ह प्रकट होने हैं।[3] इसी परिवर्तित स्थिति के परिणाम 'देवी' और 'चतुरी चमार' जैसे युग प्रवर्तक रेखा चित्र हैं। शर्मा जी के कथनानुसार—'उनका साहित्य भारत पर अंग्रेजी राज्य की कटु आलोचना है, जनता की दरिद्रता और दुखी जीवन की तस्वीरें सभ्य अंग्रेजी शासन पर सबसे अच्छी टिप्पणी हैं।'[4]

---

१. भूमिका—आस्था और सौन्दर्य।

२. पृष्ठ १९४—निराला।

३. " ८२-८३, निराला।

४. " १८६, वही।

शर्मा जी की दृष्टि में, निराला समाज की सडी गली मान्यताओ, रूढियो के जर्जर स्वरूप, मानवीय जीवन की गति को रोकने वाली शक्तियो का प्रखर आलोचक' है। जिस प्रकार प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास साहित्य के अन्तर्गत ग्रामीण जीवन की नष्ट प्राय: रूढियों का पर्दाफाश किया है उसी प्रकार निराला के काव्य तथा कथा साहित्य मे सामाजिक स्वार्थ और रूढियो पर व्यग्य और हास के तीखे स्वर प्राप्त होते हैं। प्रत्येक समाजवादी कलाकार समाज के अन्तर्गत पनपने वाली रूढियो से तटस्थ नही रह सकता, उसके बधनो से मुक्त हो जाने का मार्ग दिखाता है। शर्मा जी के शब्दों मे—'...जाति प्रथा के हामियो, समाज मे ऊँच नीच का भेद रखने वालो की असलियत जाहिर कर देता है। वह उनके ऊपर से धर्म के लबादे को उतार फेंकता है और उनका सच्चा मानव-द्रोही रूप प्रकट कर देता है। धर्म ही नही, विवाह, पारिवारिक जीवन, नैतिक मूल्य जहाँ भी मनुष्य दुरगी नीति बरतता है, निराला उघार कर रख देता है।[1]' निराला के व्यग्य इस दृष्टि से बहुत सफल कहे जा सकते है। यह प्रवृत्ति, जैसा कि शर्मा जी ने सकेत किया है निराला की परवर्ती रचनाओ मे ही अधिक स्पष्ट होकर सामने आ सकी है।

किसी भी समाजवादी अथवा जनवादी कला का कार्य केवल दलित एवं पीडितों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन मात्र तक ही सीमित नही है, वह समाज के उस शोषक वर्ग का सक्रिय विरोध करे जिसके कारण समाज मे ऐसी परिस्थितियाँ बनी हुई हैं। निराला ने अपने सम्पूर्ण साहित्य मे समाज की ऐसी शोषक शक्तियों की कटु आलोचना की है। शर्मा जी की दृष्टि मे, निराला ने यदि अपनी सामाजिक रचनाओ मे दलित वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट की तो साथ ही साथ सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन लाने के लिये विप्लव और क्रान्ति की माँग भी थी।[2]

निराला-काव्य के इस प्रगतिशील स्वरूप की विशेषताओ के साथ-साथ डॉ० शर्मा ने उसके काव्योत्कर्ष की भी पर्याप्त सराहना की है। निराला उनके सर्वाधिक प्रिय काव्य केवल इसलिये नही है कि वे प्रगतिशील अथवा 'जनवादी' थे वरन् काव्य मानवीय सवेदना को किस सीमा तक स्पर्श करता है, अपने काव्य द्वारा उन्होंने उसे भी पूरी तरह प्रमाणित किया है। निराला जी के गीतो, 'राम की शक्ति पूजा' 'सरोजस्मृति', 'तुलसीदास' 'जागो फिर एक बार', 'जुही की कली' जैसी कविताओ के काव्य-सौन्दर्य को उन्होंने छायावादी काव्य

१. पृष्ठ १८६-८७, वही।
२. पृष्ठ ६४—निराला :

की ही नही आधुनिक हिन्दी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि के रूप मे मान्यता दी है।

प्रेमचन्द्र

डॉ० शर्मा प्रेमचन्द के साहित्य की जनवादी परपरा के मुक्तकठ से प्रशंसक है। हिन्दी कथा साहित्य के अन्तर्गत प्रेमचन्द का कृतित्व उनके समाजवादी आदर्शों के सर्वाधिक निकट है। यहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रेमचन्द के साहित्य की वे कौन सी उपलब्धियाँ अथवा विशेषतायें हैं जिनके आधार पर शर्मा जी उन्हे एक विशिष्ट लेखक के रूप मे स्वीकार करते है। उनकी इस मान्यता का आधार मुख्यत प्रेमचन्द के कथा साहित्य का समाज-सापेक्ष रूप है। उनका साहित्य भारतीय समाज व्यवस्था को स्पर्श करती हुई उस प्रखर धारा के समान है जिसके एक छोर पर ग्रामीण जीवन की सारी असगतियाँ, नित्यप्रति टूटते हुये कृषक वर्ग का चीत्कार और सामती व्यवस्था के ह्रासशील पक्षो का चित्रपट है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम की गतिविधियो का साक्षात् प्रतिबिम्ब प्रेमचद का साहित्य, डॉ० शर्मा के अनुसार, अपने युग का इतिहास है—कैसा इतिहास जो कतिपय घटनाओ एव व्यक्तियो पर आश्रित न रहकर उस अन्तंधारा का सजीव चित्रण करता है, जो समाज की रीढ है। अपनी यथार्थवादी लेखनी से उन्होने जीवन की सच्चाइयो का उद्घाटन किया है, तथा समाज के दुर्बलपक्षो पर हास्य एव व्यग्य की प्रगल्भता से प्रहार किया है। शर्मा जी को उनके उपन्यास और कहानी साहित्य के अन्तर्गत भारतवर्ष के दलित एव पीडित वर्ग की वाणी सुनाई देती है तथा उनके प्रति अपार सहानुभूति रखते हुये उनके उद्धार मे लेखक की आस्था का स्वर मिलता है।

एक समाजवादी आलोचक के आदर्शों के अनुकूल शर्मा जी ने प्रेमचद की औपन्यासिक कला को यथार्थवाद का मूल स्रोत उनकी देश निष्ठा, साधारण जन जीवन के प्रति अपार सहानुभूति तथा पराधीनता के प्रति तीव्र घृणा है। उन्होने प्रेमचन्द के साहित्य को मानववादी दृष्टि से समन्वित माना है। उनके मानववाद के स्वरूप का विश्लेषण करते हुये उन्होंने कहा है—"प्रेमचन्द का मानववाद मनुष्य की तरफदारी करने वाला मानववाद है। वह अमानुषीय भावनाओ को देखकर चुप नहीं रहता।"[1] उनके कथनानुसार, "प्रेमचद ससार को असत्य तथा मनुष्य एव उसके सघर्ष को कृत्रिम अथवा प्रवचना नही मानते

---

1. पृष्ठ १२१, प्रेमचद और उनका युग।

भारतीय प्रगतिशील परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए डॉ० शर्मा ने आचार्य शुक्ल की आलोचना मे जनवादी तत्वों का भी सन्निवेश माना है। शर्मा जी ने इस संबंध मे अपने मत व्यक्त करते हुए कहा है—'उनकी आलोचना सामंती संस्कृति के प्रेमियों के लिए ललकार है। वह जनता का पक्ष लेकर एक नयी संस्कृति के लिए लड़नेवाली आलोचना है।'[1] शुक्ल जी का दृष्टिकोण सामंत विरोधी है, सामंतीय व्यवस्था के अन्तर्गत काव्य की दुर्दशा का उद्घाटन कर उन्होंने सामंतीय व्यवस्था पर व्यंग्य किया है।

आचार्य शुक्ल की समीक्षा पद्धति पर सामान्यतः प्रगतिवादी समीक्षकों ने यह आरोप लगाया है कि उनकी साहित्य सम्बन्धी मान्यतायें एकांगी समाजशास्त्रीय भूमिका पर आधारित हैं। डॉ० शर्मा ने इस मत का खण्डन करते हुए उनमें सामाजिक चेतना के साथ ही कलात्मक विवेचना की भी स्थिति मानी है। शर्मा जी के अनुसार—'जो लोग शुक्ल जी में एकांगी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण देखते हैं, उन्हें जायसी की भूमिका मे पद्मावत के कलात्मक पक्ष का विवेचन ध्यान से पढ़ना चाहिए।'[2] इस भूमिका के अन्तर्गत, शर्मा जी के मत से, शुक्ल जी केवल समाजशास्त्रीय बन्धनों के आधार पर विवेचन प्रस्तुत न करके कलाकार की सहज तथा तीव्र दृष्टि का परिचय देते हैं।

उपसंहार : प्रदेय तथा मूल्यांकन

डॉ० शर्मा के समीक्षा कार्य की—उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन की यथा संभव वस्तुमुखी रूप रेखा प्रस्तुत करने के बाद अब हम इस स्थिति मे आ गये हैं कि हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे उनके प्रदेय का मूल्यांकन कर सकें। मार्क्स वादी विचारधारा की केन्द्रवर्ती स्थिति के कारण प्रथम दृष्टि मे हिन्दी समीक्षा के पूर्ववर्ती स्रोतों से उनके समीक्षा कार्य का प्रत्यक्ष संबंध लक्षित नहीं होता लेकिन ध्यान पूर्वक देखें तो डॉ० शर्मा की समीक्षा, विशेषतया उनके व्यावहारिक विवेचन के अनेक ऐसे स्थल हैं, जहाँ उन्होंने पूर्ववर्ती समीक्षकों के साहित्यिक दृष्टिकोण तथा निष्कर्षों से स्वयं को उपकृत किया है। इन समीक्षकों में आचार्य शुक्ल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी आधार पर कतिपय विद्वानों ने उन्हें शुक्ल-परम्परा के समीक्षक के रूप में मान्यता दी है।

---

१. पृष्ठ १३—आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना।

२. ,, ६६—वही

वस्तुत गहराई से विचार करने पर इस प्रकार का निर्णय एक भ्रांति ही ठहरता है। आचार्य शुक्ल का दृष्टिकोण एक विशेष सीमा तक अथवा विशेष अर्थ मे ही वस्तुवादी है—जहाँ तक उनका सबध रस की लौकिक स्थिति अथवा काव्य तथा समीक्षा की लोक मगलकारी भूमिका से है। लेकिन इन सबके मूल मे शुक्ल जी की भौतिकवादी नही बल्कि आदर्श-वादी दृष्टि की ही स्थिति है। भारतीय आदर्शवाद ही उनके साहित्य चिंतन को प्रमुख रूप से निर्देशित करता है पश्चिम का भौतिकवादी दर्शन नही, भले ही उनमे आदर्शवाद के साथ-साथ बुद्धिवाद का भी समावेश था। पश्चिम के मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों का भी उन पर यथेष्ट प्रभाव था—इसके अतिरिक्त उनमे आँख मूँदकर शास्त्रीय आदर्शों तथा परम्परागत मान्यताओ को स्वीकार करने की प्रवृत्ति भी न थी। अतः उनके चिंतन मे एक साथ हमे कई ऐसे तत्व दिखाई पडते हैं जो प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत भी समान रूप से वर्तमान है। उदाहरण के लिए उनकी लोक मगल विषयक दृष्टि को मार्क्सवादी चिन्तन की सामाजिक सोद्देश्यता मूलक दृष्टि से अभिन्न कह सकते है। उनके द्वारा प्रस्तुत कलावाद के विरोध मे भी मार्क्सवादी विचारको की तीव्रता है। इन यत्र तत्र लक्षित होने वाले सदृश तत्वो के आधार पर अगर हम चाहें तो डॉ० शर्मा को शुक्ल जी की परम्परा मे रख सकते हैं। लेकिन दृष्टि भेद तथा आदर्शों की भिन्नता के कारण इस प्रकार का स्थान निर्धारण अधिक वैज्ञानिक नही कहा जा सकता।

आचार्य शुक्ल के बाद डॉ० शर्मा ने छायावादी समीक्षको के अन्तर्गत अपने आदर्शों के समर्थन मे किसी अन्य विचारक को उद्धृत किया है तो वे हैं नन्ददुलारे वाजपेयी। प्रगतिवादी समीक्षा के प्रदेय के सबध मे तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य के नाम पर उठाये गये नये प्रयत्नो, जो मूलत स्वार्थ प्रेरित पश्चिम के अस्तित्ववादी सिद्धान्तो से परिचालित हैं, के सबध मे अपनी मान्यतायें प्रस्तुत करते हुए आचार्य वाजपेयी के दृष्टिकोण को विशेष रूप से उन्होंने उद्धृत किया है।[1] और सही अर्थों मे देखें तो आचार्य शुक्ल के पश्चात् आचार्य वाजपेयी ही हिन्दी समीक्षा को स्वस्थ सामाजिक तथा सास्कृतिक मूल्य से युक्त कर सके हैं। इन्होने भी आचार्य शुक्ल की भाँति बडी तीव्रता से व्यक्ति वैचित्र्यवाद तथा कलावाद के रूप मे विकसित प्रवृत्तियो की भर्त्सना की है। अत डॉ० शर्मा की समाजोन्मुख साहित्य-दृष्टि का इनसे प्रभावित होना स्वाभाविक है। लेकिन इस युग के अन्य समीक्षको तथा विचारको का जहाँ तक प्रश्न है—विशेष रूप से मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों से

---

१. पृष्ठ १२-१३—आस्था और सौन्दर्य।

अनुप्रेरित डॉ० नगेन्द्र तथा समन्वयवादी प्रवृत्ति से परिचालित श्री गुलाबराय के समीक्षा कार्य पर प्राय सर्वत्र ही बहुत सौजन्य के साथ प्रहार किया है। जहाँ तक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के संबंध में उनके अभिमत का प्रश्न है, वहाँ भी प्राय समान रूप से विरोधात्मक प्रकरण जुड़ा हुआ है। फिर भी आचार्य द्विवेदी के कई निष्कर्षों को डॉ० शर्मा ने यथेष्ट मान्यता प्रदान की है।

प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में भी डॉ० शर्मा का अपने सहयोगियों में पर्याप्त मतभेद है। उनके दृष्टिकोण और उनके अन्तर्गत व्यक्त उनके असंतोष तथा विरोध को प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। कुछ लोगों ने इसे आलोचना-प्रत्यालोचना ही कहकर एक विशेष सन्दर्भ में भी देखने का प्रयास किया है और सही अर्थों में देखें तो श्री शिवदानसिंह चौहान तथा श्री अमृतराय आदि के सबध में जो उन्होंने अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया है तथा उनके आदर्शों और साहित्यिक निष्कर्षों के सबध में जो मान्यतायें प्रस्तुत की हैं, तथा अपने ऊपर उनके द्वारा लगाये गये आरोपों का जिस रूप में इन्होंने उत्तर दिया है उनमें साहित्य समीक्षा के क्षेत्र की वस्तु न मानना ही विशेष उपर्युक्त है। वहाँ साहित्येतर भूमिका ही—वाद विशेष के अन्तर्गत परिसीमित विचारकों के राजनीतिक दृष्टिकोण ही विशेष रूप से ध्वनित हैं। जहाँ तक शिवदानसिंह चौहान की समन्वयवादी दृष्टि के सबध में उनके निष्कर्षों को हम देखते हैं वे अवश्य ही विचारणीय हैं। लेकिन अमृतराय आदि के सबध में व्यक्त उनके अभिमत विशेष साहित्यिक नही माने जा सकते।

नयी कविता के नये विचारको के सबध मे उनके आदर्श तथा साहित्यिक निष्कर्षों के सबध मे जो इन्होने अपना अभिमत प्रकट किया है, अवश्य ही हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे वह उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है। डॉ० जगदीश गुप्त की अर्थ की लय विषयक स्थापना के सबध मे उन्होने जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है[1] तथा श्री धर्मवीर भारती और लक्ष्मीकात वर्मा के कतिपय निष्कर्षों के सबध मे जो कुछ इन्होने मान्यतायें प्रस्तुत की है[2] उन्हे सिर्फ निषेधात्मक नही कहा जा सकता। उनके अन्तर्गत श्रेष्ठ साहित्य की प्राय. समस्त विशेषतायें लक्षित होती हैं—तथ्य की दृष्टि से ही नही विवेचन पद्धति की दृष्टि से भी।

---

१. पृष्ठ २३८-३९—आस्था और सौन्दर्य (अर्थ की लय और खडित गद्य—सं० समालोचक)

२. „ २१२-१३-१४—वही।

समीक्षा-शैली

समीक्षा-शैली की दृष्टि से विचार करने पर डॉ० शर्मा के विवेचन में नकारात्मक वृत्ति का ही प्राधान्य है। उनकी शैली को हम, आचार्य वाजपेयी के शब्द में 'वाद-विवादात्मक' अथवा Polymical की संज्ञा दे सकते हैं—वैयक्तिक आरोपप्रत्यारोप के साथ उसमें व्यंग्य का प्राचुर्य है, विरोधियों को मर्माहत कर देने की क्षमता है, लेकिन साथ ही साहित्यिक मर्यादा तथा सन्तुलन का अभाव भी है। इस अर्थ में उनकी समीक्षा-शैली को हम विशुद्ध रूप में साहित्यिक शैली की संज्ञा नहीं दे सकते।

फिर भी डॉ० शर्मा की शैली में एक प्रकार की विशेषता है, और वह विशेषता प्रगतिशील समीक्षकों में प्रकाश चन्द्र गुप्त के अतिरिक्त अन्य किसी में परिलक्षित नहीं होती और वह है उनकी सरलता। उनकी समीक्षा श्री गुप्त की ही तरह बिल्कुल स्पष्ट तथा सहज-ग्राह्य है। जिस सहजता के साथ डॉ० शर्मा ने मार्क्सवादी आदर्शों की साहित्यिक परिणति दिखाई है—वह इस धारा के अन्य समीक्षक नहीं कर सके हैं। कुल मिलाकर कहना चाहें तो सरलता तथा स्वच्छन्दता से युक्त डॉ० शर्मा जी की समीक्षा-शैली को हम प्रचारिता की शैली कह सकते हैं'—वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप तथा खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में जहां कहीं भी मुक्त है वहां वह पर्याप्त विचारोत्तेजक है। उनकी अन्तिम कृतियों में, विशेषतया, 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' तथा 'आस्था और सौन्दर्य' में, इस शैली का हम दर्शन करते हैं।

अध्याय ६

श्री शिवदानसिंह चौहान

हिन्दी समीक्षा मे प्रगतिशील आदर्शों की स्थापना का श्रेय जिन आलोचकों को प्राप्त है उनमे श्री शिवदानसिंह चौहान का विशिष्ट स्थान है। १९३७ मे प्रकाशित 'हिन्दी मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' विषयक उनका निबन्ध प्रगतिवाद के सबध मे प्रथम महत्वपूर्ण वक्तव्य कहा जा सकता है। उसमे वर्तमान साहित्य को पूंजीवादी प्रवृत्ति का परिणाम कह कर हिन्दी में मार्क्सवादी आदर्शों के विवेचन का पहली बार प्रयत्न किया गया है। डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र के अनुसार, 'उसके बाद से ही कविता वर्ग सघर्ष, पूंजीवाद के विरुद्ध जेहाद, शोषक-शोषण, ध्वसात्मक क्रान्ति की बात कर रही है।' 'हस' के सम्पादन-काल मे प्रगतिशील आन्दोलन के प्रसार मे भी श्री चौहान का महत्वपूर्ण योग रहा है। नूतन प्रतिभाओ को प्रकाश मे लाने के अतिरिक्त इस बीच इन्होने प्रगतिशील लेखको को सगठित करने का भी कार्य किया। हिन्दी मे प्रगतिशील आन्दोलन के विकास का प्रारभिक चरण 'हस' से होकर ही प्रकाश मे आया यह तो निर्विवाद है, लेकिन आगे चलकर वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप द्वारा प्रगतिशील लेखको के विघटन का बीज-वपन भी उसी के अन्तर्गत हुआ, इसमे भी कोई आशका नही। डॉ० रामविलास शर्मा तथा उनके अनुवर्तियो पर श्री चौहान द्वारा लगाये गये 'कुत्सित समाज शास्त्रीयता' के आरोप इस सबध मे विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। इस वैचारिक सघर्ष की परिणति 'हस' से श्री चौहान के सबध विच्छेद के रूप मे हुई। लेकिन इसके बाद भी प्रगतिवादी समीक्षक के रूप मे उनका स्वतत्र लेखन कार्य चलता रहा है और उन्होने अपनी समीक्षात्मक कृतियो के माध्यम से प्रगतिवादी समीक्षा धारा के विकास मे पर्याप्त योग दिया है। इनकी प्रमुख कृतियो को हम निम्नलिखित श्रेणियो मे वर्गीकृत कर सकते हैं—

(क) इतिहास—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष

(ख) साहित्य शास्त्र—आलोचना के सिद्धान्त

(ग) स्फुट समीक्षा कार्य—(व्या[illegible]

(क) इतिहास लेखन की पूर्ववर्ती परम्परा को अनैतिहासिक सिद्ध करते हुये श्री चौहान ने यह मान्यता प्रस्तुत की है—हिन्दी साहित्य का इतिहास केवल एक शताब्दी का ही इतिहास है।'[1] स्पष्ट ही हिन्दी साहित्य से यहाँ श्री चौहान का अभिप्राय खड़ी बोली के साहित्य से है। इस दृष्टि से उन्होंने 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष को' आधुनिक हिन्दी साहित्य का ही इतिहास नहीं समूची हिन्दी (खड़ी बोली) का इतिहास माना है। यों इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुये उन्होंने कहा है—'साहित्य के रूप में हिन्दी साहित्य सारा का सारा आधुनिक ही है—हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है।'[2]

'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष के अन्तर्गत इसीलिये उनका पहला प्रयत्न खड़ी बोली के उद्भव तथा विकास का संक्षिप्त निरूपण है। तत्पश्चात् श्री चौहान ने हिन्दी कविता को प्रवृत्त्यात्मक विकास की दृष्टि से—(१) पूर्व छायावाद-युग, (२) छायावाद युग और (३) उत्तर छायावाद युग के रूप में विभाजित करते हुये इन युगों में रचित साहित्य का विस्तार सहित विवेचन किया है। 'इस काल विभाजन' का श्री चौहान के अनुसार, 'छायावाद ही प्रमाण है। 'छायावाद-युग से पहले की कविता में किसी समय कोई एक ही प्रवृत्ति इतनी प्रभुत्वशाली और व्यापक नहीं हो पाई कि उसके नाम पर युग को अभिहित किया जाये।'[3] श्री चौहान के मत से, 'इस काल विभाजन का छायावाद प्रमाण इसलिये भी है कि पूर्व और पाश्चात्य की काव्य-धारायें और प्रवृत्तियाँ छायावाद से अन्तरंग रूप से संबंधित है।'[4] श्री चौहान का ऐतिहासिक विवेचन मूलतः साहित्य रूपों (कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध और कहानी) के स्वतन्त्र एवं परस्पर पृथक विकास पर आधारित है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन का यह स्वयं में एक नया उपक्रम है परन्तु इसे हम सर्वथा निभ्रान्त नहीं कह सकते। किसी भी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा का निर्धारण उसके समस्त रूपों अथवा अंगों को समाहित करके ही किया जा सकता है। साहित्य का इतिहास स्वयं में एक समन्वित इकाई होता है—उसके अन्तर्गत काव्य अथवा साहित्य के विभिन्न रूपों की स्वतंत्र स्थिति स्वीकार्य नहीं होती अन्यथा उसकी अखण्डता और समग्रता पर प्रश्न चिन्ह लगाया जा

१. द्रष्टव्य 'प्रस्तावना'—हिन्दी-साहित्य के अस्सी इवर्ष।
२ वही।
३. पृष्ठ २८—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष।
४. वही।

से प्रस्तुत उनके विचार नवीन महत्वपूर्ण हैं। यहाँ हम उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा के मूलभूत सूत्रों तथा उनकी व्यावहारिक समीक्षा की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का उपक्रम करेंगे।

सैद्धान्तिक समीक्षा

श्री चौहान की सैद्धान्तिक समीक्षा का आधार अन्य मार्क्सवादी विचारकों की तुलना में अधिक व्यापक तथा समन्वयमूलक है। मार्क्सवादी दृष्टि से प्रेरित होते हुए भी उनके विवेचन में साहित्य और कला के स्वतन्त्र आदर्शों का भी योग है। उनकी परवर्ती रचनाओं में समन्वयमूलकता का यह सिद्धान्त अधिक स्पष्ट है। काव्य और कला के उद्भव तथा विकास से सम्बद्ध उनकी प्रारम्भिक मान्यतायें सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी विचारक काडवेल के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। काडवेल की तरह उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि 'मनुष्य के भौतिक जीवन के विकास के साथ उसके मानसिक तथा भावात्मक जीवन में जो विकास हुए उनके स्पष्ट चिह्न कविता में भी अंकित होते गये और कविता का रूप भी, बदलता गया।' लेकिन परवर्ती रचनाओं में उनका सैद्धान्तिक विवेचन सामाजिक दृष्टिकोण के साथ ही सौन्दर्यमूलक दृष्टिकोण को भी स्वीकार कर अग्रसर हुआ। 'साहित्य की परख' 'आलोचना के मान' तथा 'आलोचना में सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य' शीर्षक निबन्धों में इस समन्वित आधार पर पर्याप्त बल दिया गया है। उनके द्वारा विवेचित साहित्य तथा समीक्षा के मूलभूत प्रश्न को उक्त दृष्टिकोण के सन्दर्भ में ही देखना उपयुक्त होगा।

काव्य का उद्भव तथा विकास

श्री चौहान के अनुसार, 'कविता के जन्म का इतिहास सामाजिक जीवन के विकास से प्रारम्भ होता है।' 'ऋतु-उत्सवों के गीतों में अर्ध-ऐतिहासिक समाज का सामाजिक तथा सामूहिक श्रम जो सबंध था, उसका भावपूर्ण चित्रण ही उनके मत से कविता का प्रारंभिक रूप है।[1] इन गीतों में, 'कोठियों अनाज और सुख-समृद्धि की कल्पना की जाती थी, केवल इसलिये कि फसल पैदा करने का श्रम मधुर बन सके, उसमें तत्परता और उत्साह भरा हो। कविताओं के उच्चारण का संबंध कलात्मक रूप से मनुष्य के कार्य के साथ रहता था और उसके पीछे मनुष्य की सामूहिक भावनायें निहित रहती थीं। इस प्रकार फसल के गीत से मधु-सिंचित कार्य चलता जाता था——।'[2] आर्थिक, सामाजिक

२९—प्रगतिवाद।

जीवन के विकास के साथ साथ मनुष्य की कल्पनाओं का भी संसार विस्
हो 'गढ़े कल्पना चित्रों को आगे दे रमाते' एक नयी उमंग के साथ प्रकृति के न
प्रदेशों पर विजय प्राप्त करता हुआ अग्रसर हुआ। श्रम-विभाजन के अनि
परिणाम के रूप में सभ्यता का उत्कर्ष तो पूर्ण हुआ लेकिन वर्ग-विभाजन
सामने आया और मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना समस्त समाज की आकांक्षा
को व्यक्त करने के बदले केवल शासक वर्ग की भावनाओं को ही व्यक्त क
लगी। श्री चौहान के शब्दों में—'शासक वर्ग के ध्रुव पर मानव-समाज
सम्पूर्ण चेतना केन्द्रीभूत हो गयी। कलाकार या कवि भी इसी ध्रुव पर मडर
रहे——। धीरे धीरे कला या कविता सामूहिक श्रम से विभिन्न, दूरस्थ हो
गई। कवि अकेला——व्यक्ति बन गया।"

साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता तथा प्रचार

काव्य तथा कला की सामाजिक सोद्देश्यता का प्रश्न मार्क्सवादी विचारकों द्वारा ही नहीं भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा से भी अनुमोदित है। प्राचीन काव्य शास्त्रियों में आचार्य मम्मट जैसे आदर्शवादी चिन्तक ने भी साहित्य के प्रयोजन के अन्तर्गत 'शिवेतरक्षतये' का आदर्श प्रस्तुत किया था। इसी प्रकार आधुनिक साहित्य समीक्षकों ने भी सामाजिक प्रयोजन मूल्यवत्ता को दृष्टिगत रखते हुए श्रेष्ठ कला के प्रतिमान निर्धारित किये हैं।

लेखक के दृष्टिकोण के माध्यम से ही कला में सामाजिक उद्देश्य के तत्वों की नियोजना होती है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि कला के अन्तर्गत सामाजिक प्रयोजन मूलक आदर्शों की स्थापना 'साहित्य कला के नियमों के अनुसार हो रहा है' अथवा 'जीवनहीन अस्वाभाविक या कलारहित' उपकरणों के माध्यम से। जहाँ तक कृति में लेखक के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, एँजेल्स ने बड़े स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया था कि कलाकृति के अन्तर्गत

---

१. पृष्ठ ८४—आलोचना के मान

२. पृष्ठ ९१—वही।

३. „ ९१—वही

लेखक का दृष्टिकोण जितना व्यग्र हो, वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ
होगी। यह रचनाकार की वैयक्तिक क्षमता पर निर्भर है कि वह अप
कृति के अन्तर्गत किस रूप में नियोजित कर रहा है — कलात्मक
अथवा तथ्य कथन के रूप में। स्थूल रूप में प्रचारात्मकता का प्रश्न दूस
में ही जुड़ता है।

मार्क्सवादी साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम लेनिन ने साहित्य को स
व्यवस्था का एक आवश्यक उपकरण मानते हुये घोषणा की 'साहित्य
का हथियार है।' चूंकि इस आदर्श की स्थापना साहित्य अथवा
स्वतंत्र मूल्यों से सर्वथा निरपेक्ष होकर की गई थी अतः इसका सामयिक
ही सम्भव था। जब किसी विशेष राजनीतिक दल की मान्यतायें सा
अनुशासित करने लगती हैं तब उसकी साहित्यिकता क्रमशः क्षीण पड़ने
है और उसका प्रचारात्मक रूप ही प्रत्यक्ष हो उठता है। श्री चौहान के अनु
से कला तथा साहित्य को एक शैक्षणिक उद्देश्य से युक्त कर दिया गया—कर
रूप से प्रचारात्मक होती गई।

लेकिन इस युग के मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य को जितनी
से समाज के आर्थिक धरातल से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध माना है उ
स्पष्टता से यह भी स्वीकार किया है कि कला में सामाजिक उद्देश्यों की
कला के प्रतिमानों द्वारा ही सम्भव है—राजनीति या दलगत आधारों पर
इस सन्दर्भ में श्री चौहान का यह कथन द्रष्टव्य है, 'हम लेखकों का
साहित्य 'सत्य' केवल मूर्त्त 'सत्य' पर ही आधारित होना चाहिए—असत
अतिरंजित, तिलस्मी या सनसनीखेज प्रचार जनवादी साहित्यकारों का
नहीं है। न राजनीतिज्ञों की तरह हमारे प्रचार का तरीका आँकड़ों और
अमूर्त विचारों से सिद्ध करना ही हो सकता है।'[१]

इस प्रकार श्री चौहान ने साहित्य को प्रचारात्मक मानते हुये भी
उत्कट भावना-प्रधान, कल्पनात्मक और कलात्मक रूप की अवहेलना नहीं
है, न उनका बहिष्कार को आवश्यक समझा है। उनकी दृष्टि में, प्रत्येक
[illegible]

परिवर्तन के लिये प्रेरित करना होता है।'[1]

जहाँ तक कला और साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता तथा उसके सविधायक पक्ष का प्रश्न है, अगर उसे कोई प्रचारात्मकता की सज्ञा देता है तो मार्क्सवादी विचारकों को यह आरोप स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है। कला और साहित्य को सामाजिक जीवन के निर्माण का उपकरण केवल उन्होने नही वरन् देश-विदेश के अन्य मान्य साहित्य-चितको ने भी माना है। उसकी प्रयोजन मूलकता की सिद्ध भी तभी संभव है जबकि उसका नियोजन कला के सौन्दर्य मूलक तत्वो की रक्षा करते हुये किया जाय। कला अथवा साहित्य के माध्यम से किया गया प्रचार भी तभी प्रभावपूर्ण होगा जबकि उसमे अभिव्यक्ति के माध्यम भी सशक्त हो। इसीलिए श्री चौहान ने कला की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते समय उसकी सौन्दर्यानुभूति, रूप-योजना, शैली और भाषा, वाक्य-रचना, शब्द-प्रयोग आदि पर भी विचार करना आवश्यक माना है। 'महान कला का जन्म', उनके अनुसार, 'तभी होता है जब जीवन्त तथा महत्वपूर्ण प्रोपैगैन्डा कलात्मक नैपुण्य के साथ किसी कला-विशेष के माध्यम द्वारा किया जाता है।[2]'

आलोचना के मान

सैद्धान्तिक स्तर पर श्री चौहान का सबसे महत्वपूर्ण कार्य उनका मूल्याकन विषयक विवेचन है। हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र मे आज जो एकागिता अथवा अराजकता की स्थिति परिलक्षित हो रही है उसके सन्दर्भ मे उक्त विवेचन का विशेष महत्व है। मूल्याकन विषयक एकागिता, श्री चौहान के अनुसार, प्रथमतः उस पूर्वाग्रह की देन है जो आलोचना के क्षेत्र मे वैयक्तिक रुचि तथा दलगत स्वार्थो के आधार पर विकसित होता है। चूंकि सकीर्ण और अनुदार विचारधारायें आज के आलोचक की रुचि को कुठित कर चुकी हैं अत व्यापक मानवीय मूल्यो के बदले कृति मे वह किसी पूर्व कल्पित मूल तत्व को खोजने में व्यस्त है, इसीलिये साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के सूत्र उसके हाथ से छूट जाते हैं। दलगत सबधो के आधार पर किये गये मूल्याकन का जहाँ तक प्रश्न है, श्री चौहान के शब्दों में—'वहाँ साहित्यक मानदण्ड और सत्य का आग्रह तो कोई है ही नहीं'—समीक्षक की तटस्थता भी सर्वथा निःशेष है।[3] परिणामतः,

१. पृष्ठ १५—प्रगतिवाद।
२. „ १५—वही।
३. „ ९—आलोचना के मान।

'दल विशेष से तटस्थ महान साहित्यिक कृतियाँ', उनकी दृष्टि मे, 'आज उस महत्व की अधिकारिणी नहीं है जिस महत्व का श्रेय दल-विशेष से संबद्ध निम्न कोटि की कृतियों को प्राप्त है।'[१]

मूल्यांकन विषयक एकांगिता का दूसरा कारण है—जगत और जीवन के प्रति समन्वित दृष्टिकोण का अभाव। आज का आलोचक साहित्य को समस्त जीवन के संदर्भ मे रखकर देखने में, असमर्थ हो जाता है, फलत. न तो कोई व्यापक दृष्टि ही दे पाता है और न कोई समर्थ साहित्यिक-सिद्धांत। वस्तुत. वह यह भी नही तय कर पाता कि किस सिद्धांत को माने और किस को न माने। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विशेष कारण की प्रवृत्ति के कारण ज्ञान का समन्वित रूप क्रमश अस्पष्ट होता जा रहा है—खड ज्ञान को ही सम्पूर्ण मानने का एक अस्वाभाविक उपक्रम चतुर्दिक प्रत्यक्ष हो उठा है। 'इसीलिये हर क्षेत्र मे,' श्री चौहान के मत से, 'अपने अनुसधान की विशिष्ट दुनिया को ही सबसे अधिक मूल्यवान मान बैठता है और अपने क्षेत्र की स्थापनाओ की अपेक्षा में सपूर्ण जीवन की व्याख्या करने लगता है।'[२] यह स्थिति आलोचक को एक प्रकार की कूप मडूकता की ओर अग्रसर कर रही है—जहाँ कृति के वास्तविक मूल्यों का विवेचन सभव नही।

आज के युग मे व्यक्तिवादिता की भावना इतनी प्रबल हो उठी है कि साहित्य-सिद्धान्तो की सामान्य उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया जा चुका है—कृति के आतरिक सामंजस्य का विश्लेषण ही आलोचक का मुख्य कर्त्तव्य हो गया है क्योंकि उसके लिये 'साहित्य की कोई बाह्य मर्यादा हो ही नही सकती, केवल आन्तरिक मर्यादा ही सभव है।'[३] अनुभूति तथा कृति की वैयक्तिकता अथवा विशिष्टता की भ्रांति मे पड़कर, 'सिद्धान्त स्तर की आलोचना, चौहान के शब्दो मे।'

के रीतिवादी मार्गों पर भटक गयी है।'[४] —जहाँ कृति का 'शुद्ध निजत्व' ही उसका अंतिम लक्ष्य है, सामाजिक जीवन पर पड़े हुये उसके प्रभाव का महत्व नही। अतः इस स्थिति के परिहार के लिये श्री चौहान ने साहित्य संबंधी भिन्न-भिन्न अन्तर्दृष्टियों का एक व्यापक साहित्यिक सिद्धान्त के अंतर्गत समाहार करके एक समन्वित दृष्टिकोण के विकास की आवश्यकता पर बल

---

१. पृष्ठ १०—आलोचना के मान।
२. „ २४— वही।
३. पृष्ठ २६— वही।
४. „ २७—वही।

किया है। साहित्यालोचन की दिशा में विकास और नव मूल्य के साथ उनके हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे तब इन विरोधी प्रवृत्तियों को परस्पर एकान्वित किया जाए।

साहित्यालोचन के व्यापक मूल्यों की स्थापना के लिये विभिन्न ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों का समाहार भी आवश्यक है—मानव चेतना की हर वस्तु का साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से विशेष महत्व है। श्री चौहान के मत से, साहित्यालोचन के उपयोगितावादी अथवा रीतिवादी प्रतिमान-जिनमें से एक का सम्बन्ध साहित्य के सामाजिक प्रयोजन और विषय वस्तु से है तथा दूसरे का साहित्य के सौन्दर्य पक्ष और रूप तत्व से, एकांगी अथवा आंशिक रूप का ही उद्घाटन कर सकते हैं। रूप तत्व सौन्दर्य के प्रतिमान अथवा वस्तुगत सामाजिक मूल्यों में सदैव परिवर्तन होता रहा है अतः इनमें से किसी एक सर्वांगीण सिद्धान्त के आधार पर कृति का मूल्यांकन नहीं हो सकता। अतः आलोचक अपने विवेचन क्रम में सौन्दर्य बोध और सामाजिक मूल्यों का यथा सम्भव समन्वयकारी रूप दे सकता है—परन्तु 'यह तभी सम्भव है जब विभिन्न विचारधाराओं द्वारा निरूपित रूपों को कोई वैज्ञानिक जीवन दर्शन की पद्धति एक सूत्र में बांधे अर्थात् द्वन्द्वात्मक पद्धति से ऐसा किया जाये। तभी एक सौन्दर्य मूलक सामाजिक दृष्टिकोण (Social Aesthetic) का विकास किया जा सकेगा और साहित्य की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित की जा सकेगी।'[1]

आलोचना में सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य

आलोचना के क्षेत्र मे, सौन्दर्य और सामाजिक मूल्य का प्रश्न साहित्य के रूपगत-सौष्ठव अथवा वस्तुगत सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध है।

कलावादी आलोचक रूपगत सौन्दर्य को ही साहित्यिक मूल्यांकन की कसौटी मानते हैं। उनके लिये साहित्य मे शब्द-प्रयोग, वाक्य-विन्यास, ध्वनि-सामजस्य तथा अलकार विधान आदि अभिव्यजना के तत्व ही प्रमुख हैं—किसी विशेष सामाजिक उद्देश्य की स्थिति नही। चौहान की दृष्टि मे, 'सौन्दर्य या उसकी अनुभूति से उत्पन्न होने वाला आनन्द एक ऐसी वस्तु है, जिसको मनुष्य के *कर्म-मय जीवन से अलग एक आभ्यतरिक सत्ता है।'*[2] *अत साहित्य से* मिलने वाला आनन्द या सौन्दर्यानुभूति ही उसका परम सत्य है। इसके विपरीत वस्तुवादी आलोचक साहित्य को मनुष्य के सामाजिक सबध उसके विचार तथा

---

१. पृष्ठ ३६—साहित्य की परख।

२. „ ४६—आलोचना के मान।

नैतिक और सामाजिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष में ही परखने का प्रयास करते है। उनके लिये साहित्य की सार्थकता केवल आनंद की उपलब्धि में ही नहीं है अपितु सामयिक मानवीय जीवन के अनुभव, उसके विचार तथा प्रतिक्रियाओ को वाणी देने मे है—क्योंकि चौहान के शब्दो में, 'साहित्य के मूल्य वस्तुतः जीवन मूल्यों से भिन्न या ऊपर नहीं हो सकते।'[1]

साहित्यालोचन की ये दोनों दृष्टियां एकांगी हैं और इनके आधार पर मूल्यांकन के प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता। किसी भी सफल कलाकृति मे रूपगत सौन्दर्य और वस्तुगत सामाजिक मूल्य एक दूसरे में पूर्णतः अन्तर्निहित होते हैं। इस संबंध मे श्री चौहान का यह कथन उल्लेखनीय है—'जो बाह्य जगत है, वह भाषा के सांचे मे ढलकर एक नयी मूर्तता प्राप्त कर लेता है, भाषा ही इस वस्तु की वाहक होती है, उसमे मानव-अनुभव, मानव-आचरण, मानव-विचार और मानव-प्रतिक्रियायें आदि सभी संगुम्फित रहती है।'[2] अतः इस तथ्य से अवगत होकर ही आधुनिक आलोचक 'भाव संस्कारी और चेतना विकासी' सौन्दर्य और सामाजिक मूल्यों को एक साथ समन्वित कर कला कृति का सम्यक् मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकता है और विश्व-साहित्य के अन्तर्गत उचित स्थान निर्धारित कर सकता है।[3]

प्रायोगिक विवेचन

श्री सुमित्रानंदन पंत

छाया-युग की वृहत्त्रयी मे सुमित्रानंदन पंत का काव्य श्री चौहान की साहित्यिक मान्यताओं के सर्वाधिक निकट है। उनके मत से, 'पंत जी सही अर्थों मे प्रगतिवादी विचारक हैं', अतः जीवन की वास्तविकता के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वाधिक 'सुस्पष्ट, व्यापक और जागरूक है।[4]' इसी आधार पर पंत के छायावादोत्तर काव्य-विकास का उन्होंने वस्तु परक तथा साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत किया है।

प्रथमतः, श्री चौहान ने छायावादोत्तर-काव्य की उन प्रवृत्तियों का विवेचन किया है जो पंत की प्रगतिवादी-कविता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्माण करने के साथ ही उनके स्वतंत्र महत्व का निर्देश भी करती हैं। छायावाद के अवतरण-काल में युगीन जीवन की असंगतियों, उसकी विषमताओं तथा

---

१. पृष्ठ ४७—आलोचना के मान।
२. „ ५१-५२, वही।
३. „ ५२, आलोचना के मान।
४. „ ११८— वही।

विडम्बनाओ के कारण हिन्दी कविता पराजय, कुंठा और आत्म-समर्पण की भावना मे डूब गयी। परन्तु 'विश्वक्रांति की शक्तियो के प्रचण्ड-वेग' तथा 'शोषित-श्रमिको के तुमुल घन-नाद' के मध्य छायावादी कवि अधिक दिनो तक चेतना शून्य न रह सका। परिणाम स्वरूप, छायावादी काव्य मे दो परस्पर विरोधी स्वर एक साथ गूंज उठे—जीवन की निस्सारता मे ही आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने वाला तथा क्रान्ति की उग्णता से भयभीत कवि-वर्ग प्रतिक्रियात्मक भावनाओ की अभिव्यक्ति करने लगा जिनमे अधिकार-वंचित जनता के भग्न स्वप्न थे, संदेहो तथा संशयो का घना अंधकार था। परन्तु इसके विपरीत क्रान्ति की आकांक्षाओ मे वशीभूत प्रगतिशील धारा भी प्रवाहित हो चली थी जिसमे भविष्य के स्वर्णिम प्रभात का चित्र था, श्रमिकों तथा शोषित जनता के मुक्ति-गीत थे।

परन्तु क्रांति की आकांक्षाओ की अभिव्यक्ति करने वाली काव्य-धारा भी श्री चौहान के अनुसार, दो भागो मे प्रवाहित हुयी—एक का नेतृत्व भगवती-चरण वर्मा और दिनकर आदि कर रहे थे और दूसरे के एक मात्र प्रवर्तक-समर्थक पंत थे।[१] भगवती चरण वर्मा तथा दिनकर की कविता मे क्रान्तिकारी स्थलो का अद्भुत सन्निवेश है, वर्तमान जीवन के 'हाहाकार-उत्पीडन' को समाप्त कर देने की प्रबल कामना है—किन्तु ये समस्त अन्तर्वृत्तियाँ क्रान्ति के विध्वंसात्मक रूप को ही प्रकट करती हैं—भविष्य के रचनात्मक स्वप्न तथा नव जीवन की रूपरेखा उसमे अत्यंत सूक्ष्म तथा अगोचर है। इनके विपरीत पंत की क्रान्ति भावना मे नव-निर्माण की रूपरेखा समायी हुयी है, उसमे भावी संस्कृति के सृजन की अशेष आकांक्षा है जो क्रान्ति के पश्चात् आनेवाली मानवता की सुखद प्रतिध्वनि है। 'पंत की 'युगवाणी', और 'ग्राम्या' की कविता' चौहान के शब्दो मे, 'साहित्य मे भविष्यवाद की कविता है।'[२] इन रचनाओ मे पंत ने छायावादी सौन्दर्य प्रियता तथा रहस्यवादी शैली का बहिष्कार करते हुये क्रान्ति का स्वरूप गढ़ा है। रूसी समाजवादी क्रान्ति के अवसर पर इसी प्रकार के भविष्यवाद कविता का विकास हुआ था जिसमे तत्कालीन समाज के निम्न वर्ग को भविष्य की सुखद कल्पना का स्वप्न बाँटा गया था, जीवन मे आने वाले सुन्दर समय की गाथा गाई गई थी। पंत जी की ये कृतियाँ 'मांसल-रक्तिम कला' से अभाव ग्रस्त हैं फिर भी उनमे 'नूतन बौद्धिक कल्पना' का पर्याप्त प्रस्फुटन है।[३]

---

१ पृष्ठ ५३—प्रगतिवाद।
२. " ६१— वही।
३. " ६१—वही।

'युगवाणी' के अन्तर्गत कवि की जीवन-दृष्टि के नये आयाम परिलक्षित होते हैं—आदर्शवादी नीड़ से निकलकर साम्यवादी विकास-पथ पर जाने का संकल्प है। इसमे पत जी 'गुजन' की उस भूमिका से पृथक है जिसमे जीवन-वैषम्यो के मूल कारणों की चेतना के अभाव में उनकी दृष्टि सुख और दुःख की नित्यता पर टिक गई थी और इन दोनो के परस्पर सामजस्य की पूर्ण चेष्टा की गई थी। अब उनके समक्ष नयी मानवता की रचना के लिये नवीन सस्कृति की रूप रेखा स्पष्ट हो गई है जिसमें 'मृत आदर्शों का बंधन न होगा, रूढ़ि और रीति की आराधना न होगी, उसमे मनुष्य श्रेणी-वर्ग मे विभाजित न होगे और न धन बल से जन-श्रम शोषित होगा।' श्री चौहान के अनुसार, 'पत की नव-सस्कृति की व्यजना अतिशयोक्तियों या वर्तमान के तिरस्कार पर ही अवलंबित नही है, वरन् उसनें नव-सस्कृति की रचनात्मक विशेषताओं की छवि भी मौजूद है।'[१] इस प्रकार पंत जी ने वर्तमान वर्ग मूल्यों के आधार पर नये मानव-मूल्यो की कल्पना की है जो सौन्दर्य तत्व की उपेक्षा न करते हुये भी अधिक व्यापक और सर्वजन सुलभ होगे।

फिर भी जैसा कि उन्होने कहा है—'पत की 'युगवाणी' की कविता यूटोपियन है।'[२] उनके अतिरिक्त अन्य प्रगतिवादी समीक्षको ने भी पत की इन कविताओ [illegible] इस अभाव की ओर दृष्टिपात किया है। नवीन सस्कृति तथा समाज के अन्तर्गत एक उच्चादर्श पूर्ण जीवन की कल्पना के रजत पंखो पर उड़ना छोड़कर काव्य के अन्तर्गत अपने सिद्धान्तों की कलात्मक सुनियोजना नही कर सके हैं, उसमे साहित्यिकता के सूत्र समाप्त हो गये हैं। युगवाणी का दूसरा अभावात्मक पक्ष उसमें यथार्थवादी शैली की अनुपस्थिति है। श्री चौहान के अनुसार, छायावाद की आदर्शवादी शैली के माध्यम से हिंसा, क्रूरता, बर्बरता तथा नये समाज के विकास की बहुमुखी चेतना के स्वर नहीं फूके जा सकते क्योंकि ये जीवन की वास्तविकतायें हैं। और छायावादी शैली इस वास्तविकता की कठोरता का प्रहार नही सह सकती। अतः 'पत की कविता में' जैसा कि उनका कथन है,—'एक ओर ऐतिहासिक विकास की आवश्यकता है—वह है आधुनिक वास्तविकता के अनुकूल ही छायावाद की टेकनीक के उत्कृष्ट गुणो से विकसित एक नयी यथार्थवादी शैली का विकास।'[३]

---

१. पृष्ठ ६२—प्रगतिवाद।
२. " ६९—वही।
३. पृष्ठ ७१—प्रगतिवाद।

आचार्य शुक्ल

श्री शिवदानसिंह चौहान ने आचार्य शुक्ल को 'युगविधायक' आलोचक की संज्ञा दी है। उनके शब्दों में, 'पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के साहित्याकाश में अपनी ओजस्विनी प्रतिभा से सूर्य के समान प्रकाशपूर्ण हैं जिनकी अपेक्षा में हिन्दी-साहित्य अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर रहा है।' शुक्ल जी द्वारा प्रारंभ किये गये कार्य को सम्पूर्ति देने का दायित्व निभाने के लिये उनकी आलोचनात्मक चेतना निरन्तर सजग और प्रयत्नशील है।

आलोचना के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि श्री चौहान के मत में एक गंभीर शास्त्रीय समीक्षा-शैली का निर्माण है जो विचारात्मक तथा गवेषणात्मक होने के कारण, उस युग तक की समस्त समीक्षा-शैलियों से अधिक प्रौढ़, सबल और परिष्कृत थी। उन्होंने सर्वप्रथम प्राचीन भारतीय लक्षण ग्रन्थों की परंपरा, जो युग के प्रवाह में खो चली थी, का अनुसंधान किया और उसके आधार पर साहित्य सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन भी प्रस्तुत किया।[1] संस्कृत और अंग्रेजी की समीक्षा-पद्धति का समन्वय करते हुये आचार्य शुक्ल ने जिस समीक्षा की नींव डाली उसका अपना विशिष्ट महत्व है। शुक्ल जी की प्रखर समीक्षा दृष्टि तथा 'भारतीय साहित्य और संस्कृति में उनकी गहरी पैठ' की चर्चा करते हुये श्री चौहान ने जायसी, सूर और तुलसी की समालोचनाओं को उनके गंभीर पांडित्य का प्रमाण माना है, साथ ही उन्होंने यह भी मुक्त कंठ से स्वीकार किया है, 'इन कवियों की कृतियों का मूल्यांकन करते समय शुक्ल जी ने उनके समकालीन समाज का भी विशद वर्णन कर यह पहली बार प्रतिपादित किया कि कवि या कलाकार अपने समाज से अविच्छेद्य रूप से संबद्ध है और उसकी कृतियों में उसके मानस पर पड़ी समाज की प्रतिक्रिया का ही प्रतिबिंब रहता है।'[2]

आलोचना के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी आचार्य शुक्ल ने श्री चौहान के शब्दों में 'हिन्दी भाषा को स्वस्थ और जीवन-विधायक साहित्य देकर उसे गौरवास्पद बनाया है।'[3] इस दृष्टि से उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सबसे महत्वपूर्ण और प्रामाणिक कार्य कहा जायेगा। इस कृति में उन्होंने अनेक प्राचीन कवियों के [illegible] करते हुये 'हमारी काव्य परंपरा को

विवच्छृङ्खलित कड़ियों को एक सम्बद्धता और तारतम्यता प्रदान की है।'[1] यही नहीं उनकी पुस्तक 'चिन्तामणि' में संग्रहीत क्रोध, करुणा, उत्साह, घृणा, श्रद्धा आदि भाव तथा मनोविकार संबंधी निबंध उनकी मौलिक तथा सर्जनात्मक-प्रतिभा का प्रमाण देते हैं साथ ही उनके गंभीर और व्यापक अध्ययन की रूप रेखा का निर्धारण भी। इस सन्दर्भ में उनका यह वक्तव्य महत्वपूर्ण है—'ये लेख प्रतिपादन की शैली और सूक्ष्म पर्यवेक्षण में बेकन और कार्लाइल के लेखों की कोटि में आते हैं। उनमें इनकी भाषा इतनी सबल, साहित्यिक और स्फूर्तिदायक है कि उनके प्रति अनायास ही श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो जाता है।'[2] इन निबंधों के माध्यम से शुक्ल जी के भाषाशास्त्र की मर्मज्ञता पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इनकी समस्त रचनाओं में भाषा-विषयक प्रयोग इतने विशिष्ट संतुलित तथा अर्थ-गौरव से पूर्ण हैं कि 'किसी शब्द के स्थान पर उस का यथार्थवाची शब्द कभी उपयुक्त नहीं हो सकता' और इसीसे, श्री चौहान के अनुसार, 'उनकी जागरुकता और महिमा का प्रकाश है।'[3]

अपनी इन समस्त महत्वपूर्ण उपलब्धियों के बावजूद शुक्ल जी की आलोचना पद्धति की कुछ उल्लेखनीय सीमाएं भी हैं। श्री चौहान ने उनकी साहित्य-समीक्षा में 'एक अवैज्ञानिक आस्थामूलक नीतिमत्ता और वर्णाश्रम धर्म की आदर्शवादिता की अपेक्षा के साथ-साथ प्रवृत्ति-निरूपक मनोविज्ञान के आश्रय पर आधुनिकता का पुट' देने का प्रयास भी देखा है। इसके अतिरिक्त मानव जीवन की प्रत्येक क्रिया, भाव-दशा और रुचि के अंतर्गत एक-एक प्रेरक-प्रवृत्ति की स्थापना कर उन्होंने साहित्य की परिकल्पना को संकुचित तथा स्थिर बना दिया है। शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित 'साधारणीकरण' और 'लोकमंगल' के साहित्यादर्शों की कल्पना को श्री चौहान ने 'अत्यंत संकुचित' और 'अवास्तविक' माना है।[4] अपने साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा शुक्ल जी 'प्रत्येक अनुभ में अन्तर्भूत अथवा व्यक्त, विशिष्ट और सामान्य सापेक्ष, सत्य और सौन्दर्य क द्वन्द्वात्मक अन्विति का आकलन करने का कोई व्यापक प्रतिमान' स्थिर न कर सके हैं।[5] इसी प्रकार उनकी 'लोकमंगल' की भावना भी इत आध्यात्मिक तथा धर्म और अन्धविश्वास से ग्रस्त है कि आज के भौति

---

१. „ ६८—साहित्य को परख
२. „ ६८—वही
३. „ ६९—वही
४. ७—वही
५. पृष्ठ ८—वही

विचार धारा में वह अधिक सन्तुलित अथवा "त्रिकालदर्शी सत्य' नहीं मानी जा सकती।[1]

श्री पृथ्वीनाथ पुष्प ने चौहान की इस धारणा का कि 'शुक्ल जी ने अपनी तर्क-शून्यता और दुराग्रह को ढाँकने के लिये अनपेक्षित पांडित्य-प्रदर्शन का आश्रय रखा' खण्डन करते हुये कहा है—'यद्यपि उनका यह दोषारोपण युक्ति युक्त नहीं फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि शुक्ल जी ने क्रोचे के सौन्दर्य-सिद्धान्तों की मनोनुकूल व्याख्या की और आई० ए० रिचर्ड्स के वाक्यों द्वारा भारतीय लक्षण ग्रन्थों की स्थापना का ही समर्थन करवाया।' फिर भी आचार्य शुक्ल की समस्त उपलब्धियों को दृष्टिगत रखते हुये उनके देहावसान के अवसर पर, उस स्थान की निकट भविष्य में पूर्ति की आशा न रखते हुये श्री चौहान ने जो श्रद्धांजलि अर्पित की है उसके ये शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—"रात्रि के घने अंधकार में अनेक टिमटिमाते दीपकों के बीच प्रखर ज्योति से जलते हुए एक विद्युत गैस की चमकती रोशनी में बैठकर हम निविड़ अंधकार के घनत्व को भूल सा जाते हैं। किन्तु जब गैस अचानक बुझ जाता है, तो सहसा हमारी आँखों तले चारों ओर से घेर कर आत्मा को आच्छादित कर देने वाला अंधेरा हो जाता है, यद्यपि अनेक दीए अपनी लौ हिला-हिलाकर कर अंधकार धारा को चीरते हुए क्षीण प्रकाश की रश्मियाँ वातावरण में फैलाते रहते हैं, और जैसा तैसा प्रकाश बनाये भी रखते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हठात् देहावसान से हिन्दी भाषियों के नेत्रों के आगे ऐसा ही अंधकार छा गया।[2]

जैनेन्द्र

अपनी व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत श्री चौहान ने जैनेन्द्र कुमार को 'प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दूसरे सबसे श्रेष्ठ उपन्यासकार' के रूप में मान्यता दी है साथ ही विषय-वस्तु, शैली, प्रवृत्ति, भाषा तथा अन्य सभी दृष्टियों से उन्हें प्रेमचन्द से भिन्न और मौलिक माना है।[3] प्रेमचन्द की अपेक्षा जैनेन्द्र का कार्य क्षेत्र सीमित और आभ्यंतरिक जीवन से सम्बद्ध है क्योंकि उन्होंने 'समग्र देश और उसके सर्वत्र फैले ग्रामों' से हटकर 'नगरों की गलियों में बसने वाली शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों के भीतर व्यक्ति जीवन में उठनेवाली

---

१. पृष्ठ ८—साहित्य की परख
२. पृष्ठ ६५,—साहित्य की परख।
३. " १४९,—हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष।

मनोवैज्ञानिक समस्याओं को' ही कलात्मक अभिव्यक्ति दी है ।[1] फिर भी जहाँ तक भाषा और शैली का प्रश्न है, श्री चौहान की दृष्टि में उन्होंने अपने उपन्यासों में संक्षिप्त कथन की चुस्ती और तीव्र मार्मिकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यास पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को आधारभूत मानकर लिखे गये हैं 'परख' के अन्तर्गत श्री चौहान के शब्दों में,— 'भौतिक सीमाओं से उठकर अफलातूनी आध्यात्मिक आदर्श भावना के प्रेम' की व्यंजना है जो अपने साथ नारी जीवन की विवशता का करुण चित्र सग्रथित किये हुये है ।[2] परन्तु 'सुनीता' उनके अनुसार, 'आध्यात्मिक आदर्श भावना के आवरण में वेष्टित रचना नहीं है' अपितु 'उसमें मानवीय दुर्बलताओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है ।'[3] हरि प्रसन्न और सुनीता साधारण स्तर के पात्र नहीं हैं—सुनीता के समक्ष एक अन्तर्द्वन्द्व है—'एक ओर पुरानी मान्यतायें पाव पकड़ती है दूसरी ओर हृदय की लालसायें नये अनुभव की उत्तेजनाओं का रस लेने को ढकेलती है ।'[4] त्याग पत्र को चौहान जी ने यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चरित्र चित्रण की दृष्टि से एक श्रेष्ठ उपन्यास कहा है । उसमें मृणालका चरित्र सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध एक संघर्षात्मक स्थिति का सूचक अवश्य है किन्तु उपन्यास की परिणति उसके दारुण अन्त में ही परिलक्षित होती है ।

इन सब के अतिरिक्त जैनेन्द्र के उपन्यासों में एक अभाव है—और वह अभाव श्री चौहान के मत से 'रहस्यात्मकता या दुरुहता का आभास' है जिसके कारण 'जीवन एक अनबूझ पहेली बन जाता है' और किसी भी समस्या के समाधान के प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत भी नहीं मिलते ।[5] उनके अनुसार जैनेन्द्र सामाजिक परिस्थितियों को यथावत स्वीकार कर लेते हैं और आत्मपीड़ा में ही सुखतलाश करके एक दुःसाध्य आध्यात्मिक सामंजस्य की टोह करते हैं ।'[6] फिर भी जैनेन्द्र की उपलब्धि जीवन के कतिपय मौलिक प्रश्नों को वाणी देने में है जो उनकी साहित्यिक देन की स्थायिता का आधार भी है ।

---

१. पृष्ठ १६०, हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष ।
२. ,, १६०—वही ।
३. ,, १६०,—वही ।
४. ,, १६०,—वही ।
५. ,, १६१,—वही ।
६. ,, १३१—वही ।

यशपाल

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथा-साहित्य मे, श्री चौहान के मत मे, 'यशपाल का कृतित्व असाधारण महत्त्व का है।'[1] समाजवादी आदर्शों से अनुप्रेरित उनके उपन्यास और कहानियो ने हिन्दी कथा साहित्य के अन्तर्गत जनवादी प्रवृत्तियो के प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सामाजिक जीवन की मान्यताओ पर प्रश्न चिन्ह अकित करते हुये उन्होंने श्री चौहान के शब्दो मे, 'युग जीवन और उसके सघर्षो को आकलित करने का प्रयत्न किया है।'[2] सामाजिक जीवन की शोषणता और यथार्थता के मध्य स्थित मनुष्य के विचारो और कर्मो मे सामजस्य के सूत्र टूट गये हैं—व्यावहारिक जगत मे उसके उच्चादर्शो का निरन्तर स्खलन परिलक्षित हो रहा है। ऐसी स्थिति मे यशपाल के उपन्यास समाज के उस द्वैत का वैविध्यपूर्ण चित्रण करते है जो आधुनिक मनुष्य के विचार और कर्म मे पैदा हो गया है और जो वस्तुत वर्ग समाज के वैषम्य का ही मानव-सबधो पर पडा प्रभाव है।' व्यग्य का आश्रय लेते हुये अतिवादी आग्रह अवश्य जुड गया है परन्तु फिर भी उन्होंने आधुनिक जीवन की मौलिक समस्या का उद्घाटन किया है।

यशपाल ने चूकि अपनी कथा-वस्तु का आधार ऐसे पात्रो को बनाया है जो वर्तमान समाज की विकृतियो मे पीडित और व्यावहारिक जगत की यथार्थता से अभिशप्त है, अत श्री चौहान के मत से, यह भ्रम पैदा होना स्वाभाविक है कि वे मानव-प्रकृति को अधम और शिश्नोदर सबधी स्वार्थों तक ही सीमित मानते है। इस भ्रम का एक मात्र आधार उनके पात्रो मे स्वस्थ मन स्थिति का अभाव है—जिससे उनके सबधो की सारी कलुषता और अमानवीय स्थितियाँ प्रत्यक्ष हो गयी हैं—'उनके रचेपात्रो मे निगेटिवपात्र अधिक है, पाजिटिव पात्र कम।'[3] प्रेम, वासना और क्षुधा के मध्य उनके पात्रो मे उत्थान और पतन की अनेक स्थितिया है जो जीवन के एकाकी सत्य का ही स्पर्श कर सकी हैं। फिर भी वर्तमान पूँजीवादी समाज के अन्तर्गत व्याप्त प्रेम के विकृत और व्यावसायिक पक्ष का उद्घाटन करता हुआ यशपाल का व्यक्तित्व हमारे मन मे समाज की इस अवस्था के प्रति विद्रोह जगाता है—उसको यथार्थता का नग्नरूप दर्शाता है। यह उनकी कला का निर्माणात्मक

---

१. पृष्ठ १३१—आलोचना के मान।
२. „ १३१—वही।
३. „ १३३—वही।

अथवा संविधायक पक्ष है और श्री चौहान के अनुसार, 'यही उनकी सफलता का प्रमाण भी ।'[१]

अज्ञेय

श्री चौहान के अनुसार, 'अज्ञेय' का 'शेखर एक जीवनी' 'गोदान' के बाद सबसे महत्वपूर्ण और कलात्मक उपन्यास है।'[२] इस उपन्यास के अन्तर्गत लेखक ने मनोवैज्ञानिक धरातल पर एक ऐसे व्यक्ति का अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसके चरित्र की रेखायें कृत्रिम रूप से अतिरंजित और यान्त्रिक हो गई हैं। शेखर का व्यक्तित्व सामाजिक जीवन की भूमिका से नितान्त पृथक है—बल्कि कहा जा सकता है कि वह, 'आज के समाज का प्राणी होकर भी, लेखक द्वारा असाधारणता का गौरव प्रदान करने के सारे कलात्मक प्रयत्नों के बावजूद भी असामाजिक और विक्षिप्त है।'[३] उसके अन्तर्गत व्यक्तिवादिता का ऐसा चरम विकास नियोजित किया गया है कि वह जीवन-क्रिया की धारा का अंग न होकर 'स्वनिर्मित नियमों से परिचालित है।' शेखर में सामाजिक असंगतियों और विषमताओं के विरुद्ध क्रान्ति की सच्ची चेतना का अभाव है—जिसकी ओर संकेत करते हुये श्री चौहान ने कहा है—'शेखर अपनी चेतना से असंतोष और संघर्ष का ज्वालामुखी है, लेकिन संघर्ष के सारे मन्सूबे बनाने के बाद भी वह संघर्ष से पलायन कर जाने में ही सफल होता है।'[४] यह पलायन इस बात का सूचक है कि आधुनिक पूंजी जीवी लेखक सामाजिक परिस्थितियों की विषमता से हार बैठा है और उसे पलायन में ही सुख मिलता है। परन्तु जैसा कि श्री चौहान ने कहा है—'पलायन का साहित्य और चाहे जो हो, प्रथम कोटि का साहित्य नहीं हो सकता।'[५] इसी प्रकार अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' भी सामाजिक मूल्यों से विच्छिन्न होकर 'शैली और अभिव्यक्ति की कृत्रिमता' के साथ प्रस्तुत हुआ है। उसके पात्रों के साथ भी पाठक साधारणीकृत नहीं हो पाता क्योंकि व्यक्तिवादिता का वर्ण्य वहाँ भी अधिक प्रगाढ़ है। इस संबंध में श्री चौहान का यह कथन उल्लेखनीय है—'अज्ञेय अस्तित्व रक्षा के लिये वर्तमान जीवन की विच्छृङ्खलता को ही सत्य मानकर उसके साथ तादात्म्य

१ पृष्ठ १३३-३४,—प्रगतिवाद।
२. " १४७—वही।
३. " १४८—वही।
४. " १४८—वही।
५. " १४९—वही।

स्थापित कर सके हैं, लेकिन युग सत्य विच्छृङ्खलता नही, उसके बीच से जन्म लेने वाली मनुष्य के उज्ज्वल भविष्य की संभावना है।'[1]

फणीश्वरनाथ रेणु

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य मे सबसे महत्वपूर्ण प्रदेय फणीश्वनाथ रेणु का है। राजनीतिक पूर्वाग्रहो तथा वैयक्तिक रुचियो से ग्रस्त हिन्दी के आलोचना जगत मे व्याप्त एकांगिता और अराजकता का उल्लेख करते हुये श्री चौहान ने उनकी कृति 'परती - परिकथा', को हिन्दी का सर्व श्रेष्ठ उपन्यास घोषित किया है।

किसी विशेष मतवादी आग्रह से तटस्थ और निलिप्त होकर रेणु ने स्वतंत्रता के पश्चात् जमींदारी उन्मूलन और भूमि के पुर्नविभाजन की पृष्ठभूमि पर भारतीय ग्राम्य जीवन का यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत किया है। 'परती परिकथा', चौहान की दृष्टि मे, 'इस युग का महाकाव्य है' क्योंकि 'रेणु ने शेक्सपियर के बारे मे कहे गये कार्लाइल के शब्दों मे कुदरत को आईना दिखाया है।[2]' इसमे तत्कालीन जीवन की प्रवृत्तियों के वैयक्तिक, सामाजिक एव राजनीतिक चित्रो का तटस्थ किन्तु यथार्थ-मूलक अकन है। भारत के अविकसित ग्रामीण जीवन के आचरण और विश्वास, उनका रुढि जर्जरित जीवन तथा आकांक्षाओ और सकल्पो का विराट सघर्ष रेणु की लेखनी से मुखरित हो उठा है। इस जीवन के प्रति लेखक की दृष्टि भी आस्थापूर्ण ही कही जायेगी क्योंकि उसकी समस्त कल्पना का सूत्राधार श्री चौहान के शब्दो मे, 'निराशा नहीं बल्कि आधुनिक युग की विकासोन्मुख चेतना है।[3]'

रेणु की दृष्टि यथार्थवादी होने हुये भी मानववादी भावभूमि से भिन्न नहीं है। इस सबध मे उनका यह कथन दृष्टव्य है, 'परती परिकथा का लेखक यथार्थवादी है।' आधुनिक युग के अनास्थावादी लेखकों ने साहित्य के अन्तर्गत जिस 'सांस्कृतिक सकटो और मानवमूल्यो के विघटन' के सूत्रों का निर्माण किया है अथवा समाज की जीवन धारा से अनास्था के स्वर भरे हैं, 'रेणु ने उसका अभिषेक करके पुन साहित्य के सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया है।[4]'

---

१. पृष्ठ १०८—साहित्य की समस्यायें।
२. " १४—आलोचना के मान।
३. " १४—वही।
४. " १४—वही—

अमर्यादावादी लेखको ने जिस रूप मे इस युग के मनुष्य मे 'बौनेपन' की स्थिति मानी है अथवा उसके शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक बाँद की लघुता का अनुमान किया है, 'परती परिकथा' के लेखक ने इस भ्रामक धारणा का खडन किया है। जैसा कि श्री चौहान ने कहा है—'परती : परिकथा, के पात्र छोटे है पर बौने नही, क्योंकि उनके क्रोध और प्रेम के आवेग तुच्छ नहीं हैं. अकेले जित्तन मे शरत् के सव्यसाची, रवीन्द्र के गौर मोहन और प्रेमचन्द के सूरदास का अदम्य साहस और व्यक्तित्व है।'[1] आज पाश्चात्य जगत के उपन्यासकारो ने जिस प्रकार मनुष्य के नायकत्व का बहिष्कार करते हुये परिस्थितियो और बाह्य या आन्तरिक घटनाओ के आधार पर उपन्यासों की जो नीव खड़ी की है, रेणु ने एक क्रान्तिकारी उपन्यासकार की भाँति 'परती : परिकथा' मे उसी मानव की स्थापना की प्रबल चेष्टा की है। श्री चौहान ने रेणु की इस स्वतन्त्र महत्ता पर प्रकाश डालते हुये कहा है—'परती . परिकथा' एक घोषणा है—सभी तरुण लेखको को प्रेरणा देने वाली—कि प्रतिभावान कलाकार की सर्जना आज भी कल्पना के पखो पर चढकर अग-जग के छोर नाप सकती है—बौनापन उसकी नियति नही है।[2]

समीक्षा दृष्टि

श्री शिवदानसिंह चौहान की समीक्षा-दृष्टि उत्तरोत्तर विकसित होती गयी है। इनकी प्रारम्भिक कृति मे वह मार्क्सवादी दर्शन से सबलित तथा काडवेल के समीक्षादर्शों से अनुप्रेरित है लेकिन परवर्ती कृतियो में उनका मार्क्सवादी आग्रह बहुत कुछ शिथिल पडता गया है। केवल सामाजिक सदर्भ मे की गई समीक्षा को वे एकागी अथवा अपर्याप्त मानते हैं इस का उन्होंने अपनी परवर्ती कृतियो मे सौन्दर्य मूलक विवेचन पर भी पर्याप्त बल दिया है। सामाजिकता तथा सौन्दर्य मूलकता—इन दोनो का समन्वित रूप ही जिसे उन्होंने 'साहित्य की परख' शीर्षक निबन्ध में की सज्ञा दी है काव्य तथा कला के विवेचन का सम्यक् और समग्र आधार बन सकता है। मात्र सामाजिकता पर आधारित अथवा कार्य-कारण दृष्टि की सज्ञा दी है—डॉ॰ रामविलास शर्मा की समीक्षा के सम्बन्ध मे उनका यही मुख्य आरोप है। लेकिन उसकी समन्वयवादी दृष्टि का जो नूतन स्वरूप सामने आया है उसमे उनकी मार्क्सवादीचेतना स्खलित सी दीखती है पत जी के काव्य दर्शन की प्रशसा करते हुए

1 ... आलोचना के मान।

उन्होंने भी मार्क्सवाद के साथ आध्यात्मवाद के संबंध स्थापना पर बल दिया है। स्वयं मे ये ऐसी विपरीत स्थितियाँ हैं जिनके समन्वय की कल्पना वस्तुतः की ही नही जा सकती।

फिर भी उनकी नूतन समीक्षा दृष्टि को, जिसमे कला तथा सौन्दर्य के लिए पर्याप्त आग्रह है हम डॉ० शर्मा की तरह कलावादी नही कह सकते। उन्होंने अपनी नव्यतम कृति—'आलोचना के सिद्धान्त' में भी ध्वनिवादी प्रवृत्ति की कटु आलोचना की है। 'साहित्यकार की आस्था' विषयक उनका निबन्ध इस तथ्य का द्योतक है। सामाजिकता के साथ कलात्मक चेतना के समाहार को लक्ष्य करते हुए ही डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने उनके तथा आचार्य वाजपेयी ने समीक्षात्मक दृष्टिकोण मे एक प्रकार के सामजस्य की परिकल्पना की है। श्री चौहान की समीक्षा पद्धति अन्य प्रगतिशील समीक्षकों की तुलना में अधिक संयत तथा संतुलित है। उनके कुछ निबन्धों मे वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप की शैली भी लक्षित होती है लेकिन उनकी अधिकांश रचनाओं में इसका अभाव है। उनमे अन्य प्रगतिशील समीक्षकों की तरह साहित्येतर तत्त्वों के बदले साहित्यिक तत्त्वों का ही प्राधान्य है।

अध्याय ७

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा-धारा के विकास में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त का भी विशिष्ट योग है। आपकी समीक्षा पद्धति के मूल में यद्यपि मार्क्सवादी तथा जनवादी आदर्शों की ही स्थिति है, फिर भी उसमें वह एकांगिता तथा अतिवादिता नहीं है जो इस धारा के अन्य समीक्षकों में विद्यमान है। उनके समीक्षात्मक निबन्धों में वाद-विशेष का प्रभाव होते हुए भी साहित्यिक मानदण्डों की अपेक्षित स्वीकृति है- जिसके माध्यम से वे समीक्षक की मर्यादा तथा तटस्थता की बहुत दूर तक रक्षा कर सकने में समर्थ हो सके है। इसीलिए उनका विवेचन वैयक्तिक आग्रहों से मुक्त तथा संतुलित है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में श्री गुप्त का प्रवेश प्रगतिशील आन्दोलन के उद्भव के समय सन् १९३६ के आस पास हुआ। इनके समीक्षात्मक निबन्धों का प्रथम संकलन हिन्दी संसार के समक्ष 'नया हिन्दी साहित्य . एक दृष्टि' के रूप में आया। इस कृति में हिन्दी साहित्य की गतिविधि को साहित्य की विभिन्न विधाओं के सदर्भ में प्रगतिवादी दृष्टि से देखने का उपक्रम किया गया था। व्यवहारिक विवेचना की भी इसमे सर्वाधिक व्याप्ति थी फिर भी उस युग की जागरूक तथा विकासमान साहित्यिक प्रवृत्तियों के मूल्यांकन में इसका विशेष महत्व है। समीक्षा विषयक उनकी परवर्ती कृतियाँ निम्नलिखित हैं:—

(१) आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि (१९५२)
(२) हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा (१९५३)
(३) साहित्य धारा (१९५७)

इन कृतियों में साहित्य तथा समीक्षा के मार्क्सवादी आधार को अधिकाधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त कला की उत्पत्ति तथा वर्गीय समाज के अन्तर्गत उसके विभिन्न स्वरूप का भी पर्याप्त किया गया है—जिनमे काडवेल का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से इनकी तीसरी कृति—'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसमे हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों की लौ प्रवृत्तियो तथा उनके अन्तर्गत निहित जनवादी तत्वो को बड़ी ही

है। मुक्तक [illegible] विश्लेषित करने का उपक्रम किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तिम कृति सर्वाधिक प्रौढ़ है।

सैद्धान्तिक समीक्षा

साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या

गुप्त जी ने मार्क्सवाद को 'सतत विकासमान और वैज्ञानिक दृष्टि'[1] की संज्ञा दी है। उनके अनुसार, चूँकि संसार की प्रत्येक वस्तु अपने विकास पथ में निरन्तर विकसित तथा परिवर्तित होती रहती है, अतः साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन मानव-जीवन की गतिशीलता से ही सम्बद्ध है। प्रत्येक ह्रासशील समाज व्यवस्था के अन्तिम चरण सामाजिक धरातल पर आने वाले व्यापक परिवर्तनों की सूचना देते हैं और साहित्य तथा कला में भी इन परिवर्तनों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही, उनके अनुसार, मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान के समस्त अंगों में परिवर्तन की छाया झलकती है।

मार्क्स के मत से, आर्थिक धरातल पर ही मनुष्य के वैचारिक उत्पादन का निर्माण होता है परन्तु इसके साथ ही भौतिक परिस्थितियों की क्षमता भी मनुष्य के विचार जगत में ही है। गुप्त जी ने वैचारिक धरातल का भौतिक परिस्थितियों से संबंध दर्शाते हुए बड़ी स्पष्टता से इस तथ्य को स्वीकार किया है—'भौतिक परिस्थितियों और विचारों का संबंध नींव और उस पर खड़ी इमारत के समान है। यदि आर्थिक और सामाजिक संबंध नींव हैं तो ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य और कला उस नींव के आधार पर खड़ी इमारत के समान हैं।'[2] फिर भी, काव्य तथा कला का भौतिक धरातल से प्रच्छन्न संबंध है—सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण इसीलिये साहित्य और कला में अप्रत्यक्ष रूप से होता है।

साहित्य के निर्माण में मानव जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों तथा कल्पना का महत्व सभी मार्क्सवादी विचारक स्वीकार करते हैं। ये अनुभूतियाँ सामाजिक यथार्थ से अधिक सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट होती हैं। सामाजिक जीवन की यथार्थता साहित्य में सदैव कल्पना और अनुभूति के माध्यम से प्रवेश करती हैं, इसका यथातथ्य चित्रण साहित्यकार नहीं करता। 'गुप्त जी के अनुसार, कलात्मक अभिव्यक्ति का आर्थिक आधार से वही संबंध होता है जो फूल का भूमि से।

१. पृष्ठ १—साहित्य-धारा।

फूल भूमि से उगता है और उसी का अंश और परिष्कृत रूप होता है, यद्यपि वह भूमि से भिन्न प्रतीत होता है।'[1]

मार्क्सवाद के अनुसार, साहित्य का रूप युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में निश्चित होता है। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युगों की परिस्थितियों के अनुरूप कला सदैव परिवर्तित होती रही है। मार्क्स ने दंत कथाओं के युग में ही प्रस्तर खण्डों में देवी देवताओं की मूर्ति निर्माण की कल्पना की थी क्योंकि उस युग में मनुष्य का ज्ञान इतना सीमित था। ग्रीक के साहित्य के अन्तर्गत ग्रीक विचारकों के आदर्श उतने सफलीभूत नहीं सिद्ध हो सकते जितनी इन आदर्शों को अपने युग में मान्यता प्राप्त थी। गुप्त जी के शब्दों में—'जो नियम अरस्तू ने नाटक की सफलता के लिये अनिवार्य बताये थे, उनका त्याग करके ही शेक्सपियर की कल्पना मुक्त उड़ान ले सकी थी। कल के निषेध आज के अपरिहार्य नियम बन जाते हैं।'[2] कालक्रम के इसी विकास के साथ आज का नाटककार शेक्सपियर के आदर्शों से भी मुक्त हो चुका है, उसके मन में अन्तर्द्वन्द्वों का प्रभंजन नहीं है अपितु वह सचेत रूप से अपनी लेखनी के माध्यम से संघर्षशील मानव को चित्रित करना चाहता है और समाज में परिवर्तन लाने का आकांक्षी है।

साहित्य के मार्क्सवादी विचारकों ने सामाजिक जीवन के प्रवाह में साहित्य की सक्रिय भूमिका स्वीकार की है। कलाकार अपनी सूक्ष्म ग्राहिका शक्ति से अपने युग की यथार्थता को ग्रहण करता है, कल्पना तथा अनुभूति के माध्यम से उसे साहित्य के पृष्ठों में उतारता है। उसकी कृति के अन्तर्गत असंख्य पाठकों की भावनाओं तथा जीवनानुभवों को वाणी मिलता है, जिनसे उन्हें सामाजिक जीवन में कार्यरत रहने की प्रेरणा तथा मनोबल मिलता है। कलाकृति के व्यापक प्रभाव का आकलन करते हुये गुप्त जी ने स्वीकार किया है—'किसी कलाकृति में हम फिर से जीवन यापन करते हैं और अपनी अनुभूतियों को और स्वभाव को बदलते हैं। इस प्रकार हम जीवन को फिर से बदलने की क्षमता प्राप्त करते हैं।'[3]

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वे कौन से तत्व हैं जो कलाकार को इस अनुपम शक्ति से विभूषित करते हैं ? गुप्त जी ने इसके दो आधार स्वीकार किये हैं—प्रथमतः कलाकार की अन्तर्वेधी जीवन दृष्टि तथा दूसरी

१. पृष्ठ २—साहित्य-धारा।
२. " ३—वही।
३. " ४—वही।

उसकी अभिव्यक्ति क्षमता।[1] किसी भी कलाकार की कला तभी सवेदनशील होगी, जब वह समाज के ज्वलत प्रश्नो पर अपनी दृष्टि फेंकेगा, जीवन की यथार्थता को अपने साहित्य के अन्तर्गत निरूपित करेगा। यदि कलाकार स्वय इन प्रश्नो से तटस्थ है अथवा उनका मूल्यांकन करने मे असमर्थ है तो उसकी कृति समाज के मर्मस्थल को स्पर्श नही कर सकती।

प्रभाव पक्ष का दूसरा हेतु अभिव्यक्ति की विशेषता है। गुप्त जी के शब्दो में—'कला एक व्यापक मानव समूह पर गहरा और स्थायी प्रभाव डाल सके—यह उसकी जीवन दृष्टि और सवेदशीलता पर निर्भर है किन्तु इसमे भाषा, सगीत, उपमाओ, रूप, रग आदि का भी कम महत्व नहीं है।' अभिव्यक्ति के साधनो पर कलाकार का अधिकार सम्पूर्ण इतिहास और मानवीय सभ्यता की सापेक्षता मे होता है। इतिहास के विकासशील चरण इन साधनो में निरन्तर परिष्कार और अनुभव की शृखला जोडते हैं, क्योंकि कला एक युग तथा समाज की सम्पत्ति होती है, उसकी उत्कृष्टता समाज के व्यापक प्रभाव पर निर्भर करती है।

प्रत्येक मार्क्सवादी विचारक पूंजीवादी तथा समाजवादी कला में सामान्यत: अन्तर-स्थापन करता है। पूंजीवादी युग ज्ञान तथा विज्ञान के समस्त साधनों को अपने लाभ तथा राजनीतिक स्वार्थ दिशा मे परिचालित करता है, वहाँ कलाकार की तटस्थता की रक्षा सभव नही होती। परन्तु 'समाजवाद के अन्तर्गत इन साधनो का प्रयोग, गुप्त जी के अनुसार, 'एक सामूहिक संस्कृति के निर्माण के लिये होगा, और इस प्रकार कला की दृष्टि से शासक श्रेणी और जनता के बीच की अस्वाभाविक खाई पट सकेगी।'[2] आज के वैज्ञानिक युग मे जबकि शिक्षा तथा मुद्रण का व्यापक प्रसार हो चुका है, यह नितान्त आवश्यक है कि कला गोष्ठी और संकीर्ण गुटो के बन्धन मे मुक्त होकर व्यापक सामाजिक धरातल पर उतरे।

साहित्य और समाज

मार्क्सवादी विचारको के अनुसार, साहित्य और समाज परस्पर सापेक्ष हैं। साहित्य सामाजिक परिस्थितियो से प्रभावित होता है और फिर बदले मे उन्हे भी प्रभावित तथा परिवर्तित करता है।[3] साहित्य और समाज के इस

---

१. पृष्ठ ५—साहित्य-धारा।
२. पृष्ठ ६—साहित्य-धारा।
३ „ १५—वही।

समय की विस्तृत व्याख्या श्री गुप्त के सैद्धान्तिक विवेचन का एक प्रमुख अंग है।

'कवि अथवा साहित्यकार' उनके मत से, 'जिस जीवन की अपने चतुर्दिक हिलोरें मारता देखता है, उसी से वह प्रेरणा पाता है।——उसका मानसिक संसार इससे विराग कोई बन्द मुक्ता-मंजूषा नहीं है। अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुये भी उसकी भावनाओं का संसार निरन्तर बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित और झंकृत होता है।'[1] अतः साहित्य-निर्माण के सूत्रों का संबंध उसके अन्तर्मन से ही नहीं, उस सामाजिक जीवन तथा परिवेश से भी रहता है, जो उसके अन्तर्मन को प्रेरित तथा प्रभावित करता है। विशेष रूप से, 'जब देश धू-धू करके जल रहा हो, तब यह कल्पना असंभव हो जाती है कि स्निग्ध चाँदनी में कुमुदिनी खिल रही है अथवा ज्योत्स्ना मकरन्द बिखरा रही है।'[2] सामाजिक यथार्थ अथवा परिवेश को अस्वीकार कर मात्र कल्पना अथवा स्वप्न के सहारे साहित्य की सृष्टि का सिद्धान्त मार्क्सवादी विचारक को स्वीकार नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह कल्पना का निषेध करता है—कल्पना की स्थिति उसे स्वीकार है, लेकिन सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में ही। गुप्त ने इसका विवेचन करते हुये लिखा है—'सामाजिक यथार्थ के साँचे में ही ढलकर मनुष्य के अगणित विचार और भाव निकलते हैं। कलाकार की कल्पना में तपकर वे निखर जाते हैं। और बहुमूल्य धातु में परिवर्तित हो जाते हैं।'[3] इस बहुमूल्य धातु की निर्मिति 'स्वप्न-प्रसाद' में रहने वाले कलाकार द्वारा नहीं, सामाजिक यथार्थ को हृदयगम करने वाले कलाकार द्वारा ही संभव है।

समाज के धरातल पर घटित होने वाले परिवर्तन कला के रूप में भी परिवर्तन की सूचना देते हैं। वर्ग-समाज के विकास के साथ-साथ कला अथवा साहित्य अपनी स्वाभाविक गति को त्याग बैठते हैं उनके अन्तर्गत रूपगत-चमत्कार-सृष्टि की आकांक्षा और कलाकार की अहंवादी कल्पनाओं का प्राधान्य हो जाता है तथा सामाजिक जीवन से उनका संबंध टूट जाता है। आधुनिक वर्ग समाज के अन्तर्गत कला के दो रूप हमारे सामने स्पष्टतया परिलक्षित हो रहे हैं—'एक ओर अभिजात वर्ग की कला है, जो शासक वर्ग की क्रीतदासी है और सर्वहारा के विरुद्ध हथियार बन गई है, किन्तु जो ह्रास के

---

१. „ २९—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
२. „ २०५—वही।
३. „ ४—वही।

गड्ढे में गिर चुकी है और कोई बनाव-सिंगार जिसके प्राण का सम्बल नहीं बन सकता',[1] दूसरी ओर समाजवादी कला होती है जिसके अन्तर्गत अभिजात वर्ग की सजावट तथा बारीकियाँ नहीं होती किन्तु उसकी संस्कृति की धारा अवश्य ही धरती के नीचे प्रवाहमान रहती है। इस कला के अन्तर्गत 'लोक कला की भूगर्भ में दबी धारा का उच्च वर्गीय कला से फूटी प्रगतिशील धारा से संगम'[2] होता है।

मार्क्सवादी विचारकों ने सामाजिक जीवन में साहित्य की सक्रिय भूमिका को निरन्तर महत्व प्रदान किया है। लेनिन के मत से—'कला जनता की वस्तु है। इसकी जड़ें दूर तक जनता के अन्तर फैलनी चाहिये। इसे जनता की भावनायें, विचार और इच्छा एकत्रित करके उभारना चाहिए।'[3] उच्च कोटि का साहित्य मनुष्य के विचारों तथा अनुभूतियों में एक नया परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है, सामाजिक जीवन की असंगतियों तथा यथार्थताओं से लड़ने की प्रेरणा देता है। गुप्त जी के शब्दों में—'कला जीवन के साथ संघर्ष में मनुष्य का सामाजिक हथियार बनती है।—इसके माध्यम द्वारा मनुष्य परिस्थिति की मूढ़ता से छुटकारा पाता है।'[4] साहित्य के अन्तर्गत चूँकि युग की वास्तविकताओं का दिग्दर्शन रहता है, अतः समाज का बहुत बड़ा वर्ग उसमें अपनी भावनाओं का पद-चाप सुनता है, उनके माध्यम से सामाजिक असंगतियों से लड़ने का व्रत लेता है। साहित्य केवल जीवन की अभिव्यक्ति का साधन नहीं है, उसमें परिवर्तन लाने का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है।

साहित्य की सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ में साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होता है। कला को सामाजिक जीवन के संघर्ष में सहायक सिद्ध होने के लिये, 'साहित्यकार को', गुप्त जी के शब्दों में—'सचेत संघर्ष करना होगा। उसे अपनी कला को ऐसी वेश सज्जा पहनानी होगी कि वह सुगमता से जनता के हृदय तक पहुँच सके।'[5] 'इसके लिये आवश्यक यह है कि कला के रूप प्रकार सामाजिक हों, भाषा, ताल, लय, संगीत, उपमायें और शब्द-चित्र तीर की तरह लक्ष्य तक पहुँचे और पाठक या

---

१. पृष्ठ २०—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
२. „ —वही।
३. „ ६—उद्धृत, वही।
४. पृष्ठ १४—उद्धृत—आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
५. „ २७—साहित्य धारा।

दर्शन का कोई भेद नहीं।'[1] साहित्यकार इन्हीं धारणाओं से उसका तट पहुँचने का उपाय करता है, अन्यथा उसे गहन, गम्भीर और अन-जुगम आकार देना होता। सामाजिक जीवन की सतह के मोती को जन-साधारण की भाषा में पिरोना तथा सजाना होता तभी साहित्यकार मर्म-भेदिनी कला की सृष्टि कर सकेगा। यह साहित्यकार का दायित्व है कि अपनी कलाकृति में वह जिस समाज को चित्रित करने जा रहा है उसका उसे समग्र परिचय हो क्योंकि अपने स्वप्न-जगत में रहकर वह यथार्थ जीवन की झलक नहीं पा सकता।

साहित्य में सौन्दर्य-बोध

मनुष्य की सौन्दर्य-विषयक धारणा, मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार निरन्तर विकसित होती रहती है। स्थान-भेद के अनुसार, उसमें परिवर्तन तो होता ही है, सामाजिक जीवन के विकास के साथ भी वह बदलती रहती है। इस मत से, जैसा कि श्री गुप्त ने कहा है—'जन रुचि और साहित्यिक रुचि, जो शिक्षा, वर्ग-भूमिका आदि से बनती और निर्दिष्ट होती है, इस सौन्दर्य-बोध को दिशा देती है।'[2] फिर भी गुप्त जी के अनुसार साहित्य में सौन्दर्य-बोध के कतिपय ऐसे आधारभूत तत्वों का नियोजन होता है, जिन्हें अपेक्षाकृत अधिक स्थायी कह सकते हैं। इनमें साहित्य का रस-विषयक गुण तथा उसका जीवन-सापेक्ष स्वरूप प्रमुख है। साहित्य का रस-विषयक गुण; उनके अनुसार, 'अनेक भेदों के अस्तित्व के बाद भी सभी देशों और युगों के साहित्य में मिलता है।'[3] इसी प्रकार, साहित्य, उनके मत से, 'जीवन के प्रति महत्त्व दृष्टियाँ रख सकता है, उसमें आस्था अथवा अनास्था प्रकट कर सकता है, किन्तु जीवन की अवहेलना करना उसके लिये संभव नहीं है।'[4]

सामाजिक जीवन में वर्गीय आधार पर भी साहित्य की सौन्दर्य विषयक धारणा में परिवर्तन आ जाता है। उसका एक स्वरूप वह है जो अपनी सहज सरलता के आधार पर तथा मानवीय गुण से युक्त रहने के कारण असंख्य जनता का स्नेह और सम्मान प्राप्त करता है। दूसरा स्वरूप वह भी है जिसकी प्रशंसा एक सीमित वर्ग करता है, जिसमें व्यापक मानवीय अनुभूतियों के बदले शासक वर्ग की भावनाओं और अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति होती है। साहित्य के प्रथम स्वरूप तथा उसके सौन्दर्य को श्री गुप्त ने महान साहित्य

---

१. पृष्ठ २७, साहित्य-धारा।
२. „ ७—वही।
३. „ ७, वही।
४. „ ७, वही।

अथवा श्रेष्ठ साहित्य का गुण माना है, जबकि दूसरे को उन्होंने द्वितीय श्रेणी के साहित्य की संज्ञा दी है। साहित्य के दूसरे स्वरूप के हिमायती, उनके अनुसार, 'मोहक शब्दावली, संगीत और उपमानों को ही साहित्य का प्राण-रस समझते हैं।'[1] लेकिन गुप्त जी के मत से, 'भाषा-शिल्प, उपमायें, संगीत, उक्तिचमत्कार साध्य के साधन मात्र हैं। वे काव्य के अलंकार हो सकते हैं, साध्य नहीं। उत्कृष्ट कला प्राण-रस मानवीय अनुभूति, गहरी संवेदना, मानव जीवन का मर्मस्पर्शी निरूपण ही हो सकते है।'[2] चित्रों और प्रतीकों का महत्व भी उनके अनुसार, तभी हो सकता है, 'जब इनके पीछे स्वस्थ मानवीय अनुभूति हो। अस्वस्थ अनुभूति का शृंगार शव को अलंकृत करने के समान है।'[3]

अतः 'श्रेष्ठ कला अथवा साहित्य का निर्णय', उनके मत से, 'सौन्दर्य के बाह्य उपकरणों द्वारा नहीं, बल्कि 'इस बात पर निर्भर होता है कि कलाकार ने कितनी गहरी जीवन-दृष्टि पाई है।'[4]

आलोचना का मार्क्सवादी आधार

आलोचना के मार्क्सवादी आधार अथवा कला या साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टि का अर्थ है द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से उन्हें परखने का प्रयास। इस विचार धारा के अनुसार मनुष्य के भौतिक जीवन से लेकर उसकी चेतना के स्तर निरन्तर विकास-मान तथा परिवर्तनशील हैं। मनुष्य के भौतिक जगत में परिवर्तन का अर्थ है उसकी मानवीय चेतना का भी प्रभावित होना और अन्ततः उसके अनुसार परिवर्तित होना श्री गुप्त ने इस प्रक्रिया को विश्लेषित करते हुये कहा—'समाज का रूप उसके आर्थिक अवलंबों के अनुसार निरन्तर बदला करता है। कोई नया आविष्कार होता है, उसके कारण आर्थिक व्यवस्था बदल जाती है, और इसका तत्काल प्रभाव सामाजिक संबंधों पर भी पड़ता है। नई मशीनें उत्पादन के साधनों में मूल परिवर्तन करती हैं, इसके फलस्वरूप सामन्ती युग का अन्त और पूंजीवादी युग का आरंभ होता है। इस नवीन समाज-व्यवस्था में मनुष्य के विचार और अनुभूतियाँ भी नया स्वरूप

---

१. पृष्ठ ८, साहित्य-धारा।
२. „ ९, वही।
३. „ ९, वही।
४. पृष्ठ ११, साहित्य-धारा।

प्रतिगामी होती है; जीवन की नव-शक्तियों की प्रतिनिधि विचार-धारा प्रगतिशील होती है।'[1] सामाजिक विचार धारा से प्रभावित कलाकार दृष्टि-कोण इनमें से किसी-न-किसी को अपनाकर ही सृजन के कार्य में प्रवृत्त होता है, कोई न कोई विचार धारा अवश्य ही उसकी कृति के साथ जुड़ी रहती है। आलोचक का सबसे प्रमुख कार्य है इस विचार-धारा के अन्तरात्मा में प्रवेश करना,—सर्वप्रथम इस तथ्य का उद्घाटन करना कि लेखक के दृष्टिकोण प्रगतिशील है अथवा प्रतिगामी—वे क्षय ग्रस्त समाज-सबधों को स्वीकार करते हैं अथवा जीवन की नव शक्तियों का प्रतिनिधित्व। इसका समुचित विश्लेषण करने के बाद ही वह कृति के सौन्दर्य का सही अर्थों में आकलन कर सकता है।

'मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्यालोचन' इस प्रकार, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक अधिक सर्वांगीण होता है।' वह कला की रचना को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि में रखता है और उसके रूप की वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या करता है। समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र का अध्ययन उसे एक समन्वित दृष्टि देता है, जो पुराने पथी आलोचको द्वारा अधिकतर उपेक्षित होता है। मार्क्सवादी दर्शन उसे सामाजिक और साहित्यिक गति का अतरग परिचय देता है, जिसे पाकर वह एक उच्चतम लक्ष्य साहित्य और कला के सामने रखता है। मानव-सस्कृति के प्रौढ और परिष्कृत रूपों को वह केवल मनोरजन का साधन नहीं समझता, वह उन्हें जीवन को अधिक सुन्दर और सफल बनाने का अस्त्र भी मानता है। वह समझता है कि कला का ध्येय केवल जीवन का निरूपण नहीं, वरन् उसे बदलना है।'[3]

व्यावहारिक विवेचन

मध्य युगीन साहित्य

मानवीय चेतना के विकास में परम्परागत स्त्रोतो का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन की शक्तियाँ अपने पीछे जीवन सूत्रों का इतिहास रखती हैं। उनसे विच्छिन्न करके कला, साहित्य अथवा सस्कृति के किसी उपादान का सम्यक् विश्लेषण सभव नहीं है। आज की कलाकृतियों को युगों के प्रयास एव साधना के सदर्भ में ही देखा जा सकता है—सामाजिक जीवन के अग रूप में वे सभी, गुप्त जी के शब्दों में, 'इतिहास

---

१. पृष्ठ २९, *आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।*
२. ,, ३०, वही।
,, ३२, वही।

के लबे तार'[१] के सदृश हैं। गुप्त जी की व्यावहारिक समीक्षा इस लम्बे तार के प्रत्येक महत्वपूर्ण विन्दुओं को स्पर्श करती हुयी—उसके सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्य का विश्लेषण करते हुये अग्रसर हुई है।

गुप्त जी के अनुसार, 'हिन्दी साहित्य की परम्परा मूलतः एक जनवादी परम्परा रही है। हिन्दी के साहित्यकारों ने पूर्व काल से ही भारतीय जनता की भावनाओं को अपने साहित्य में व्यक्त किया है, उसके दुःख-सुख के गीत गाये हैं और लोक कल्याण के आदर्श को सदैव ही अपने सामने रक्खा है।'[२] हिन्दी का मध्य युगीन साहित्य इस जनवादी परम्परा की अनुपम और अद्भुत निधि है। सन्त कवियों की वाणी मे एक ओर जहाँ ज्ञान का भव्य आलोक है, वहीं दूसरी ओर युगीन समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का मार्मिक इतिहास भी निहित है। मध्ययुग की भक्ति धारा इस परम्परा का दूसरा अध्याय है। इस संबंध मे गुप्त जी का कथन द्रष्टव्य है—'तुलसी, सूर, मीरा अथवा कबीर की वाणी देश के प्रतिनिधि वर्ग से प्रेरित हुई थी, जैसे देश का मूक जीवन ही मुखरित हो उठा था।'[३] रीति काल के कवियों की ह्रासशील प्रवृत्ति की चर्चा करते हुये गुप्त जी ने कहा है—"उनकी दृष्टिमूलतः अस्वस्थ है, वह ऐसे समाज के प्रतिबिम्ब हैं, जिसमे प्रगति की संभावनायें नष्ट हो चुकी हैं"[४] दरबारी कवियों का प्रेरणा स्रोत भारतीय जन समाज की आशा और आकांक्षायें नहीं हैं, उनमें सामन्ती वर्ग की विलासिता का चित्रण है।

मध्य युगीन साहित्य का स्वर सामाजिक चेतना से ओत प्रोत है। संत कवियों के काव्य मे वैयक्तिक सुख-दुःख का निरूपण नहीं है, उनका साहित्य सामाजिक जीवन की सक्रिय भूमिका से युक्त है। गुप्त जी ने भारतीय जीवन की पीडा को ही उनके काव्य का मूल प्रेरणा स्रोत बतलाते हुये कहा है—'सामाजिक पीडा के स्रोत से फूट कर, उनके काव्य की धारा निकली है और सामाजिक संघर्ष का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके साहित्य मे है।'[५] इस युग का साहित्य बहुसंख्यक पीड़ित मानव समाज को साहित्य मे प्रतिष्ठित करने की आकांक्षा रखता था, उसका आग्रह जीवन के कटु यथार्थ के चित्रण और अंकन के प्रति था। तुलसी और कबीर की सामाजिक चेतना का विश्लेषण करते हुये

१. पृष्ठ २२, आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
२. भूमिका, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
— १४, नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि।
७, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
६, वही।

के [illegible] के अनुरूप है। गुप्त जी की व्यावहारिक समीक्षा इस मनोदृ[illegible]
के अनेक महत्वपूर्ण बिन्दुओं को स्पर्श करती हुई—उनके सामाजिक [illegible]
साहित्यिक मूल्य का विवेचन करते हुये अग्रसर हुई है।

गुप्त जी के अनुसार, हिन्दी साहित्य की परम्परा सुदृढ़ एवं जनवादी परम्परा रही है। हिन्दी के साहित्यकारों ने पूर्व काल से ही भारतीय जनता की भावनाओं को अपने साहित्य में व्यक्त किया है, उसके युग-युग के सं[illegible] [illegible] है और लोक कल्याण के आदर्शों को सदैव ही अपने सामने रखा है।" हिन्दी का मध्य युगीन साहित्य इस जनवादी परम्परा की अनुपम और महत्[illegible] [illegible] है। इन कवियों की वाणी में एक ओर जहाँ आज का मध्य कालीन [illegible] वहीं दूसरी ओर युगीन समाज के अन्तर्द्वन्द्वों का मार्मिक इतिहास भी निहि[illegible] है। मध्ययुग की भक्ति धारा इस परम्परा का दूसरा अध्याय है। इस सं[illegible] में गुप्त जी का कथन द्रष्टव्य है—"तुलसी, सूर, मीरा अथवा कबीर की [illegible] देश के प्रतिनिधि वर्ग से प्रेरित हुई थी, जैसे देश का मूक जीवन ही मुखरित हो उठा था।"[3] रीति काल के कवियों की ह्रासशील प्रवृत्ति की चर्चा करते हुये गुप्त जी ने कहा है—"उनकी दृष्टि मूलतः असत्य है, यह ऐसे समाज के प्रतिबिम्ब हैं, जिसमें प्रगति की संभावनायें नष्ट हो चुकी हैं"[4] दरबारी कवियों का प्रेरणा स्रोत भारतीय जन समाज की आशा और आकांक्षायें नहीं है, उनमें सामन्ती वर्ग की विलासिता का चित्रण है।

मध्य युगीन साहित्य का स्वर सामाजिक चेतना से
कवियों ने काव्य में वैयक्तिक सुख-दुःख का निरूपण
सामाजिक जीवन की सक्रिय भूमिका से युक्त है। गुप्त
की पीड़ा को ही उनके काव्य का मूल प्रेरणा स्
'सामाजिक पीड़ा के स्रोत से फूट कर, उनके काव्य
सामाजिक संघर्ष का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उनके
साहित्य बहुसंख्यक पीड़ित मानव समाज को
आकांक्षा रखता था, उसका आग्रह जीवन के
के प्रति था। तुलसी और कबीर की सामा

---

१. पृष्ठ २२, आधुनिक हिन्दी सा
२. भूमिका, हिन्दी साहित्य की
३. पृष्ठ १४, नया हिन्दी साहित्य :
४. ,, ७, हिन्दी साहित्य की ज
५. ,, ३६, वही।

उनकी विचार धारा मे अनेक ऐसे सामनी अवरोध हैं जो उनके जनवादी तत्वो को ढक देते हैं।'[1]

श्री गुप्त ने मध्य युगीन साहित्य के सामाजिक मूल्य को मुक्त कठ से मान्यता दी है। उस युग के साधको की 'जन-सुलभ-स्वाभाविक शब्दावली' का भारतीय जीवन पर व्यापक प्रभाव स्वीकार करते हुये कबीर और तुलसी जैसे सामाजिक चेतना से सम्पन्न साहित्यकारो के काव्य को 'भारतीय जनता की दीर्घ जीवन-यात्रा मे चिर-सगी' मानते हैं। 'आज का प्रगतिशील लेखक' गुप्त जी के अनुसार, 'कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध भावना और उनके स्वर की सहज सचाई और निर्मलता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है। सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष मे आज भी कबीर काव्य एक तीखा अस्त्र है।'[2] तुलसी की मानवतावादी वाणी भारतीय लोक जीवन को युगो से आन्दोलित करती आ रही है, उनकी लोकप्रियता का सबसे सबल आधार भी यही है। तुलसी साहित्य के इसी वैशिष्ट्य की ओर लक्ष्य करते हुये गुप्त जी ने कहा है—'शताब्दियो से वायु और जल की भाँति तुलसी का साहित्य भारतीय जनता के मन और हृदय को पोषित करता रहा है। हम कह सकते हैं कि आज जो कुछ भी भारतीय जीवन मे उन्नत और विशाल है, उसे पोषित करने मे तुलसी की परम्परा का मूल्यवान अश है।'[3]

साहित्य उनके मत से इस प्रकार मध्यम वर्ग की इस सास्कृतिक चेतना का ही फल है।'[4] यह वर्ग एक ओर तो अपनी प्राचीन सस्कृति की रक्षा के लिये उत्सुक है, किन्तु दूसरी ओर उस सास्कृतिक परम्परा का विकास भी चाहता है।'[5] इसका प्रारभिक निदर्शन, श्री गुप्त के अनुसार, भारतेन्दु युग के साहित्य मे जिसे उन्होने 'युग सधि का साहित्य' कहा है, लक्षित हुआ। इसका विश्लेषण करते हुये उन्होने कहा है।—" . . गद्य साहित्य मे भारतेन्दु युग के लेखक नई भूमि गोड रहे थे, किन्तु कविता मे हिन्दी की प्राचीन परपरा उनके सामने थी।'[6] फिर भी, उस युग के अनेक कवियो ने अपनी

१. पृष्ठ २४, उद्धृत—हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
२. „ ६०, वही।
३. „ ५६-५७, साहित्य-धारा।
४. „ ७१, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
५. „ ७२, वही।
६ „ ७५—वही।

...साहित्य की विचार धारा को गुप्त जी ने 'मानवतावादी विच-
...की सत्ता दी है। भूलोक के अन्तर्गत मानव जीवन के स्वप्न देख
...नी विनय प्रवर कवियों की मानवतावादी दृष्टि का ही परिचायक है।
...र की दृष्टि में मनुष्य सत्य का स्थान सर्वोपरि है—उनकी बात को
...सा नहीं है। कबीर की मानवतावादी वाणी का महत्व प्रतिपादित करते हुये
...न जी का यह कथन उल्लेखनीय है—'मध्य युग के महान पुरुषों में कबीर
...यह अपराजेय मानवतावादी विचार आलोक की एक लीक, नीची जाति-
...ता है जिससे आज भी अन्ध-विश्वासों से डूबा हुआ प्राणी बहुत कुछ प्रकाश
...ा सकता है।'[1] सूर हिन्दी साहित्य की मानवतावादी परम्परा की एक
महत्वपूर्ण कड़ी हैं। सूर के दर्शन हमारी मानवता में परिष्कार लाते हैं,
उसे उच्चतर भूमिकाओं तक पहुँचाने की सामर्थ्य रखते हैं। 'सूर का दृष्टि-
कोण' गुप्त जी के अनुसार, 'मूलतः मानवतावादी दृष्टिकोण है।' उनके पद
मानव जीवन की तीव्रतम अनुभूतियों में तपकर निकले हैं।'[2]

मध्य युगीन साहित्य के अन्तर्गत जनवादी स्वर मुखर हैं, किन्तु इन
साथ ही अनेक विरोधी तत्व भी लिपटे हुये हैं। ये अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्विरो-
संत कवियों के विचार-दर्शन की सीमायें हैं। संत साहित्य में परलोक मु-
तत्व बहुत प्रबल है। इस संबंध में गुप्त जी का कहना है—'उनकी शिक्षा
संसार को भुलाने की दिशा में है। यह युग मिथ्या है, इसे छोड़कर प्रभु
शरण लो! भक्त कवि भारतीय जनता को राम-नाम का मधु-मरहम
पीड़ा से त्राण पाने के लिये अर्पित करते थे।'[3] टालसटाय के संबंध में
प्रकार के अन्तर्विरोध को दृष्टिगत रखते हुये लेनिन ने स्पष्ट कहा
'टालस्टाय रूसी क्रान्ति का दर्पण है किन्तु उनके विचार दर्शन में पारस्प-
तत्व भी है।'[4] गुप्त जी ने भी तुलसी के साहित्य में इसी प्रकार के
विरोध की ओर लक्ष्य करते हुये कहा है—'जहाँ तुलसी साहित्य की
सृजन प्रेरणा भारतीय जनता की दु:सह दुर्निवार पीड़ा है वहाँ उन
इस संसार से मुँह मोड़कर ही इस व्यथा से त्राण पाने का स्वप्न दे

---

१. पृष्ठ ३७, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
२. ,, ३६, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
३. ,, ५०, वही।
४. ,, ६१, साहित्य-धारा।
५. ,, १२, उद्धृत। हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।

उनकी विचार धारा में अनेक ऐसे सामती अवरोध हैं जो उनके जनवादी तत्वो को ढक देते हैं।'[1]

श्री गुप्त ने मध्य युगीन साहित्य के सामाजिक मूल्य को मुक्त कंठ से मान्यता दी है। उस युग के साधको की 'जन-सुलभ-स्वाभाविक शब्दावली' का भारतीय जीवन पर व्यापक प्रभाव स्वीकार करते हुये कबीर और तुलसी जैसे सामाजिक चेतना से सम्पन्न साहित्यकारो के काव्य को 'भारतीय जनता की दीर्घ जीवन-यात्रा मे चिर-संगी' मानते हैं। 'आज का प्रगतिशील लेखक' गुप्त जी के अनुसार, 'कबीर की निर्भीकता, सामाजिक अन्याय के प्रति उनकी तीव्र विरोध भावना और उनके स्वर की सहज सचाई और निर्मलता को अपना अमूल्य उत्तराधिकार समझता है। सामाजिक शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष मे आज भी कबीर काव्य एक तीखा अस्त्र है।'[2] तुलसी की मानवतावादी वाणी भारतीय लोक जीवन को युगो से आन्दोलित करती आ रही है, उनकी लोकप्रियता का सबसे सबल आधार भी यही है। तुलसी साहित्य के इसी वैशिष्ट्य की ओर लक्ष्य करते हुये गुप्त जी ने कहा है—'शताब्दियो से वायु और जल की भाँति तुलसी का साहित्य भारतीय जनता के मन और हृदय को पोषित करता रहा है। हम कह सकते है कि आज जो कुछ भी भारतीय जीवन मे उन्नत और विशाल है, उसे पोषित करने मे तुलसी की परम्परा का मूल्यवान अंश है।'[3]

साहित्य उनके मत से इस प्रकार मध्यम वर्ग की इस सास्कृतिक चेतना का ही फल है।'[4] यह वर्ग एक ओर तो अपनी प्राचीन सस्कृति की रक्षा के लिये उत्सुक है, किन्तु दूसरी ओर उस सास्कृतिक परम्परा का विकास भी चाहता है।'[5] इसका प्रारंभिक निदर्शन, श्री गुप्त के अनुसार, भारतेन्दु युग के साहित्य मे जिसे उन्होने 'युग संधि का साहित्य' कहा है, लक्षित हुआ। इसका विश्लेषण करते हुये उन्होने कहा है।—" . गद्य साहित्य मे भारतेन्दु युग के लेखक नई भूमि गोड रहे थे, किन्तु कविता मे हिन्दी की प्राचीन परपरा उनके सामने थी।'[6] फिर भी, उस युग के अनेक कवियो ने अपनी

---

१. पृष्ठ २४, उद्धृत—हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
२. „ ६०, वही।
३. „ ४६-४७, साहित्य-धारा।
४. „ ७१, हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा।
५. „ ७२, वही।
६ „ ७५—वही।

रचनाओं में सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना को भी मुखर किया, जिसका दृष्टे निदर्शन भारतेन्दु की 'भारत दुर्दशा' तथा बद्रीनारायण चौधरी की 'भारत बदना' में हुआ है। श्री गुप्त के अनुसार, इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि 'यह······सामंतो के लिये नहीं रचा गया था।'[1] 'नवयुग के लेखक' उनके मत से, 'उस पाठक वर्ग के लिये लिख रहे थे, जिससे वे स्वयं उत्पन्न हुये थे।'[2] उनकी सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना के मूल मे निहित यह स्थिति अपना स्वतंत्र महत्व रखती है।'

द्विवेदी युग में हिन्दी साहित्य की आधुनिक परंपरा का यथेष्ट परिमार्जन और विकास हुआ। इस युग का प्रथम महत्वपूर्ण काव्य ग्रंथ 'भारत-भारती' है जिसमें कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने देश की वर्तमान दुर्दशा पर तो आँसू बहाये ही है, भारत के बीते वैभव पर भी दृष्टिपात किया है। इस प्रवृत्ति की पर्याप्त अभिव्यक्ति गुप्त जी के अन्य काव्य-कृतियों—साकेत, पंचवटी आदि मे हुई है इस युग का प्रथम सफल महाकाव्य अयोध्यासिह उपाध्याय का 'प्रिय प्रवास' है जिसका विषय निर्वाचन श्री गुप्त के अनुसार, 'हमें यह स्मरण दिलाता है कि हमारे कवि निरतर प्राचीन आख्यानो की ओर मुड़ रहे थे और उनसे प्रेरणा पा रहे थे।'[3] लेकिन इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि 'हिन्दी के आधुनिक साहित्य मे पौराणिक पुनरावृत्ति केवल एक धारा है अधिकांश लेखक आधुनिक समस्याओ की ओर मुडते हैं, वह 'भारत भारती आदि मे स्पष्ट है।'[4] इस युग की एक प्रमुख भावना श्री गुप्त के अनुसार देशभक्ति की भावना है, जिसकी अभिव्यक्ति द्विवेदी युग के अन्य कवियों की रचनाओं मे हुई-एक भारतीय आत्मा, त्रिशूल, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान आदि की रचनाओं मे, उनके मत से उसी राष्ट्रीय परपरा का पोषण हुआ है जिसका उत्थान भारत-दुर्दशा मे हुआ था।

तृतीय चरण मे आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रौढ़तम रूप हमारे सामने आया। श्री गुप्त ने इसे काव्य मे छायावाद, उपन्यास मे प्रेमचन्द, नाटक मे प्रसाद आलोचना मे शुक्ल जी का युग के रूप मे अभिहित किया है। 'राजनीतिक दृष्टि से' उनके अनुसार, 'यह युग साम्राज्यवाद के पराभव का युग

---

१. पृष्ठ ७९—हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा
२. „ ७९—वही।
३. „ ८३—वही।
४. „ ८४—वही।

है।'[1] प्रथम महासमर मे साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव पूंजीवाद के जड से हिल जाने के बाद भारतीय जनता मे विदेशी शासन के विरुद्ध नवीन उल्लास आया। इस नवीन उल्लास की अभिव्यक्ति इस युग के साहित्य मे हुई। अपने आरम्भिक प्रयोगो मे 'पंत, निराला, महादेवी वर्मा; भगवतीचरण वर्मा, बच्चन सभी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव मे आये और इस सबो ने राष्ट्रीय भावनाओ की कविता की। पंत का 'परिवर्तन' अथवा 'बापू के प्रति' और निराला का 'बादल' और 'जागो फिर एक बार' इसके उदाहरण है।' लेकिन शीघ्र ही छायावादी कवि 'राष्ट्रीयवाद के दायरे से निकल कर अध्यात्म के धुए मे खो गये। किसी अज्ञात सोन्दर्य की खोज ही उनके काव्य का प्रमुख विषय बन गया। हिन्दी कविता की स्वस्थ सामाजिक धारा इस प्रकार जो भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग से प्रवाहित हुई थी, किंचित् काल के लिये पलायनवाद तथा निराशावाद मे खो गयी।

लेकिन इस युग के कथा साहित्य मे, विशेषतया प्रेमचन्द के उपन्यासो में इसका प्रवाह अक्षुण्य रहा। प्रेमचन्द प्रत्येक अर्थ मे जनता के कालकार थे।' इनके कथा साहित्य मे जिस जनवादी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। उसका विश्लेषण करते हुये श्री गुप्त ने कहा है—'ग्राम-जीवन के सम्पूर्ण शोषण की क्रूर कथा यहां मिलती है। जमींदार के आतंक, महाजन और पंडो के शोषण, कारिंदो और पुलिस का अत्याचार ग्राम जीवन का भयानक दैन्य और गरीबी· सभी के चित्र इस साहित्य मे अंकित है।' लेकिन प्रेमचंद के परवर्ती कथाकार श्री जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय आदि इस परंपरा को विकसित न कर सके। श्री गुप्त के शब्दो मे 'प्रेमचन्द की दृष्टि भारत के ग्राम जीवन पर लगी थी। [illegible]

जाता है, जैसे कुछ देर के लिये अकस्मात अथवा काल की गुफाओं के चिर शताब्दियों की निद्रा से जाग रंगभूमि में आ पहुँचे हों।[१] फिर भी प्रसाद के नाटकों की तथा उनके अतीत-चित्रण की सीमा है—'अतीत के चित्रण में श्री गुप्त के अनुसार, 'कलाकार सामाजिक शक्तियों को संघर्ष देख सकता है और किस प्रकार इतिहास में नया सामंजस्य स्थापित होता है, यह दिखा सकता है। 'नागयज्ञ' आदि में प्रसाद जी ने ऐसा प्रयत्न भी किया, किन्तु अधिकतर वह वर्तमान जीवन की विषमता और कुरूपता को भूलकर अतीत के स्वप्न देखने में ही निमग्न थे।[२]

हिन्दी का आलोचना साहित्य भी, इस युग में आचार्य शुक्ल की समीक्षात्मक कृतियों के माध्यम से पर्याप्त समुन्नत हुआ। 'शुक्ल जी ने हिन्दी आलोचना को अभूतपूर्व विदग्धता और गहराई दी, किन्तु आपकी शास्त्रीय दृष्टि प्राचीन कवियों की विवेचना में जिस गुण का परिचय देती है, आधुनिक साहित्य की परीक्षा में नहीं।[३] श्री गुप्त के अनुसार, 'नये साहित्य की परीक्षा के लिये, जो आधुनिक भारतीय जीवन को व्यक्त करता है, नई दृष्टि के समीक्षकों की आवश्यकता थी। वह दृष्टि शुक्ल जी के उत्तराधिकारियों को प्राप्त थी। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी, प्रो० नगेन्द्र, शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय और डॉ० रामविलास शर्मा आदि तृतीय उत्थान के आलोचक शास्त्रीय ज्ञान के साथ साथ आधुनिक साहित्य के प्रति एक अधिक सचेत और उदारभावना रखते हैं और उनकी साहित्यिक परख अधिक सच्ची है।[४]

आधुनिक हिन्दी साहित्य का चतुर्थ उत्थान जिसे गुप्त जी ने 'नई पौध' की संज्ञा दी है, सन् ३० के लगभग ही प्रारंभ हो जाता है। इसके प्रारंभ में बच्चन, नरेन्द्र आदि के रूप में कवियों की ऐसी ही पीढ़ी सामने आयी जिसकी वृत्तियाँ, श्री गुप्त के मत में 'अधिक अहम्वादी, अन्तर्मुखी तथा नियतिवादी थी—जिसकी सीमायें उनके व्यक्तिवाद ने दृढ़तर हाथों से उनके काव्य के चतुर्दिक खिंची है।[५] इस युग के कथा साहित्य में भी—इलाचन्द्र जोशी के

उपन्यास 'पर्दे की रानी, 'प्रेत और छाया' और अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' मे इस प्रवृत्ति का पर्याप्त पोषण हुआ। लेकिन १९३६ के लगभग हिन्दी साहित्य मे प्रगतिवाद के रूप मे एक सर्वथा नवीन धारा का आविर्भाव हुआ। इसकी विशेषताओ का उल्लेख करते हुये श्री गुप्त ने कहा है—'यह नवीन साहित्यिक धारा यथार्थवाद की ओर उन्मुख है, कलाकार के सामाजिक दायित्व के प्रति आग्रह दिखाती है और एक नवीन शोषण रहित संस्कृति मे आस्था रखती है। निस्सदेह इस नयी साहित्यिक प्रवृत्ति ने लेखको को उनके एकाकीपन और अहमवाद मे मुक्त किया है, अधिक स्वस्थ कला निर्माण के लिये उन्हे प्रेरित किया है . ।'[१] नई पीढी के अनेक साहित्य—कवियों मे नरेन्द्र, अचल, दिनकर, सुमन, केदार, नागार्जुन कथाकारो मे यशपाल, रांगेयराघव इसी धारा के अन्तर्गत आते है। श्री गुप्त के अनुसार, इन कलाकारो ने हिन्दी साहित्य मे एक बार फिर सामाजिक दृष्टिकोण को प्रतिष्ठित किया है।'[२] लेकिन इसके साथ ही हिन्दी कविता की दूसरी धारा, जिसका प्रारंभिक स्रोत बच्चन प्रभृति कवियो की रचनाओ मे फूटा था, प्रयोगवाद के रूप मे आज भी प्रवाहित है। यद्यपि श्री गुप्त ने यह स्वीकार किया है कि 'नवीन जीवन प्रेरणा को व्यक्त करने के लिये कला रूपो मे नये प्रयोग सफल होते हैं, फिर भी प्रयोग के लिये प्रयोग'[३] की स्थिति को उन्होने मान्यता नही दी है। 'अहवाद और प्रयोगवाद के अधकूप से आधुनिक साहित्य का निकलना निश्चित है'[४] —यह उनकी आस्था पूर्ण दृष्टि का निष्कर्ष है।

उपसंहार : समीक्षा शैली

प्रगतिवादी समीक्षा-धारा के अन्तर्गत श्री गुप्त की समीक्षाशैली अपना स्वतंत्र मूल्य रखती हैं। इनकी समीक्षा मे उस तात्विक गहराई का अभाव है जो इस धारा के अन्य समीक्षकों मे लक्षित होती है। इसीलिये स्वतन्त्र स्थापनाएँ तथा मौलिक निष्कर्ष भी इसमे उतना नही उभर सके। फिर भी, उसमे जो सरलता तथा सहजता लक्षित होती है उसे हम साहित्य समीक्षा को सामान्य जनता तक ले आने का माध्यम कह सकते है। गुप्त जी की इस विशेषता पर प्रकाश डालते हुये श्री आदित्य मिश्र ने कहा है—'गुप्त जी ने अपने आलोचनात्मक निबधो द्वारा जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह यह था कि उसको 'साहित्य'

---

१. पृष्ठ ९८—हिन्दी साहित्य की जनवादी परंपरा।
२ „ ९८—वही।
३. „ १०३—वही।
४ १०२—वही।

को ऊँची कुर्सी पर से उतारकर सामान्य और सरल धरातल पर खड़ा किया। आलोचना किसी भी विषय की हो, उसको 'पांडित्य' के हाथों से छीनकर सरल और सीधे रूप मे खड़ा करना स्वय में एक प्रगतिशील क्रियाशीलता है। आलोचना का सामान्यीकरण जनवाद की ओर उठता हुआ पहला ठीक कदम है।[1] इनकी समीक्षाशैली को हम वर्णनात्मक अथवा वस्तुपरक कह सकते हैं—'जिसमे छोटे-छोटे वाक्य स्वयं प्रमाणित मान्यताओ का विवरण देते हुये बडी सरलता से आगे बढते जाते हैं। बहुत कम ऐसा होता है कि उनकी इस सरलगति मे कभी कोई बाधा आ खड़ी हो उस शैली मे किसी रागात्मकता की छाया नही, किसी तर्क का द्वन्द्व नही और भाषा का कोई अलंकार पूर्ण व्यय नही।'[2] श्री मिश्र के शब्दो मे—'हमारे आलोचकों मे पांडित्य-प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति प्राय. पाई जाती है गुप्त जी की शैली मे उसका पूरा अभाव है।'[3]

गुप्त जी की विवेचन पद्धति उस दोष से सर्वथा मुक्त है जो प्रगतिशील समीक्षकों की कृतियो मे परस्पर आरोप-प्रत्यारोप का अतिशय वैयक्तिक अथवा दलगत वर्ण लेकर प्रस्तुत हुआ है। डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री अमृतराय की विवेचन पद्धति की तो यह बहुत बडी सीमा है—जहाँ साहित्येतर प्रसंगों के प्रवाह मे अक्सर साहित्य-समीक्षा के सूत्र खो गये है।

उनकी समीक्षा-पद्धति की अंतिम विशेषता को डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दो मे प्रस्तुत करते हुये हम कह सकते है—'प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना पद्धति की अभिव्यक्ति को कृति विशेषता मे शुद्ध रूप मे नही मानते और जटिलता को समग्र रूप मे ग्रहण करने की क्षमता रखते है। इसीलिये उनकी आलोचना यान्त्रिक न होकर गत्यात्मक रूप धारण कर लेती है जो मार्क्सवादी जीवन दृष्टि के अधिक निकट है।'[4]

अध्याय ८

अन्य प्रगतिवादी समीक्षक

अन्य प्रगतिवादी समीक्षक : अमृतराय, रांगेय राघव, नामवरसिंह

(क) अमृतराय

श्री अमृतराय की 'नई समीक्षा' मे मार्क्सवादी आलोचना के मूलभूत प्रतिमानो का विशद् विवेचन है। व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से महादेवी की कृतियो पर भी यहां उन्होने विस्तृत प्रकाश डाला है। फिर भी उनके सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन की भूमि बहुत अधिक तात्विक नहीं दिखाई पड़ती। न तो वे साधारणीकरण अथवा सामूहिक भाव का पारस्परिक संबंध दर्शाते हुये दोनो के संबंध सूत्रो का सही आकलन कर पाये हैं न समाजवाद यथार्थवाद के मूलभूत आदर्शों को ही उनकी समग्रता मे प्रस्तुत करने में समर्थ हुए है। उनका व्यावहारिक विवेचन भी वस्तुत समीक्षात्मक टिप्पणियों तक ही परिसीमित है। महादेवी की कृतियो के अतिरिक्त अन्य कृतियो तथा कृतिकारो के संबंध मे उन्होंने मात्र परिचयात्मक पद्धति ही अपनाई है। इससे हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा किसी नये स्तर को प्राप्त करने का दावा नहीं कर सकती। इनकी दूसरी कृति 'साहित्य मे संयुक्त मोर्चा' प्रगतिशील आन्दोलन के उद्‌भव तथा विकास का ही विस्तृत आख्यान प्रस्तुत करती है। वैयक्तिक आरोप प्रत्यारोप से युक्त इस कृति को साहित्यिक समीक्षा के स्तर पर परिगणित करना भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

सैद्धान्तिक समीक्षा

अपनी प्रमुख कृति 'नई समीक्षा' के अन्तर्गत अमृतराय ने मार्क्सवादी आलोचना के मूल भूत आदर्शों का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, मार्क्सवादी आलोचना के मूल मे, मार्क्स के इस सुप्रसिद्ध कथन की स्थिति है, 'मनुष्य का दैनंदिन जीवन उसकी चेतना पर आश्रित नहीं, वरन् इसके विपरीत मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक जीवन पर आश्रित होती

की ऊँची कुर्सी पर से उतारकर सामान्य और सहज धरातल पर खड़ा किया। आलोचना किसी भी विषय की हो, उसको 'पांडित्य' के हाथों से छीनकर सरल और सीधे रूप में खड़ा करना स्वयं में एक प्रगतिशील विचारशीलता है। आलोचना का सामान्यीकरण जनवाद की ओर उठता हुआ पहला ठोस कदम है।[1] इनकी समीक्षाशैली को हम वर्णनात्मक अथवा वस्तुपरक कह सकते हैं—'जिसमें छोटे-छोटे वाक्य स्वयं प्रमाणित मान्यताओं का विवरण देते हुये बड़ी सरलता से आगे बढ़ते जाते हैं। बहुत कम ऐसा होता है कि उनकी इस सरलगति में कभी कोई बाधा आ जाती हो उनकी शैली में किसी रागात्मकता को स्थान नहीं, किसी तर्क का द्वन्द्व नहीं और भाषा का कोई अलंकार पूर्ण स्थान नहीं।'[2] श्री मिश्र के शब्दों में—'हमारे आलोचकों में साहित्य-दर्शन की जो प्रवृत्ति प्राय पाई जाती है गुप्त जी की शैली में उसका पूरा अभाव है।'[3]

गुप्त जी की विवेचन पद्धति उस दोष से सर्वथा मुक्त है जो प्रगतिशील समीक्षकों की कृतियों में परस्पर 'आरोप-प्रत्यारोप' का अतिशय वैयक्तिक अथवा दलगत वर्ण लेकर प्रस्तुत हुआ है। डॉ० रामविलास शर्मा तथा श्री अमृतराय की विवेचन पद्धति की तो यह बहुत बड़ी सीमा है—जहाँ साहित्येतर प्रसंगों के प्रवाह में अक्सर साहित्य-समीक्षा के सूत्र खो गये हैं।

उनकी समीक्षा-पद्धति की अंतिम विशेषता को डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में प्रस्तुत करते हुये हम कह सकते हैं—'प्रकाशचन्द्र गुप्त की आलोचना पद्धति की अभिव्यक्ति को कृति विशेषता में शुद्ध रूप में नहीं मानते और जटिलता को समग्र रूप में ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं। इसीलिये उनकी आलोचना यान्त्रिक न होकर गत्यात्मक रूप धारण कर लेती है जो मार्क्सवादी जीवन दृष्टि के अधिक निकट है।'[4]

---

१. पृष्ठ ३३६—हिन्दी के आलोचक।
२. ,, ३३६—वही।
३. ,, ३३६—वही।
४. ,, ३७—आलोचना तथा काव्य।

साहित्य वर्ग-विभक्त समाज का साहित्य है। इसे विश्लेषित करते हुये श्री अमृतराय ने कहा है—'जो लिखित साहित्य हम तक पहुँचा है, वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिये उस पर वर्ग भेद की छाप है।' प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत प्रतिबिंबित वर्ण-भेद और जाति-भेद के वर्णन, उनके मत से, 'तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद के ही दृष्टान्त हैं।'[1]

वर्ग-युक्त समाज के अन्तर्गत शासक-वर्ग उन्हीं मान्यताओं की स्थापना करता है जो उसके स्वार्थ की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती हैं। शासक वर्ग द्वारा स्थापित मान्यतायें कालान्तर में तत्कालीन समाज की प्रामाणिक मान्यताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। लेखक या साहित्यकार इन मान्यताओं से अपनी रक्षा नहीं कर पाता और उसके साहित्य में इनका प्रभुत्व परिलक्षित होने लगता है। अमृतराय का यह कथन इस सदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—'वर्गहीन कला वर्गहीन समाज में ही उत्पन्न हो सकती है, अब तक की सारी कला, सारा साहित्य वर्ग-युक्त समाज की उपज है, इसलिये उसमें प्रतिपादित मान्यतायें वे ही हैं जो उस काल के शासक वर्ग की थीं।'[2] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार सदैव शोषक वर्ग के हितों की ही अभिव्यंजना करता है—'विशेष परिस्थितियों में ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप में अपनी ईमानदारी और अपनी सच्चाई को बनाये रखने के लिये, अपने वर्ग हितों का विरोध करना उसके लिये अनिवार्य हो जाये।'[3] फिर भी यह दृष्टान्त अपवाद के रूप में ही रखे जा सकते हैं—इन अपवादों से, "इस ऐतिहासिक सत्य पर आँच नहीं आती कि—कोई लेखक सामान्यतया अपने युग की प्रधान विचार धाराओं से पृथक नहीं रह सकता।'[4]

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित सबंध के विवेचन-क्रम में श्री अमृतराय ने साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार, "मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस मोटे मत को कि कलाकार अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का ज्यों प्रतिबिम्ब उतारता है।'[5]

---

१. पृष्ठ ७, नयी समीक्षा।
२. पृष्ठ ८, नयी समीक्षा।
३. ,, ९, वही।
४. ,, १०, वही।

है।'¹ सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ ही साहित्यकार की चेतना का भी निर्माण करती हैं। 'समाज का प्रभाव साहित्यकार पर पड़ता है और साहित्यकार का प्रभाव समाज पर', अमृत राय के मत में, 'यही मार्क्सवादी आलोचना का बीज है।'² इसी आधार पर मार्क्सवादी आलोचना को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है—'मार्क्सवादी आलोचना साहित्य की वह समाजशास्त्रीय आलोचना है जो साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए समाज और साहित्य के अन्योन्याश्रय तथा गतिशील संबंध का उद्घाटन करती है और सचेत रूप से समाज को बदलने वाले साहित्य की सृष्टि की ओर लेखक का ध्यान आकर्षित करती है।'³

सैद्धान्तिक धरातल पर, मार्क्सवादी आलोचना के समक्ष पहला प्रश्न कला अथवा साहित्य के आर्थिक आधार विषयक है। श्री अमृतराय के शब्दों में, 'मानव मस्तिष्क की अन्य सभी उपजों के समान साहित्य भी अन्ततः समाज के आर्थिक संबंधों, उत्पादन के संबंधों से निर्दिष्ट होता है।'⁴ समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्थिक धरातल पर उत्पादन के साधनों के साथ-साथ समाज भी विकसित होता है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार, उत्पादन के साधन मानव समाज के विकास के प्रारंभिक आधार हैं। उत्पादन के साधनों के विकास के साथ मानव-जीवन सामाजिक संबंधों में भी विकसित होता है। आदिम साम्यवाद, दास-युग, सामन्त-वाद और पूँजीवाद—ये क्रमशः भिन्न-भिन्न सामाजिक संबंधों के सूचक युग हैं। इस प्रकार के सामाजिक संबंधों में बंधे हुये लोगों के संघर्ष, उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता रहा है। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उत्पादन के साधनों में परिष्कार के साथ साहित्य का रूप भी परिवर्तित होता रहा है। उत्पादन के साधन चूँकि आर्थिक होते हैं अतः 'साहित्य का आधार अन्ततः आर्थिक होता है।'⁵

इसके उपरान्त, साहित्य और वर्ग-संघर्ष का संबंध मार्क्सवादी विचारकों द्वारा प्रमुख रूप से विवेच्य रहा है। उनके अनुसार, मनुष्य का समस्त

---

१. पृष्ठ १-२, नयी समीक्षा।
२ ,, २ वही।
३. ,, ४, वही।
४ ,, ३, वही।
५. ,, ३, वही।

साहित्य वर्ग-विभक्त समाज का साहित्य है। इसे विश्लेषित करते हुये भी अमृतराय ने कहा है—'जो लिखित साहित्य हम तक पहुँचा है वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिये उस पर वर्ग-भेद की छाप है।' प्राचीन साहित्य में उपलब्ध पुराणेतिहास वर्ण-भेद और जाति-भेद के वर्णन, उनके मत से, 'तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद के ही दृष्टान्त हैं।'[१]

वर्ग-युक्त समाज के अन्तर्गत शासक-वर्ग उन्हीं मान्यताओं की स्थापना करता है जो उसके स्वार्थ की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती हैं। शासक वर्ग द्वारा प्रचलित मान्यताएँ ही कालान्तर में तत्कालीन समाज की सामाजिक मान्यताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। लेखक या साहित्यकार इन मान्यताओं से अपनी रक्षा नहीं कर पाता और उसके साहित्य में इनका प्रभुत्व परिलक्षित होने लगता है। अमृतराय का यह कथन इस सदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—'वर्गहीन कला वर्गहीन समाज में ही उत्पन्न हो सकती है, अब तक की सारी कला, सारी साहित्य वर्ग-युक्त समाज की उपज है, इसलिये उसमे प्रतिपादित मान्यतायें वे ही हैं जो उस काल के शासक वर्ग की थी।'[२] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार सदैव शोषक वर्ग के हितों की ही अभिव्यंजना करता है—'विशेष परिस्थितियों में ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप में अपनी ईमानदारी और अपनी सच्चाई को बनाये रखने के लिये, अपने वर्ग हितों का विरोध करना उसके लिये अनिवार्य हो जाये।'[३] फिर भी यह दृष्टान्त अपवाद के रूप में ही रक्खे जा सकते हैं—इन अपवादों से, "इस ऐतिहासिक सत्य पर आँच नहीं आती कि—कोई लेखक सामान्यतया अपने युग की प्रधान विचार धाराओं से पृथक नहीं रह सकता।'[४]

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध के विवेचन-क्रम में श्री अमृतराय ने साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार, "मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस भोंडे मत को कि कलाकार अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का ज्यों प्रतिबिम्ब उतारता है।'[५]

---

१. पृष्ठ ७, नयी समीक्षा।
२. पृष्ठ ८, नयी समीक्षा।
३. ,, ९, वही।
४. ,, १०, वही।
५. ,, १४, वही।

साहित्य वर्ग-विभक्त समाज का साहित्य है। इसे विश्लेषित करते हुये श्री अमृतराय ने कहा है—'जो लिखित साहित्य हम तक पहुँचा है, वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिये उस पर वर्ग भेद की छाप है।' प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत प्रतिबिंबित वर्ण-भेद और जाति-भेद के वर्णन, उनके मत मे, 'तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद के ही दृष्टांत है।'[1]

वर्ग-युक्त समाज के अन्तर्गत शासक-वर्ग उन्ही मान्यताओ की स्थापना करता है जो उसके स्वार्थ की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती हैं। शासक वर्ग द्वारा स्थापित मान्यतायें कालान्तर मे तत्कालीन समाज की प्रामाणिक मान्यताओ का रूप ग्रहण कर लेती है। लेखक या साहित्यकार इन मान्यताओं मे अपनी रक्षा नही कर पाता और उसके साहित्य मे इनका प्रभुत्व परिलक्षित होने लगता है। अमृतराय का यह कथन इस सदर्भ मे विशेष उल्लेखनीय है—'वर्गहीन कला वर्गहीन समाज मे ही उत्पन्न हो सकती है, अब तक की सारी कला, सारी साहित्य वर्ग-युक्त समाज की उपज है, इसलिये उसमे प्रतिपादित मान्यतायें वे ही हैं जो उस काल के शासक वर्ग की थी।'[2] परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि साहित्यकार सदैव शोषक वर्ग के हितो की ही अभिव्यजना करता है—"विशेष परिस्थितियो मे ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप मे अपनी ईमानदारी और अपनी सच्चाई को बनाये रखने के लिये, अपने वर्ग हितो का विरोध करना उसके लिये अनिवार्य हो जाये।'[3] फिर भी यह दृष्टान्त अपवाद के रूप मे ही रक्खे जा सकते हैं—इन अपवादो से, "इस ऐतिहासिक सत्य पर आँच नही आती कि—कोई लेखक सामान्यतया अपने युग की प्रधान विचार धाराओ से पृथक नही रह सकता।'[4]

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित सबध के विवेचन-क्रम मे श्री अमृतराय ने साहित्य की स्वतत्र सत्ता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार, "मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियो से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस भोडे मत को कि कलाकार अपनी कृतियो मे तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियो का ज्यो प्रतिबिम्ब उतारता है।'[5]

---

१. पृष्ठ ७, नयी समीक्षा।
२. पृष्ठ ८, नयी समीक्षा।
३. „ ९, वही।
४. „ १०, वही।
५. „ १४, वही।

साहित्य वर्ग-विभक्त समाज का साहित्य है। इसे विश्लेषित करते हुये भी अमृतराय ने कहा है—'जो लिखित साहित्य हम तक पहुंचा है, वह वर्ग-विभक्त समाज की उपज है, इसलिये उस पर वर्ग भेद की छाप है।' प्राचीन साहित्य के अन्तर्गत प्रतिबिंबित वर्ग-भेद और जाति-भेद के वर्णन, उनके मत में, 'तत्कालीन समाज के वर्ग-भेद के ही दृष्टांत हैं।'[1]

वर्ग-युक्त समाज के अन्तर्गत शासक-वर्ग उन्हीं मान्यताओं की स्थापना करता है जो उसके स्वार्थ की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध होती हैं। शासक वर्ग द्वारा स्थापित मान्यतायें कालान्तर में तत्कालीन समाज की प्रामाणिक मान्यताओं का रूप ग्रहण कर लेती हैं। लेखक या साहित्यकार इन मान्यताओं से अपनी रक्षा नहीं कर पाता और उसके साहित्य में इनका प्रभुत्व परिलक्षित होने लगता है। अमृतराय का यह कथन इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है—'वर्गहीन कला वर्गहीन समाज में ही उत्पन्न हो सकती है, अब तक की सारी कला, सारी साहित्य वर्ग-युक्त समाज की उपज है, इसलिये उसमें प्रतिपादित मान्यतायें वे ही हैं जो उस काल के शासक वर्ग की थी।'[2] परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्यकार सदैव शोषक वर्ग के हितों की ही अभिव्यंजना करता है—'विशेष परिस्थितियों में ऐसा भी हो सकता है कि कलाकार के रूप में अपनी ईमानदारी और अपनी सच्चाई को बनाये रखने के लिये, अपने वर्ग हितों का विरोध करना उसके लिये अनिवार्य हो जाये।'[3] फिर भी यह दृष्टान्त अपवाद के रूप में ही रखने जा सकते हैं—इन अपवादों से, "इस ऐतिहासिक सत्य पर आँच नहीं आती कि—कोई लेखक सामान्यतया अपने युग की प्रधान वैचार धाराओं से पृथक नहीं रह सकता।'[4]

साहित्य और समाज के अन्योन्याश्रित संबंध के विवेचन-क्रम में श्री अमृतराय ने साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार, "मार्क्सवादी न तो कलाकार की पूर्ण, निरपेक्ष, वर्ग, समाज और तत्कालीन परिस्थितियों से ऊपर उठी हुई सत्ता को स्वीकार करता है और न इस भोंडे मत को कि कलाकार अपनी कृतियों में तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का ज्यों प्रतिबिम्ब उतारता है।'[5]

---

१. पृष्ठ ७, नयी समीक्षा।
२. पृष्ठ ८, नयी समीक्षा।
३. „ ९, वही।
४. „ १०, वही।
५. „ १४, वही।

अथवा रस सिद्धान्त को मनोविज्ञान की सहज भूमि पर ही स्वीकार कर सकते हैं किसी लोकोत्तर स्थापना के आधार पर नहीं। यह ठीक है कि साधूहिक भाव के सिद्धान्त में शोषित जनता से लेखक के तादात्म्य की जितनी बड़ी आवश्यकता अनुभव की गई है उतनी दूर तक साधारणीकरण में यह स्थिति स्पष्ट नहीं है परन्तु इससे दोनों में कोई तात्विक अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि अमृतराय जी के शब्दों में, 'लोक हृदय की बात कहते समय समीक्षक की दृष्टि विशाल जन समुदाय पर ही रहती है।'[1]

मार्क्सवादी आलोचना पर साधारणतः सामान्य मानवता (जनरल-ह्युमैनिटी) की अस्वीकृति का दोषारोपण किया जाता है। अमृतराय ने इस आरोप का सर्वथा निषेध करते हुये बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—'इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि सामान्य मानवता से अभिप्राय वर्गहीन मानवता से, वर्गों आदि ऊपर उठी हुई मानवता से है तो मार्क्सवादी निश्चय ही उसकी सत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि वर्गहीन मानवता का जन्म अभी भविष्य के गर्भ में है।'[2] सामान्य मानवता के प्रश्न पर विचार करते समय अधिकांशतः लोग एक ऐसी मानवता की कल्पना करते हैं जो वर्ग—भेद से सर्वथा मुक्त है और ऐसी मानवता को लक्ष्य करके लिखे गये मानवतावादी साहित्य में, उनकी दृष्टि से, समाज के वर्ग भेद की छाप नहीं है। परन्तु अमृतराय के अनुसार, 'यह कहना कि किसी साहित्य पर समाज के वर्ग भेद की छाप स्पष्ट या अनुमित, सीधे या आनुषंगिक रूप में नहीं है यह कहने के बराबर है कि उस पर अपने समसामयिक समाज की छाप ही नहीं है क्योंकि समाज अपने वर्ग-भेद के लिये दिये समाज है।'[3] जो लोग इसी कल्पना के आधार पर प्रगतिशील अथवा मानवतावादी साहित्य में परस्पर विरोध दर्शाते हैं वे भी एक प्रकार की भ्रान्ति की सृष्टि करते हैं। श्री अमृतराय ने इस भ्रान्ति का निषेध करते हुये कहा है—"आज का श्रेष्ठतम प्रगतिशील साहित्य विश्व के मानवतावादी साहित्य का ही क्रान्तिकारी विकास है, दोनों में जो अन्तर है वह परिस्थितिमूलक है; दोनों के मूल में प्रेरक शक्ति एक ही है—मानव प्रेम।'[4] आज के मानवतावादी साहित्य में यदि शोषित मानवता का पक्ष अधिक प्रबल है अथवा वर्ग चेतना की भूमिका उसमें प्रौढ़ है तो इसका कारण सामाजिक जीवन की परिस्थितियाँ

---

१. पृष्ठ २८, नयी समीक्षा
२. ,, २८, वही
३. नयी समीक्षा
४ ']

है। अतः 'सामान्य मानवता से यदि प्रयोजन उस विशाल मानवता से है जो जन संख्या की निन्यानबे प्रतिशत है और जो खेतो मे, खलिहानों मे, कल-कारखानो मे, दफ्तरो मे, सेना मे कार्य करती है तो मार्क्सवादी आलोचकों को इस सामान्य मानवता का अस्तित्व स्वीकार करने मे कोई कठिनाई न होगी।'[1] प्रत्येक युग के साहित्यकार के समक्ष इसी मानवता के लोकमंगल का लक्ष्य होता है और उसका साहित्य इसी मानवता की भावनाओ की अभिव्यक्ति करता आया है। मार्क्सवादी विचारको ने साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता के आधार पर ही श्रेष्ठ साहित्य के मानदण्डो का निर्माण किया है—वे कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाले साहित्य को ही उत्तम मानते है। श्री अमृतराय के अनुसार, 'जो कलाकृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियो को थपकियाँ देकर सुलाती है और उसे अफीम का नशा-सा पिलाकर जीवन के संघर्ष से विरत करती है वह निश्चय ही हीन कोटि की है।'[2] मानव जीवन से संबंध रखने वाली प्रत्येक वस्तु काव्य का उपयुक्त विषय हो सकती है, यह 'कवि की प्रतिभा, जीवन के पर्यवेक्षण की उसकी गहनता एवं व्यापकता तथा उसकी कवित्व शक्ति पर, काव्य कला पर उसके अधिकार पर निर्भर होता है कि वह उस विषय वस्तु का उचित सन्निवेश अपने कार्य मे कर पाता है या नही।'[3] यदि किसी भी कलाकृति के अन्तर्गत संवेदनीयता का अभाव है, अथवा रस का उचित नियोजन नही हो सका है तो वह कलाकार की अक्षमता का ही सूचक है—विषय वस्तु की अनुपयुक्तता का नही। इस प्रकार कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाले साहित्य की श्रेष्ठता का आधार भी रचयिता के जीवन और कला की प्रौढता पर निर्भर करता है। श्री अमृतराय के मत से 'ऐसा व्यक्ति जिसे अपनी कला पर अधिकार नही है, कर्म की प्रत्यक्ष प्रेरणा देने वाला साहित्य रचेगा तो वह निम्न कोटि का ही होगा।'[4]

मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र मे कला अथवा साहित्य के किसी प्रकार के सार्वकालिक अथवा सार्वदेशिक शाश्वत मानदण्डो की स्थिति स्वीकार नही है। अमृतराय जी का इस सन्दर्भ मे यह कथन उल्लेखनीय है, 'मार्क्सवादी आलोचक यह मानता है कि कलाकार अपने समक्ष जो मानदण्ड रखता है वह उसके वर्ग और युग की परिस्थितियो से निर्दिष्ट होने के कारण उनसे स्वतंत्र या

१. पृष्ठ २९, नयी समीक्षा
२. ,, ३५, वही
३. ,, ३३, वही
४. ,,३७, वही

निरपेक्ष नहीं हो सकता।'[1] कला के व्यापक मानदण्ड युग और समाज को स्वीकार करने वाले युग-सापेक्ष मानदण्ड होते हैं। युगसापेक्षता से हमारा तात्पर्य जीवन की वास्तविकताओं को वास्तविकताओं के रूप में स्वीकार करने और फिर अपनी प्रतिभा, अपनी विचार-शक्ति, अपनी संवेदनशीलता, अपनी कला और अभिव्यक्ति के अपने माध्यमों की मर्यादाओं के अनुसार उनमें सुधार अथवा आमूल परिवर्तन की दिशा का संकेत करने से है। साहित्यिक मूल्यांकन के मानदण्ड इसी अर्थ में निरपेक्ष कहे जा सकते हैं कि उन्हें सभी देशों और युगों के साहित्य पर घटित किया जा सकता है। अमृतराय जी ने इन उभय तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुये निम्नलिखित साहित्यिक मानदण्ड निर्धारित किये हैं—

—"जीवन के (जिसमें प्रकृति भी शामिल है) असंख्य व्यापारों के प्रति स्वस्थ, आशावादी, पौरुषशील, सक्रिय, इतिमूलक (नेति मूलक नहीं) दृष्टिकोण ; जीवन के स्वीकरण का, उसको अंगीकार करने का भाव; जीवन में आनन्द।

—मानव की रचनात्मक शक्ति में और उसी के आधार पर उसकी उन्नति और उसके भविष्य में अडिग विश्वास।

—मनुष्य के प्रति प्रेम।

—मनुष्य के सौन्दर्य-बोध को जगाने की शक्ति।

—तत्कालीन समाज के अन्याय और उत्पीड़न का विरोध।"[2]

समाजवादी यथार्थवादी

"इतिहास की गत्यात्मक शक्तियों को पढ़ सकने के कारण, उनकी दिशा और गति को वैज्ञानिक ढंग से जान सकने के कारण, समाजवाद की अनिवार्य जीत में ध्रुव विश्वास,' श्री अमृतराय के शब्दों में, समाजवादी यथार्थवाद का मुख्य परिचय है।'[3] सामाजिक जीवन में जो भूख, बेकारी, अशिक्षा आदि का जमघट दिखाई पड़ रहा है, अमानुषिकता, बर्बरता तथा दमन का जो बोलबाला है, इन सबको रेखांकित करता हुआ समाजवादी साहित्यकार, जन-एकता की उन क्रान्तिकारी शक्तियों का परिचय देता है जिनका आज निर्माण हो

१. पृष्ठ ३८-३९, नयी समीक्षा
२. ,, ४२, वही
३. ,, ४७, वही

रहा है, और जो भविष्य के गर्भ में पल रही हैं। इस अर्थ में वह प्रकृतवाद से भिन्न होगा—जो 'जीवन को जैसा देखता है, वैसा ही उसे चित्रित करता है। उसमें ईमानदारी की कमी नहीं होती, पर चूंकि उसके पास कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण *नहीं है इसलिये वह घटनाओं को विवेचन करने में असमर्थ हो जाता है*, किसी काल-विशेष में कौन शक्तियाँ काम कर रही हैं और फलस्वरूप किस ओर घटनाओं का बहाव होना जरूरी है, यह वह नहीं बता पाता।'[1] समाजवादी यथार्थ भी जीवन की वास्तविकताओं को लेकर अग्रसर होता है, वह जीवन के ह्रास के चित्र अंकित करता है लेकिन आगे बढ़कर नये जीवन के स्वप्न भी देता है। इस संबंध में अमृतराय जी का यह कथन उल्लेखनीय है—"वह सच्चा यथार्थवाद न होगा जो सिर्फ अंधेरे और मायूसी देखता है, जिसकी *नजरें सिर्फ जिन्दगी के कोढ़ पर पड़ती हैं।*'[2] इसके *विपरीत उसके साहित्य* में उन ऐतिहासिक शक्तियों की, जो आज साम्राज्यवाद की समाप्ति के लिये दृढ़ संकल्प हैं, की सच्ची अभिव्यञ्जना होगी।' इस नाते वह ट्रेजेडी की पुरानी परम्परा को छोड़कर एक मदाक्त रोमांसवाद, जिसकी जड़ यथार्थ में होती है का आनयन भी करता है। ट्रेजेडी में जो अभिन्न वातावरण के खिलाफ *अकेले मानव की हार और जीवन ह्रास का चित्र देती है, संसार आज आगे* बढ़ आया है और ह्रास में जीवन का अवसान होना अब जरूरी *नहीं है।*'[3] इसलिये उसके साहित्य में आशा के स्वप्न होंगे, प्रातःकाल की अरुणिमा का अनुराग होगा और हमारे भविष्य की किरणों का प्रकाश होगा-क्योंकि 'यथार्थ के गरल को पीकर जन क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग की जीत में आस्था बनाये रखना समाजवादी यथार्थवाद मुख्य गुण है।'[4]

श्री अमृतराय के अनुसार, 'देश के ऐतिहासिक विकास के अनुरूप क्रान्ति की जो शक्ल *होती है समाजवादी यथार्थवाद उसके साथ होता है।*'[5] अपनी आस्था और विश्वास की प्राप्ति के लिये वह जीवन के संघर्ष में सक्रिय भाग लेता है, क्रान्ति की भीषण शक्तियों का आवाहन करता है क्योंकि 'क्रान्ति की शक्तियाँ' अमृतराय जी के शब्दों में, 'भविष्य को उज्ज्वल बनाती हैं, भविष्य में

१. पृष्ठ ४९, नयी समीक्षा
२. „ ४८, वही।
३. „ ५२, वही।
४. „ ४८, वही।
५. „ ५२, वही।

अपनी शोषित जनता की है और इस बात की भूमिका तैयार करती है कि स्वयं जनता ही जोर का इतिहास लिखे।'[1]

व्यावहारिक विवेचन

महादेवी

श्री अमृतराय ने महादेवी के काव्य को मूलतः आत्म केन्द्रित तथा आत्म-लीन माना है। उनके 'आंसुओं का देश' सामान्य जीवन की भूमिका से नितान्त पृथक है—'वहां के मानदण्ड उस जगह के अपने हैं, जीवन के सारे सामाजिक यथार्थ वहां से निर्वासित हैं।' 'व्यक्तिवाद ही इस कविता का परिचय, इसका उत्स और घातक कमजोरी है।'[2] 'दीप-शिखा' की कविताओं में आज की विषमताओं से उत्पन्न संकट का हल्का संस्पर्श भले ही हो किन्तु कुल मिलाकर जीवन की कटुता के उदात्तीकरण में उनकी साधना बिखर गयी है।

महादेवी के काव्य को रहस्यवादी मानने की प्रवृत्ति का खण्डन करते हुये श्री अमृतराय ने कहा है, 'उनका काव्य वस्तुओं और स्थितियों की कल्पना भले ही कर ले किन्तु उसका आधार तो भौतिक ही रहेगा। पदार्थ जगत से उसका सम्बंध टूट नहीं सकता, और इस नाते उनकी कविता के निर्माण में उसका हाथ रहता है। इसलिये उनकी कविता को रहस्यवादी बटखरों से तौलना अनर्गल है।'[3] महादेवी के काव्य में समाज की दुर्व्यवस्था, असहाय नारी की भयावह स्थिति, व्यक्ति और समाज के परस्पर वैषम्य तथा सामाजिक संस्कारों के बीच पूर्ण रूप से विकसित न होने वाले व्यक्ति की एक हल्की छटपटाहट तो है ही जो अपनी अन्तिम परिणति में ऐकान्तिक रुदन का रूप ग्रहण कर लेती है। इसे विश्लेषित करते हुये उन्होंने कहा है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक संबंध क्रय-विक्रय के धरातल को छूने लगते हैं—'इस तरह एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति होती है जिससे सहृदय व्यक्तियों के मन को ठेस लगना स्वाभाविक है। यह ठेस ही उन्हें मानसिक इच्छा पूर्ति का मार्ग ढूंढने पर विवश करती है। श्रीमती महादेवी का वेदनामूलक रहस्यवाद भी ऐसी ही मानसिक इच्छापूर्ति है।'[4] कलात्मक सौष्ठव की दृष्टि से, अमृतराय के अनुसार,

---

१. पृष्ठ ५२, नयी समीक्षा।
२. ,, १५०, वही।
३. ,, १४८, वही।
४. ,, १४८, वही।

[illegible] महादेवी की कविता का [illegible] हुआ है। उनके [illegible] है कि [illegible] कहीं से [illegible] जा सकती [illegible] है [illegible] —इस विचार के [illegible] की [illegible] और [illegible] की अनूठी अभिव्यक्ति है—वेदना का [illegible] संकेत है। उनमें कहीं भी [illegible] अस्वाभाविकता परिलक्षित नहीं होती। कवित्व [illegible] की इस [illegible] के सम्बन्ध में अमृतराय का यह कथन [illegible] है—'महादेवी जी की कविता [illegible] में सीधी अभिव्यक्ति कम और संकेत अधिक है। अनुभूति के रंगों की गहराई और [illegible] को, उनकी गहराई की [illegible] और गहरी चोटों से आँकना सरल नहीं।'[1]

उनके काव्य-साहित्य के ठीक विपरीत 'महादेवी जी का गद्य साहित्य', श्री अमृतराय के अनुसार, 'मूलतः समाज केन्द्रित है। उसने जनता के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है। उसने समाज के दुराचरण, स्वार्थ और अभियानों का प्रतिकार किया है।—उसका मूल उत्स अपनी पीड़ा में नहीं, समाज में दिन-रात चलने वाले अन्यायों और अत्याचारों में है।'[2] महादेवी जी का गद्य-साहित्य जीवन की कठोर वास्तविकताओं के आधार पर विकसित हुआ है—उसमें महादेवी का कर्मनिष्ठ, सहज संवेदनशील और अन्याय विरोधी रूप ही मुखर है। सामाजिक जीवन के कुसंस्कारों का उच्छेदन ही लेखिका का लक्ष्य रह गया है और इसके लिये उसमें संघर्षशील चेतना का ओज है। महादेवी के काव्य तथा गद्य दोनों रूपों में इतने पार्थक्य तथा विचित्र वैषम्य की स्थिति सर्वत्र परिलक्षित होती है अमृतराय जी ने इसी वैषम्य को दृष्टिगत रखते हुए कहा है—'अतीत के चल-चित्र को पढ़कर कोई भी यह नहीं कह सकता कि उसकी लेखिका जिन्दगी से मुँह चुराकर अलग अपने शीश महल में बैठना पसंद करती है। यह ठीक है कि जिस सामाजिक अन्याय और अत्याचारों को उसने अच्छी तरह देखा और अनुभव किया है और जिसका उसने चित्रण किया है, उससे वह कोई क्रान्तिकारी निष्कर्ष नहीं निकालती, लेकिन उसने जिन्दगी से आँखें चार की हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'[4]

---

१. पृष्ठ १४४, नयी समीक्षा।

२. ,, १४४, वही।

३. ,, ११४, वही।

४. ,, ११८, वही।

प्रेमचन्दोत्तर कथाकार

प्रेमचन्दोत्तर कथा-साहित्य के अन्तर्गत श्री अमृतराय ने भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क और रामवृक्ष बेनीपुरी के कृतित्व का प्रमुख रूप से विवेचन किया है। प्रथमतः उन्होंने भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित परिचय प्रस्तुत किया है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते की कहानी का मूल सूत्र', उनके अनुसार, 'बहुत सरल और स्पष्ट है'—जिसके पात्र सामंतशाही ढंग के होते हुये भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं।[१] उपन्यास का सबसे प्रौढ़ चरित्र नायक का है—'उनके जीवन की दलील उनका दर्प-स्फीत अहं है, निराग्रह। उसे छोड़कर उनके चरित्र में जो कुछ है, वह अनिसामान्य है।[२]' वैचारिक दृष्टि से, उनके अनुसार, लेखक ने किसी स्वस्थ सामाजिक आदर्श अथवा राजनीतिक विचार-धारा की स्थापना की है। 'उपन्यास में अगर किसी राजनैतिक विचार-धारा का जोर है तो वह है आतंकवाद . व्यक्तिवादी विद्रोह की चरम निष्पत्ति।[३] उपन्यास के पात्र लेखक के इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, यही लेखक की सबसे बड़ी सीमा है। बड़े-बड़े चरित्रों को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिये लेखक ने अस्वाभाविक और विवेकहीन प्रसंगों की उद्भावना की है। श्री अमृतराय के मत से, लेखक ने 'इस तोड़-मरोड़ में उपन्यास को चौपट कर दिया है।[४]'

अश्क की 'गिरती दीवारें' उनके अनुसार अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ कृति है। उसकी 'सबसे बड़ी खूबी यह है कि लेखक ने कहीं भावुकता को नहीं आने दिया है—जो चीज जैसी देखी या गहरी अनुभव की, बिल्कुल वैसी ही, उन्हीं रंगों और गहरे रंगों में चित्रित कर दी।[५]' अपनी अनुभूतियों को अनावश्यक विस्तार देने का वह पक्षपाती नहीं है। 'इसीलिये 'गिरती दीवारें' में एक ऐसी सादगी, एक ऐसी सचाई, एक ऐसा आकर्षण है जो कम देखने को मिलता है।[६]' उपन्यास की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता की ओर संकेत करते हुये श्री अमृतराय ने कहा है—'इसमें जीवन और समाज के बारे में लम्बी-चौड़ी बहसें नहीं हैं।—दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लेखक ने

आर्य समाजी व्याख्यान दाता की शैली न अपनाकर (जैसा कि आजकल आम तौर पर हो रहा है) चित्रकार की शैली अपनाई है।[1] अश्क जी ने कहीं भी किसी पात्र के मुख से अनावश्यक बातें नहीं कहलवायी है जो उनकी सधत कला का उदाहरण है। इस उपन्यास की तीसरी विशेषता—'उसका शिष्ट स्मित हास्य है—शब्दों का हास्य या व्यंग्य नहीं, परिस्थिता मूलक हास्य।[2]' उपन्यास में कई स्थलों पर स्वस्थ और स्वाभाविक हास्य की नियोजना की गई है। अन्तिम विशेषता श्री अमृतराय के शब्दों में—'उसकी प्रवाहमयी, मुहावरे दार, साफ सुथरी भाषा है, जिसमें भावों का रंग बखूबी उतार देने की क्षमता है।[3]

फिर भी श्री अमृतराय के मत से, 'यह उपन्यास उस ऊँचाई को नहीं पहुँचता जहाँ यह कहा जा सके कि साहब, यह बहुत बुलंद पाये की तसनीफ है।[4]' इसका कारण 'उपन्यास में एक खास तरह की कमजोरी है,' और वह कमजोरी, उनके मत से, 'स्वयं कथा वस्तु की कमजोरी है।' फिर भी हिन्दी साहित्य में 'गिरती दीवारें' 'एक बहुत खास कृति है।[5]'

'बेनीपुरी जी ने,' उनके शब्दों में, 'हिन्दी साहित्य-देवी के चौरे पर ग्यारह माटी की मूरतें स्थापित की हैं।'[6] 'माटी की मूरतें' को उन्होंने महादेवी के 'अतीत के चल-चित्र' तथा 'स्मृति की रेखायें' की परम्परा में स्थान दिया है—जहाँ 'बड़े लोगों' के संस्मरण और रेखा चित्र न होकर सामान्य लोगों का वर्णन है। इस पुस्तक के सभी चरित्रों का विकास बहुत स्वाभाविक हुआ है उनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता का अंश नहीं है। लेखक की शैली यहाँ गाम्भीर्य तथा प्रसाद गुण से युक्त है। अमृतराय जी ने इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए कहा है—'भावनाओं को उभाड़ने के लिए भारी भरकम, अत्यधिक चटकीली-भटकीली-भड़कीली शब्दावली और ढेरों उद्गार-चिन्हों का प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हुआ है जिसके फलस्वरूप पुस्तक में हलकापन नहीं आने पाया।'[7] इस पुस्तक की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी शैलीगत सरसता है।

---

१. पृष्ठ १९४, नयी समीक्षा।
२. " १९४, वही।
३. " १९५, वही।
४. " १९५, वही।
५. " १९५, वही।
६. " १९६, वही।
७. " १९८, काव्य यथार्थ और प्रगति।

हुए डॉ० रांगेय राघव ने कहा है—'किसी के भाव पक्ष का प्रबल होना उसके चिन्तन में उस पक्ष का प्रबल होना है जिसे कल्पना, ग्राह्य शक्ति, संवेदनशीलता और आत्मसात कर लेने की शक्ति है।'

भारतीय आचार्यों ने भाव तथा रस को परस्पर सम्बद्ध मानते हुए काव्य को रसात्मक वाक्य की संज्ञा दी है। डॉ० रांगेय ने भी इस पक्ष का समर्थन करते हुये भाव प्रवण साहित्य को ही रसोद्रेक में समर्थ माना है। लेकिन भावपक्ष का वही रूप, उनके अनुसार, श्रेष्ठ है जिसका साधारणीकरण के साथ तादात्म्य हो और जो भावक्षेत्र को उदात्त बना सके। उन्होंने भावनात्मक तादात्म्य को ही साधारणीकरण की संज्ञा दी है। उनके अनुसार अपने विचार के भावनात्मक रूप से जब लेखक पाठक के भावनात्मक विचार को मिला देता है उस समय एक तादात्म्य का जन्म होता है। इस प्रक्रिया का माध्यम साधारणीकरण है।' उन्होंने व्यक्ति वैचित्र्यावाद तथा चमत्कारवाद का निषेध करते हुये साधारणीकरण को काव्य साहित्य का मानवीय मूल्यांकन माना है। रागात्मकता जब समाज सापेक्ष है तब उसके तादात्म्य होने का एकमात्र आश्रय उसकी विस्मय मूलकता में नहीं हो सकती, उसे तो प्रेषणीयता का आधार लेना पड़ेगा। इसी आधार पर उन्होंने मार्क्सवादी आलोचकों के साहित्यक-वर्गीकरण का विरोध किया है—वर्ग संघर्ष से सम्बंध जोड़ना ही साहित्य के मूल में नहीं है।' प्रगतिशील साहित्य की ओर लक्ष्य करते हुये उनका यह कथन द्रष्टव्य है—'यदि साहित्य समाज के यथार्थ को चित्रित करता हो, उसके लेखन से अपना वर्ग स्वार्थ खण्डित हो जाता है, प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप से वह अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित नहीं कर पाता हो, तो वह साहित्य निस्सदेह प्रगति का परिचायक है।'

अन्ततः साहित्य के प्रयोजन का विवेचन करते हुये डॉ० रांगेय राघव ने कहा है-'क्या कारण है कि महाकवियों के ग्रन्थ इतिहास रूपी जल प्लावन में हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों की भाँति दूर से मनु को अपनी ओर बुलाते हैं और विनाशान्धकार में आशा का संचार करते हैं?' साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण कर काव्य के माध्यम से उसे शक्ति देता है। व्यक्ति को उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करते हुये उसे जन कल्याण की ओर अग्रसर करता है। साहित्य के प्रयोजन को उद्घाटित करती हुयी डा० रांगेय राघव की ये पंक्तियां उल्लेखनीय हैं—'साहित्य का प्रयोजन यही ठहराता है कि वह सुन्दर ढंग से, सहज तरीके से, भाषा के माध्यम से, ऐसे भावों को

साहित्य : प्रेरणा, स्वरूप तथा प्रयोजन

(ख) रांगेय राघव

डॉ० रांगेय राघव ने 'साहित्य को समाज व्यवस्था के मानसिक प्रतिबिम्ब' की संज्ञा दी है।[१] साहित्य को मात्र आर्थिक आधारों पर परखना उनका अभीष्ट नहीं है क्योंकि अर्थ के अतिरिक्त सामाजिक जीवन की राजनीतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक परिस्थितियाँ भी, उनके अनुसार, साहित्यकार की प्रतिभा को प्रभावित करती हैं। उनकी दृष्टि में, 'प्रतिभा पूर्ण रूप से व्यक्ति-परक होते हुए भी अन्ततोगत्वा अपने आरम्भ से अन्त तक समाजगत है।' प्रतिभा का संबंध व्यक्ति की उस गुण-ग्राहकता से है जो वह ज्ञात या सहज रूप से स्वतः सामाजिक जीवन में विचारों, भावनाओं और क्रिया-कौशल के माध्यम से अपने भीतर उत्पन्न कर लेता है। इस दृष्टि से कोई भी व्यक्ति इतना महान नहीं होता कि वह पूर्णतः युग-निरपेक्ष हो क्योंकि समाज की अनेक परम्परायें आत्मसात होकर उनके व्यक्तित्व का विकास करती हैं। डॉ० रांगेय राघव के शब्दों में—'जब प्रतिभा व्यक्ति-परकता में इतना डूब जाती है कि उसका समाज से संबंध विच्छेद हो जाता है तब उसका स्रोत सूख जाता है और उसका विस्तार रुक जाता है।' किन्तु यही प्रतिभा जब युग के स्थायी मूल्यों को ग्रहण करके भाव-पक्ष को जाग्रत करने में समर्थ हो जाती है तब महान साहित्य की सृष्टि होती है।

यद्यपि साहित्य समाजगत होता है, फिर भी सामाजिक परिस्थितियों की अनुकृति मात्र नहीं है—'वह मनुष्य के सुन्दरतम भावों को जीवित रूप में उपस्थित करता है और यही कारण है कि वह इतना मनोहारी होता है।'[२] अतीत का साहित्य हमारे लिए इसीलिए मूल्यवान ▮ कि उसमें भाव-चित्रण की सफलता, मानवीयता और उसकी अन्य-अन्य-न
मान् चित्र अंकित है। 'साहित्य भी उस भावकोष का से
संचित ज्ञान का मानवीयकरण करता है, उसे सत्यात्म
जीवन शक्ति प्रदान करता है।'[३] मार्क्सवादी चिन्त
बौद्धिक चेतना का ही एक पक्ष है अतः भाव का वि
बल्कि भाव को जाग्रत करना विचार का ही कार्य

---

१. पृष्ठ ११४, नयी समीक्षा।
२. पृष्ठ ११५, काव्य, यथार्थ और प्रगति
३. वही।

(ग) डॉ० नामवरसिंह

नये समीक्षकों मे डॉ० नामवरसिंह का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। इनकी समीक्षात्मक कृतियाँ मुख्यतः प्रासंगिक विवेचन से ही सम्बद्ध है। अन्तिम कृति 'इतिहास और आलोचना' मे कतिपय सैद्धान्तिक प्रश्नो पर भी विचार किया गया है। व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से प्रवृत्ति विशेष तथा उसके विभिन्न पक्षो को केन्द्र मे रखकर किया गया छायावाद विषयक उनका विवेचन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इन कृतियो मे यद्यपि मार्क्सवादी दृष्टि का ही प्राधान्य है फिर भी उनकी वह समग्र व्याप्ति यहाँ नही लक्षित होती जो इस धारा के अन्य समीक्षको के कृतित्व मे दिखाई पड़ती है। मार्क्सवादी दृष्टि का आधार समग्र सामाजिक जीवन है, साहित्य के उद्भव तथा विकास का वही निमित्त है और अन्ततः साहित्य के प्रयोजन अथवा लक्ष्य के रूप मे उसी की स्थिति है। डॉ० नामवर की प्रायोगिक विवेचन सबधी कृतियो इस मूलभूत तथ्य पर स्वय को निरन्तर स्थित नही रख सकी है। उनके नूतन कृतित्व मे जो मुख्यत नई कहानियो से सम्बद्ध है इसका स्पष्ट अभाव देखा जा सकता है। उनकी समीक्षा का यह नूतन चरण रचना के शिल्प पक्ष की ही अधिक व्याख्या कर सका है, सम्मूर्त्तनो की, सवेदनशीलता की आदि। वस्तुतत्त्व तथा उसके सामाजिक चरित्र पर उनकी दृष्टि बहुत दूर तक नही गई है। बल्कि कई

...रों द्वारा जगाये जो मनुष्य को व्यक्ति वैचित्र्य की खाइयों मे नई
..., अनुदात नही बनायें और उसे पहले से अधिक समृद्ध बना सकें।

...योगिक विवेचन

डॉ० रांगेय राघव का प्रायोगिक विवेचन मुख्यत. आधुनिक हिन्दी कविता
... विभिन्न पक्षो से ही सम्बद्ध है। मध्य कालीन कवियों तथा काव्य प्रवृत्तियों
... सम्बद्ध उनके विवेचन को हम आनुषगिक ही कह सकते हैं। वे हिन्दी के
कतिपय अन्य प्रगतिशील समीक्षको की इस वृत्ति को जो कबीर तथा तुलसी के
काव्य मे प्रगतिशीलता के तत्व ढूढने का उपक्रम करती है अधिक उपयुक्त
नही मानते। इस आधार पर उन्होने डॉ० शर्मा के कृतित्व की पर्याप्त आलोचना
भी की है। आधुनिक हिन्दी काव्य मे प्रगतिशील भावना के उद्भव तथा
विकास का विवेचन करते हुये भी उन्होने पत के सबध मे यह मान्यता प्रस्तुत
की है कि वे कभी भी मार्क्सवादी कवि नही थे। प्रारभ से आज तक उनका
जीवन दर्शन भिन्न रहा है। सही अर्थों मे वे मानवतावादी कवि हैं और
राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरे मे सर्वप्रथम काव्य को सामन्तीय ढाँचे से मुक्त किया
है।[1] इसी तरह निराला मे भी उन्होने मार्क्सवाद के बदले वेदातवाद और
भक्ति के तत्वो की प्रधानता स्वीकार की है। उसके अनुसार, यद्यपि वर्गों के
विभेद मे निराला की सहानुभूति दलित वर्ग के साथ है किन्तु अपनी इस
मानवतावादी दृष्टि को वर्ग सघर्ष की व्याख्या करने वाले मानवतावाद का
समीपवर्ती नही माना जा सकता।[2] महादेवी वर्मा के गीतो का समाज पक्ष, उनके
शब्दो मे, 'गौण' है, 'परन्तु उन गीतो मे महादेवी ने स्त्री के प्रेम को स्वर
दिया है। यह सत्य है कि उसने समाज के बन्धनो के कारण सीधे ही न कहकर
एक विशिष्ट शैली को अपनाया है।'[3] महादेवी के इन प्रेम गीतो को डॉ०
रांगेय राघव ने उनकी प्रगतिशील भावना मे ही सम्बद्ध किया है।

व्यावहारिक समीक्षा मे सम्बद्ध उनकी नई कृति 'आधुनिक हिन्दी कवि...
मे प्रेम और शृगार' प्रचलित वाद-दृष्टि को छोड़कर काव्य का निष्पक्षतापूर्व...
मूल्याकन करने का उपक्रम करती है। काव्य के, उनके अनुसार, 'अनेक प...
होते हैं किन्तु जो उनके राग-पक्ष को प्रस्तुत करते हैं वे उनके आरम्भ...
आये हुये मात्र होते हैं। डॉ० रांगेय राघव ने इस कृति मे काव्य के राग-...

1. पृष्ठ ३२२, प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड।
2. " ३२३—वही।
3. " ...वही।

को ही प्रधानता दी है। पुरुष और नारी के सौन्दर्यमूलक आकर्षण से लेकर भोर से सांझ और फागुन से पावस तक के उद्दीपक तत्वों के विश्लेषण द्वारा प्रेम और शृंगार की गहन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न, यही इस कृति की विशेषता है। व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से, उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति, 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है। इस कृति की भूमिका में हो डॉ० रांगेय राघव ने स्पष्ट किया है कि आज की कविता का नयापन स्वाभाविक और युगानुरूप है—अपितु उन्होंने यह भी कहा है—आज का कवि अपनी सारी परम्परा को जानता है इसलिये हम उसमें विविधता पाते हैं। वस्तुतः विविधता के इसी सूत्र को—उसके विभिन्न पक्षों को विश्लेषित करना ही यहाँ लेखक का अभीष्ट है। इन कृतियों की एक ओर यह विशेषता है कि उनमें हिन्दी काव्य को वर्ग और वाद विशेष के घेरे से मुक्त रहकर परखने का प्रयत्न किया गया है वहाँ दूसरी ओर इनकी यह सीमा भी है कि इनमें लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण पूरी तरह विच्छिन्न पड़ गया है। यहाँ समस्त विवेचन के केन्द्र में काव्य के विषय तथा रूप-पक्ष की ही स्थिति स्वीकार की गई है उसे प्रभावित करने वाले सामाजिक जीवन के विभिन्न उपकरणों तथा तत्वों का सही मूल्यांकन नहीं हो सका है।

(ग) डॉ० नामवरसिंह

नये समीक्षकों में डॉ० नामवरसिंह का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। इनकी समीक्षात्मक कृतियाँ मुख्यतः प्रायोगिक विवेचन से ही सम्बद्ध है। अन्तिम कृति 'इतिहास और आलोचना' में कतिपय सैद्धान्तिक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है। व्यावहारिक समीक्षा की दृष्टि से प्रवृत्ति विशेष तथा उसके विभिन्न पक्षों को केन्द्र में रखकर किया गया छायावाद विषयक उनका विवेचन पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इन कृतियों में यद्यपि मार्क्सवादी दृष्टि का ही प्राधान्य है फिर भी उसकी वह सम्यक् व्याप्ति यहाँ नहीं लक्षित होती जो इस धारा के अन्य समीक्षकों के कृतित्व में दिखाई पड़ती है। मार्क्सवादी दृष्टि का आधार स्तम्भ सामाजिक जीवन है, साहित्य के उद्‌भव तथा विकास का वही निमित्त है और अन्ततः साहित्य के प्रयोजन अथवा लक्ष्य के रूप में उसी की स्थिति है। डॉ० नामवर की प्रायोगिक विवेचन संबंधी कृतियाँ इस मूलभूत तथ्य पर स्वयं को निरन्तर स्थित नहीं रख सकी है। उनके नूतन कृतित्व में जो मुख्यतः नई कहानियों से सम्बद्ध है इसका स्पष्ट अभाव देखा जा सकता है। उनकी समीक्षा का यह नूतन चरण रचना के शिल्प पक्ष की ही अधिक व्याख्या कर सका है, सम्पूर्तता की, संवेदनशीलता की आदि। वस्तुतत्व तथा उसके सामाजिक परिवेश पर उनकी दृष्टि बहुत दूर तक नहीं गई है। बल्कि कई

लोगों ने तो उनकी समीक्षा दृष्टि पर अस्थिरता का भी आरोप लगाया है। डॉ० नामवरसिंह की नई कृतियाँ इस आरोप को बहुत दूर तक प्रमाणित भी करती हैं।

कलात्मक सौन्दर्य का आधार

डॉ० नामवरसिंह ने साहित्य के कलात्मक नियोजन के लिये उसके अभिव्यक्ति के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक माना है। किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना ही, उनके अनुसार, साहित्य का एकमात्र लक्ष्य नहीं है क्योंकि 'उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसी की कारीगरी में सिमट जाना कोरे रीतिवादी अथवा रूपवादी साहित्य को जन्म देता है।'[1] अतः अभिव्यक्ति के माध्यमों के साथ-साथ विषय-वस्तु का उत्कर्ष भी अपेक्षित है। इसी के माध्यम से कृति में रूपात्मक सौन्दर्य की उद्भावना हो सकती है—'कहने के लिये बात बड़ी चाहिये, ढग तो उसके आवेग से स्वयं लिपटा आता है।'[2]

विषय-वस्तु का नियोजन साहित्य के अन्तर्गत किस प्रकार हो? इसका उत्तर देते हुये डॉ० नामवर ने कहा है—'कहानियों और उपन्यासों में अभिप्रेत विचार को पात्रों के जीवन और उनके पारस्परिक संबंधों के सजीव रूपों से सहज उद्भूत और ध्वनित होना चाहिये, निष्कर्ष को चित्रित प्रसंगों में अन्तर्भूत होना चाहिये, उनपर आरोपित नहीं। कविता में इन विचारों को सजीव चित्रों और प्रतिमाओं के रूप में व्यक्त होना चाहिये।'[3]

विचारों का अन्तर्भाव अथवा मूर्त-रूप-योजना तभी संभव है, जब कलाकार का जीवन-वास्तव का अधिक निकट से ज्ञान हो। जीवन की व्यापक भाव-भूमि से विच्छिन्न कलाकार की रूप-योजना अस्पष्ट एवं एकान्तिकता से ग्रस्त होती है। इसके विपरीत जिस कलाकार की दृष्टि युग-सत्य का उद्घाटन करने में समर्थ होगी उसके चित्रों और पात्रों में भी उतनी ही सजीवता होगी तथा उ की भाषा भी उतनी ही सहज, स्वाभाविक, संवेद्य और ओजस्विनी होगी सामाजिक जीवन के परिवर्तन में साहित्यकार की एक सक्रिय भूमिका हो है—'वह जीवन-संग्राम का योद्धा होता है तटस्थ दर्शक नहीं।'[4] ऐसी स्थि

---

१. पृष्ठ १७, इतिहास और आलोचना।
२. „ १९, वही।
३. „ २०, वही।
४. „ २५, वही।

समाज और साहित्य के बीच की कड़ी, लेखक का व्यक्तित्व

मार्क्सवादी समीक्षा ने साहित्य के निर्माण में लेखक के व्यक्तित्व की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की है। उसके अनुसार समाज और साहित्य के बीच लेखक की स्थिति एक कड़ी के समान होती है जो एक दूसरे को परस्पर सम्बद्ध करती है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुये डॉ० नामवरसिंह ने कहा है—'साहित्य-रचना की प्रक्रिया में समाज, लेखक और साहित्य परम्परा एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है—समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज।'[1]

'साहित्य-रचना में', उनके अनुसार, 'जब हम लेखक के व्यक्तित्व का महत्व स्वीकार करते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वयम्भू और सर्वोपरि है। लेखक के व्यक्तित्व को स्वतः सम्पूर्ण मान लेना उचित नहीं है क्योंकि उसका व्यक्तित्व एक 'विकासशील तत्व' है।[2] कुछ लोग इस तथ्य की अवहेलना कर साहित्य-निर्माण का सारा श्रेय लेखक के बुद्धि वैभव अथवा उसकी प्रतिभा को देते हैं जो उनके मत से लेखक की निजी साधना का परिणाम होता है किन्तु वास्तविकता तो यह है कि प्रतिभा या रचना शक्ति लेखक के भीतर से पैदा होने वाली चीज नहीं है बल्कि नामवर जी के शब्दों में, 'हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परम्परा की उपज होती है।[4]' किसी

---

१. पृष्ठ २३, इतिहास और आलोचना।
२. ,, ३८, वही।
३. ,, ४०, वही।
४ ,, ४१, वही।

महत्वपूर्ण कृति को देखकर सामान्यत: हमारी दृष्टि उस कृति के पीछे लगे हुये लेखक के 'सारे जीवन चरित और जी तोड़ मेहनत' की ओर नहीं जाती और इस तरह हम उसके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य का विश्लेषण करने में असमर्थ रह जाते हैं ।

लेखक के वैशिष्ट्य का आधार उसकी व्यक्तिगत इकाई के अतिरिक्त उसके संबंधों की विविधता, घनिष्ठता और जटिलता होती है। 'समाज के इतिहास के बीच प्रत्येक व्यक्ति का एक अपना भी इतिहास है, व्यक्ति-के आपसी संबंधों का ताना-बाना विविध प्रकार के व्यक्तित्वों का निर्माण किया करता है।—किसी व्यक्ति से जुड़े सबंध सूत्रों का नाम ही उसका जीवन चरित्र है।[1]' लेखक के वैशिष्ट्य की व्याख्या सच पूछें तो वस्तुवादी दृष्टि से ही संभव है अर्थात् उसके विविध संबंध-सूत्रों के आधार पर ही तथा कथित 'प्रतिभा' अथवा 'विशिष्टता' का बुद्धि संगत विश्लेषण किया जा सकता है।

'लेखक अपने व्यक्तित्व के माध्यम से समाज को साहित्य का रूप देता है।[2]' साहित्यिक-रचना के समय लेखक भावाकुलता से पूर्ण होकर 'स्वान्त. सुखाय' की घोषणा भले ही कर ले परन्तु 'इस स्वान्त. सुख' में ही 'उसकी सारी साधना और सारा व्यक्तित्व अन्तर्निहित है—दृष्टिकोण, उद्देश्य, अनुभव, अनुभूति, विचार, विश्वास वगैरह सब कुछ इसी के अन्तर्गत आ जाता है।[3]' पुनः अभिव्यक्ति के लिये जिन माध्यमों (भाषा, छंद, अथवा रूप) की आवश्यकता होती है वे समाज से ही संबंधित होते हैं। इस संदर्भ में नामवर-सिंह जी का यह कथन उल्लेखनीय है—'समाज यदि एक ओर लेखक को व्यक्तित्व के माध्यम से साहित्य-रूप ग्रहण करते समय व्यक्ति की सीमा से सीमित हो जाता है तो दूसरी ओर कवि व्यक्ति की विशिष्टता के स्पर्श से विशिष्ट हो उठता है।[4]' इसीलिये साहित्य के अन्तर्गत व्यक्त समाज का प्रत्येक चित्र उसकी सीमा का विस्तार करता है और बदले में ऐसी रचना में रचयिता स्वयं अपने क्षेत्र में महान हो जाता है।

सामाजिक संकट और साहित्य

सामयिक जीवन की परिस्थितियाँ साहित्यकार की ऐतिहासिक सीमा का

१. पृष्ठ ४१, इतिहास और आलोचना।
२. ,, ४३, वही।
[illegible] वही।
[illegible] ।

[illegible] और पूंजीवादी व्यवस्था का नाश करने के लिए अपना सारा जीवन क्यों लगा देते ?'[1] हेने और शिलर की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने सम्पूर्ण जर्मन समाज की तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध विद्रोह की आवाज उठाई।'[2] लेकिन सामाजिक ह्रास का प्रभाव इतना जबर्दस्त था कि उसमें रहने के साथ ही सामाजिक संकट का बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। समकालीन ह्रासोन्मुख वातावरण की मलिनता से समाज का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ साहित्य भी अछूता नहीं है।

फिर भी, 'ह्रास के युग में भी श्रेष्ठ साहित्य इसलिये सम्भव होता है कि सम्पूर्ण मानव समाज का एक साथ ही ह्रास नहीं हो जाता, विकास का बीज ह्रास के मन में कहीं न कहीं मौजूद रहता है।'[3] अपने युग की पतनशील भावना के विरुद्ध साहित्यकार के मन में तभी असन्तोष का जन्म होता है जब समाज के किसी न किसी धरातल पर उसके प्रति कुछ असन्तोष की भावनायें वर्तमान हों। इस सन्दर्भ में हिन्दी के भक्तिकाल तथा रीति काल का उदाहरण उपस्थित करते हुये डॉ० नामवर से कहा है—'प्रायः समान राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियों में रहते हुये भी भक्त कवि तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच भेद भरे कालिकाल के खिलाफ अपने भगवान से शिकायत करते हुये आंसुओं का अर्घ्य चढ़ाते रहे और रीतिकालीन कवि राग-रंग में मस्त रहे।'[4] क्षयशील युग में भी श्रेष्ठ साहित्य का बीज उसके लोक जीवन में ही वर्तमान रहता है—

---

१ पृष्ठ ३०, इतिहास और आलोचना।
२. ,, ३२, वही।
३ ,, ३५, वही।
४. ,, ३३, वही।

'ऊपरी स्तर की ह्रास भावना यदि साहित्य को मलिन करती है तो निचले स्तर पर दबी हुई जनता उसे संजीवन रस प्रदान करती है।'[1] ह्रास दशा में भी श्रेष्ठ साहित्य के सृजन की जो प्रेरणा यदा-कदा परिलक्षित होती है, अपने देश से बाहर अन्य देशों के नव-जागरण से भी सम्बद्ध होती है। नामवर जी के शब्दों में, 'देशान्तर का सामाजिक विकास किसी देश की ह्रास दशा में भी शक्ति का सचार करता है।'[2] किन्तु इसके साथ ही यदि एक ओर किसी देश की नव जाग्रति साहित्यकारों में प्रेरणा का स्रोत बनती है तो दूसरी ओर ह्रासशील देश का सामाजिक सकट उनके विकास में बाधक तत्व भी बन जाता है।

प्रायोगिक विवेचन

रहस्यवाद

डॉ० नामवर सिंह ने ऐतिहासिक दृष्टि से रहस्यवाद को छायावादी कविता की एक अन्तर्धारा मानते हुये उसे सर्वथा आधुनिक युग के काव्य प्रवृत्ति के रूप में मान्यता दी है। उनके अनुसार, 'रहस्य भावना प्राचीन है लेकिन रहस्यवाद सर्वथा आधुनिक विचार धारा है।'[3]

रहस्यवाद की मूल प्रवृत्ति है—परोक्ष की जिज्ञासा। इस परोक्ष की जिज्ञासा के पीछे आधुनिक युग के वैज्ञानिक आविष्कारों की स्थिति है जिन्होंने मनुष्य के मानसिक जगत में मध्य युगीन आवरणों को हटाकर जिज्ञासापूर्ण विवेक को जन्म दिया है। दूसरे, रहस्यवादी कवि के मन में जिस जिज्ञासा से उत्पन्न अज्ञात और असीम तत्व से मिलने की उत्कंठा अथवा मिलन के काल्पनिक सुख की अभिव्यंजना है वह युगीन मध्य वर्गीय असंतोष का भी परिणाम है।[4] यह असंतोष और महत्वाकांक्षा नामवर जी के शब्दों में, 'उस मध्य वर्गीय व्यक्ति की है जो मध्य युगीन पारिवारिक तथा सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर उन्मुक्त वातावरण में सांस लेने के लिये आकुल हो रहा था।'[5] असीम के प्रतिव्यक्त की गयी रहस्यवादी भावनायें, जो एक प्रकार की अस्पष्टता और दुरूहता से युक्त हैं तथा उनमें भविष्य की नवीन मर्यादाओं की स्पष्ट

---

१. पृष्ठ ३५, इतिहास और आलोचना।
२. ,, वही।
३. पृष्ठ ३४, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
४. ,, ३८, वही।
५. ,, ३८, वही।

रूपरेखा का जो अभाव परिलक्षित होता है उसे डॉ० नामवर ने 'भाववादी दृष्टिकोण की सीमा' मानी है।[1] रहस्यवादी काव्य में अस्पष्टता के कारण प्रतीकों का बाहुल्य सर्वत्र दिखाई पड़ता है और यही कारण है कि उन्होंने इसे व्यंजना प्रधान अथवा प्रतीकवादी काव्य की संज्ञा दी है।[2]

किन्तु इस अस्पष्टता के बावजूद रहस्य-भावना ने रहस्यमय तत्व के स्वरूप की भी कल्पना की है जो एक प्रकार से कवि के मन का प्रक्षेपण ही कहा जायेगा जहाँ उसे अपने सभी जगत को अभिव्यक्ति और प्रसार का अवसर प्राप्त होता है। नामवर जी के मत से, 'रहस्यवादी कवि ने दोष प्रकृति में अपने स्फीत अहं को प्रतिष्ठित किया है।'[3] प्रकृति-नियंता की खोज में रहस्यवादी कवि को उस रूप की विराटता और असीमता का भी अनुभव हुआ है जो एक प्रकार की सर्वभौम की प्रतिष्ठा है। नामवरसिंह ने इसे आधुनिक विश्ववाद की आध्यात्मिक छाया माना है—जो मनुष्य की भावनाओं को अनंत आकाश में फैल जाने पर प्राप्त हुई है।[4] परन्तु अपने वास्तविक अर्थ में, उनकी दृष्टि से, यह सामान्य व्यक्ति मानव का ही भावना स्फीत तथा कल्पना रंजित विशाल रूप है।' इसके माध्यम से कवि ने प्रकारान्तर से व्यक्ति मानव को ही विराटता अथवा गौरव देने का उपक्रम किया है जो व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की एक परिणति मात्र है।[5]

छायावाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत छायावाद का एक ऐतिहासिक महत्व है। 'खड़ी बोली कविता के स्वाभाविक विकास की चरम परिणति' स्वीकार करते हुये नामवर जी ने इसे प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी की उन कविताओं का द्योतक माना है जो १९१८ से ३६ के बीच लिखी गई।[6] इस युग में हिन्दी के अन्तर्गत जिस साहित्य का निर्माण हुआ उसमें काव्य की धारा भले ही प्रमुख रही हो फिर भी उसकी अभिव्यक्ति, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना के क्षेत्रों में भी हुई। यह ठीक है कि, 'भावात्मक और कल्पना

---

१. पृष्ठ ४०, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
२. ,, ४८.

'ऊपरी स्तर की ह्रास भावना यदि साहित्य को मलिन करती है तो निचले स्तर पर दबी हुई जनता उसे सजीवन रस प्रदान करती है।'[१] ह्रास दशा में भी श्रेष्ठ साहित्य के सृजन की जो प्रेरणा यदा-कदा परिलक्षित होती है, अपने देश से बाहर अन्य देशो के नव-जागरण से भी सम्बद्ध होती है। नामवर जी के शब्दों में, 'देशान्तर का सामाजिक विकास किसी देश की ह्रास दशा मे भी शक्ति का सचार करता है।'[२] किन्तु इसके साथ ही यदि एक ओर किसी देश की नव जाग्रति साहित्यकारो मे प्रेरणा का स्रोत बनती है तो दूसरी ओर ह्रासशील देश का सामाजिक सकट उसके विकास में बाधक तत्व भी बन जाता है।

प्रायोगिक विवेचन

रहस्यवाद

डॉ० नामवर सिंह ने ऐतिहासिक दृष्टि से रहस्यवाद को छायावादी कविता की एक अन्तर्धारा मानते हुये उसे सर्वथा आधुनिक युग के काव्य प्रवृत्ति के रूप में मान्यता दी है। उनके अनुसार, 'रहस्य भावना प्राचीन है लेकिन रहस्यवाद सर्वथा आधुनिक विचार धारा है।'[३]

रहस्यवाद की मूल प्रवृत्ति है—परोक्ष की जिज्ञासा। इस परोक्ष की जिज्ञासा के पीछे आधुनिक युग के वैज्ञानिक आविष्कारों की स्थिति है जिन्होंने मनुष्य के मानसिक जगत मे मध्य युगीन आवरणों को हटाकर जिज्ञासापूर्ण विवेक को जन्म दिया है। दूसरे, रहस्यवादी कवि के मन मे जिस जिज्ञासा से उत्पन्न अज्ञात और असीम तत्व से मिलने की उत्कंठा अथवा मिलन के काल्पनिक सुख की अभिव्यंजना है वह युगीन मध्य वर्गीय असतोष का भी परिणाम है।[४] यह असतोष और महत्वाकांक्षा नामवर जी के शब्दों मे, 'उस मध्य वर्गीय व्यक्ति की है जो मध्य युगीन पारिवारिक तथा सामाजिक रूढ़ियों को तोडकर उन्मुक्त वातावरण मे सास लेने के लिये आकुल हो रहा था।'[५] असीम के प्रतिव्यक्त की गयी रहस्यवादी भावनायें, जो एक प्रकार की अस्पष्टता और दुरूहता से युक्त हैं तथा उनमे भविष्य की नवीन मर्यादाओं की स्पष्ट

१. पृष्ठ ३५, इतिहास और
२. " वही।
३. पृष्ठ ३४, आधुनिक स
४. " ३८, वही।
५. " ३८, वही।

है। 'छायावादी कल्पना केवल अलंकारों और प्रतीकों की योजना करने वाली सामान्य प्रवृत्ति नहीं है बल्कि नामवर जी के मत से, 'वह सत्यान्वेषी अन्तंदृष्टि है।'[1] अतीत की ओर स्नेहमुग्ध दृष्टि और उसके पुनंप्रतिष्ठा की आकांक्षा, एक सुन्दर-लोक का निर्माण तथा जगत जीवन को समझने की अन्तंदृष्टि छायावादी कल्पना के ही परिणाम हैं। 'छायावाद के अनुभूति प्रवण कवियों ने', नामवर जी के अनुसार, 'वर्ण, ध्वनि, गंध, स्पर्श, रस आदि के सूक्ष्म ऐन्द्रिय बोध का परिचय दिया है।'[2] परन्तु कल्पना के अतिरेक ने छायावादी काव्य में 'दुर्बोध्य उलझनें तथा अस्पष्ट भावों की सृष्टि' भी की है।[3] अप्रस्तुत योजना के प्रवाह में कहीं-कहीं वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य का नितान्त लोप सा हो गया है। यह उसकी कल्पना का दुर्बल पक्ष है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में भक्ति-काल के बाद छायावादी काव्य का नाम उल्लेखनीय है। इस युग में कल्पना के पंख पाकर कविता उन्मुक्त उड़ चली है। इन कवियों में शब्द-चयन का मुख्य सिद्धान्त श्रुति माधुर्य रहा है[4]—अतः छोटे-छोटे मधुमय शब्दों की ही प्रधानता सर्वत्र लक्षित होती है। कहीं-कहीं यही मधुरता अनावश्यक मोह के कारण शब्दों की अतिशयता का भी कारण बन गयी है। शब्द-चयन की तरह छन्द और काव्य-संगीत के क्षेत्र में भी छायावादी भावावेग ने नई दिशाओं की ओर प्रयास किया है। यहाँ दोनों की पूर्ववर्ती छंद-परम्परा का विरोध करते हुए छायावादी कवि ने छन्द-प्रकृति का मौलिक आधार भाव लय माना है। नामवर जी के मत में, 'छायावाद ने मुक्त छंद का जो प्रचलन किया वह भाव स्वच्छन्दता की आवश्यकता से प्रेरित होकर।'[5] अलंकार-योजना की दृष्टि से छायावाद हिन्दी काव्य में अद्वितीय कहा जा सकता है[6]—लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का विकास छायावाद अलंकार-योजना की मौलिक देन है।' कल्पना प्रधान काव्य में अनूठी उपमाओं और प्रतीकों का बाहुल्य तथा भाव-विह्वल हृदय से लाक्षणिक वक्रता भरी भाषा का निकलना स्वाभाविक है।'[7] किन्तु

---

१. पृष्ठ ७७, छायावाद।
२. „ १९, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
३. „ २१, वही।
४. „ ११०, छायावाद।
५. „ १२२, छायावाद।
६. „ २९, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
७. वही।

प्रवण जीवन-दृष्टि होने के कारण ही छायावाद की अभिव्यक्ति मुख्यतः रचनात्मक साहित्य और उसमें भी केवल कविता में हुई।'[1]

डॉ० नामवर ने व्यक्तिवाद को ही छायावादी कविता के विविध वृत्तों का केन्द्र बिन्दु माना है।[2] बीसवीं शताब्दी की हिन्दी-काव्य धारा का पाठक जब छायावाद की सीमा में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम उसे छायावाद की वैयक्तिक अभिव्यक्ति के स्वर सुनाई पड़ते हैं। छायावादी कवि ने व्यक्ति-विरोधी सामाजिकता के प्रतिरोध में अपने व्यक्तित्व की स्थापना की है इसलिये उसके प्रणयानुभूति के सहज उद्गार तथा वैयक्तिक विद्रोह का उद्घोष उसके 'आप बीती के अनावृत आख्यान' है।[3] सामाजिकता के कठोर प्रहार से अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिये छायावादी कवि एकांत की खोज में व्याकुल है—उसे प्रकृति की कल्पना-सुखद छाया ही भली लगती है।

'छायावाद ने वस्तुगत सौन्दर्य के सूक्ष्म स्तरों का उद्घाटन करके हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है।'[4] इस युग के कवि का आकर्षण वस्तु के बाह्य आकार में न होकर उसके अन्तर्गत निहित भाव अथवा सूक्ष्म छाया में है। प्रकृति के अन्तःस्पन्दन को रेखांकित करते हुये छायावाद ने 'मानव-सौन्दर्य की स्थूल शारीरिकता के स्थान पर स्वस्थ, मांसल तथा भावात्मक सुषमा' की प्रतिष्ठा की है।[5] व्यक्तिनिष्ठ दृष्टिकोण का अतिरेक इस युग में एक ऐसी भावुकता की अवतारणा करता है जिसमें कवि की मन.स्थिति असामाजिकता तथा एकान्तप्रियता के गहरे विषाद में रग गई है। डॉ० नामवर के शब्दों में, 'छायावादी कवि में उच्छल भावुकता का अबाध उद्गार है, यहाँ तक कि भावुकता छायावाद का पर्याय हो गई है।'[6]

'जिज्ञासा और कुतूहल छायावाद का मगलाचरण है'[7] और इसी जिज्ञासा ने छायावादी कवि को कल्पना शक्ति से विभूषित किया है। तीव्र भावावेग से प्रसूत उदात्त कल्पना छायावाद की मौलिक विशेषता

---

१. ,, ३१, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
२. ,, ८, वही।
३. ,, ७, वही।
४. ,, ९, वही।
५. पृष्ठ १०, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ :
६. ,, १३, वही।
७. ,, ७६, छायावाद।

उपमाओं के साथ चित्रात्मकता का प्रवाह उस युग की कविता की बड़ी विशेषता है।

छायावाद का हिन्दी साहित्य को एक राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक देन भी है। नामवर जी के मत से, 'छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से।'[1] इस युग के काव्य ने नारी को 'अपमान के पंक और वासना के पर्यंक से निकालकर देवी और सहचरी का उच्चासन दिया। अन्ततः निष्कर्ष रूप में इस युग के काव्य की ओर लक्ष्य करते हुए नामवर जी ने कहा है—'छायावाद एक प्रवाहमान काव्य धारा थी; एक ऐतिहासिक उत्थान के साथ उसका उदय हुआ और उसी के साथ उसका क्रमिक विकास तथा ह्रास हुआ।'

प्रगतिवाद

डॉ० नामवर के अनुसार, 'छायावाद के गर्भ से सन् १९३० के आसपास नवीन सामाजिक चेतना से युक्त जिस साहित्य धारा का जन्म हुआ उसे सन् १९३६ में प्रगतिशील साहित्य अथवा प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई।'[2] इसकी अवतारणा के साथ ही जिस आधार पर इसका सर्वाधिक विरोध हुआ था—इसका भारतीय अथवा अभारतीय रूप। कुछ आलोचकों ने मार्क्सवाद पर आधारित होने तथा एक विदेशी वातावरण में स्थापित होने के कारण इसे सर्वथा अभारतीय अथवा विदेशी विचार-धारा के रूप में अभिहित किया। इस धारणा का विरोध करते हुए नामवर जी ने कहा है—'प्रगतिवाद हिन्दी में अपने समय पर ही पैदा हुआ—ऐसे समय जब हिन्दी जाति और साहित्य की जमीन उसके अनुकूल तैयार हो गई थी।'[3] अत. प्रगतिवाद हिन्दी साहित्य की परम्परा का स्वाभाविक विकास है।[4]

अपने विकास के प्रारम्भिक सोपान में प्रगतिवाद का जो स्वरूप पन्त, निराला तथा दिनकर एवं भगवतीचरण वर्मा के काव्य में परिलक्षित हुआ उनमें छायावादी संस्कारों और प्रगतिवादी विवेक संघर्ष ही प्रमुख है। 'हिन्दी के लेखकों ने' जैसा कि नामवर जी ने कहा है—"बाहर के मार्क्सवादी प्रभाव को

---

१. पृष्ठ १५, छायावाद।
२. „ ३०, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
३. „ ६०, वही।
४. „ ६१, वही।

प्रयोगवाद की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता काव्य के क्षेत्र में भावुकता का परिहार करते हुए बौद्धिकता का सन्निवेश है। प्रयोगवाद के प्रारंभिक काल में ही भावुकता 'दुर्बलता का पर्याय' बन गयी और कवि प्रत्येक क्षेत्र में बौद्धिकता के कवच के साथ जाने का प्रयत्न करने लगा।[४] प्रयोगवादी काव्य में बौद्धिकता के इस आरोप को नामवर जी ने सामाजिक दबाव का सहज परिणाम माना है।[५] उनकी दृष्टि से सामाजिक भय से आक्रान्त होकर ही प्रयोगवादी कवि ने प्रेम को बौद्धिकता का आवरण पहनाया है। छायावादी काव्य के अन्तर्गत जिस प्रकार अनुभूति के पक्ष पर बल दिया जाता था उसके विपरीत प्रयोगवादी काव्य में संवेदना का पक्ष प्रबल हो गया। 'डी एसोसियेशन' से प्रभावित होने के कारण इस काव्य के अन्तर्गत व्याप्त स्मृति चित्रों में एक शून्यता अथवा क्रमिकता का अभाव परिलक्षित होता है जिसे डॉ० नामवर ने 'सुररियलिस्ट मनोवृत्ति' का परिचायक माना है।[६]

---

१. पृष्ठ १०७, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
२. " ११४, वही।
३. " ११५, वही।
४. " ११७, वही।
५. " ११८, वही।
६. " १२३, वही।

कला पक्ष के इस वैशिष्ट्य को रेखांकित करती हुई नामवर जी की ये पंक्तियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—'प्रयोगवाद की कटी-छटी नव कविता के मुकाबले प्रगतिशील कवितायें प्रायः अनगढ और बेतरतीब उगी हुई घासों और फूलों की वनस्थली प्रतीत होती हैं लेकिन उनके इस जंगलीपन में भी आकर्षण है।'[1]

कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना के क्षेत्र में प्रगतिवाद की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को दृष्टिगत रखते हुये यह कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद छायावादी युग के बाद की प्रमुख साहित्य धारा है। 'प्रगतिवाद का इतिहास' नामवर जी के मत से, 'साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है जो केवल राजनीतिक जागरण से आरंभ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर—अग्रसर होता जा रहा है।[2]' निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाये तो उनके शब्दों में 'प्राणशक्ति और भविष्य की संभावना, वर्तमान प्रगतिशील साहित्य में सबसे अधिक है।[3]'

प्रयोगवाद

ऐतिहासिक दृष्टि से नामवर जी ने प्रयोगवाद को 'उत्तर-छायावादी समाज विरोधी अतिशय व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढ़ाव' माना है।[4] उनके अनुसार, 'चरम व्यक्तिवाद ही प्रयोगवाद का केन्द्र बिन्दु है और विभिन्न राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक मान्यताओं के रूप में यह संकीर्ण व्यक्तिवाद अपने को ही व्यक्त करता है।'[5] हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद के आविर्भाव के मूल में जिन सामाजिक कारणों की स्थिति है उनमें मुख्यतः मध्यवर्गीय वैयक्तिक प्रवृत्ति का वर्ण ही सर्वाधिक प्रगाढ़ है। मध्यवर्गीय व्यवस्था की तीव्र एवं कठोर वास्तविकता के प्रतिरोध में जिस संघर्ष और युयुत्सु-भाव की आकांक्षायें कवि के मन में आविर्भूत हुई वे स्थिर न रह सकी और अन्ततः कवि को समाज-व्यवस्था के पलायन के समक्ष 'स्थिर-समर्पण' करना पड़ा।[6] उसमें इतना साहस न था कि वह युगीन प्रगतिशील धारा का साथ दे और

---

१. पृष्ठ ८६, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ।
२. " ९३, वही।
३. " १००, वही।
४. " १०३, वही।
५. " १०३, वही।
६. " १०७, वही।

'प्रयोगवाद की यथार्थवादी, अन्तर्मुखी तथा बौद्धिक प्रवृत्ति ने' नामवर जी के अनुसार, 'कविता के शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, छंद-संगीत और प्रतीक-योजना को भी प्रभावित किया है।'[1] छायावादियों के विपरीत प्रयोगवादी कवियों ने 'कल्पना-कल्पित' तथा 'कुसुम-कोमल' शब्दों के स्थान पर बुद्धि-प्रसूत और क्लिष्ट शब्दों की नियोजना की है। डॉ० नामवर के मत से, उनकी परवर्ती शब्द-योजना ओज और भास्वरता से हटकर टूटे हृदय के निर्जीव और दुर्बल शब्दोद्गार मात्र रह गयी है। प्रयोगवादी कवियों का वाक्य-विन्यास भी क्रमशः दूरान्वय दोष से मुक्त होकर छोटे-छोटे वाक्यों में सुगठित होता गया है।[2] प्रतीक-योजना के क्षेत्र में भी प्रयोगवाद छायावाद की लाक्षणिकता से मुक्त होकर संकेत गर्भी प्रतीकों का प्रयोग किया है।[3]

फ़ीर भी, 'प्रयोगवादी कवितायें,' डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में, 'मध्य वर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र हैं। इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अन्तर्मुखता, पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।'[4] कुल मिलाकर 'हिन्दी कविता के इतिहास मे 'प्रयोगवाद ने, 'सूक्ष्म संवेदना और गहन अभिव्यंजना सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण निधि दी है।'[5]

अन्य समीक्षक

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षक का अधुनातन रूप प्रस्तुत करने वाले विचारको मे श्री चन्द्रबली सिंह, गजानन माधव मुक्तिबोध, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ० शिवकुमार मिश्र तथा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का कृतित्व भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। आधुनिक साहित्य की प्रगति को केन्द्र मे रखकर प्रायः इन सभी विचारको ने प्रगतिवादी जीवन—दृष्टि से सम्पृक्त होकर व्यावहारिक समीक्ष के क्षेत्र मे प्रयाण किया है।

श्री चन्द्रबली सिंह ने अपनी एक मात्र आलोचनात्मक कृति लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत साहित्य को मानव के व्यापक सांस्कृतिक प्रयासो के एक अभिन्न अंग के रूप मे ग्रहण करते हुये आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख पुरस्कर्त्ताओ का मूल्यांकन किया है। जहाँ तक सैद्धान्तिक समीक्षा व

---

१. पृष्ठ १२६, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
२. ,, १२९ वही।
३. ,, १३१, वही।
४. ,, १३४-१३५, वही।
५. ,, १३४-१३५, वही।

अपने ऐतिहासिक विवेचन के अन्तर्गत छायावादी युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों का उल्लेख करते हुये उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि "छायावादी युग भक्तिकाल की ही तरह एक महान सांस्कृतिक आन्दोलन के उत्कर्ष का युग रहा है। जीवन की जो व्यापक उदार कल्पना और उस कल्पना को शब्दों और प्रतीकों में उतारने का जो आकुल प्रयास हमें छायावादी युग में दीख पड़ता है वह भक्तिकाल को छोड़कर हिन्दी के किसी भी युग या काल में नहीं दीख पड़ता।"[४] उनकी दृष्टि में छायावादी युग स्वयं एक क्रान्तिकारी उद्देश्य से परिचालित था और यह था हिन्दी-कविता को द्विवेदी-युग के थोथे आदर्शवाद की शृंखला से जकड़े हुये जीवन को अनुभूतियों और कल्पनाओं के एक अभिनव विस्तृत लोक में लाकर उन्मुक्त करना। किन्तु छायावाद की

---

१. देखिये, ज्ञापन, 'लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य,' चन्द्रबली सिंह
२. पृष्ठ १४९, वही
३.
४.

'प्रयोगवाद की यथार्थवादी, अन्तर्मुखी तथा बौद्धिक प्रवृत्ति ने' नामवर जी के अनुसार, 'कविता के शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास, छंद-संगीत और प्रतीक-योजना को भी प्रभावित किया है।'[1] छायावादियों के विपरीत प्रयोगवादी कवियों ने 'कल्पना-कल्पित' तथा 'कुसुम-कोमल' शब्दों के स्थान पर बुद्धि-प्रसूत और विलष्ट शब्दों की नियोजना की है। डॉ० नामवर के मत से, उनकी परवर्ती शब्द-योजना ओज और भास्वरता से हटकर टूटे हृदय के निर्जीव और दुर्बल शब्दोद्गार मात्र रह गयी है। प्रयोगवादी कवियों का वाक्य-विन्यास भी क्रमशः दूरान्वय दोष से मुक्त होकर छोटे-छोटे वाक्यों में सुगठित होता गया है।[2] प्रतीक-योजना के क्षेत्र में भी प्रयोगवाद छायावाद की सार्वाणिकता से मुक्त होकर संकेत-गर्भी प्रतीकों का प्रयोग किया है।[3]

फीर भी, 'प्रयोगवादी कवितायें,' डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में, 'मध्य वर्गीय जीवन का यथार्थ चित्र हैं। इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अन्तर्मुखता, पलायन आदि का बड़ा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।'[4] कुल मिलाकर 'हिन्दी कविता के इतिहास में 'प्रयोगवाद ने, 'सूक्ष्म संवेदना और गहन अभिव्यंजना सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण निधि दी है।'[5]

अन्य समीक्षक

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षक का अधुनातन रूप प्रस्तुत करने वाले विचारकों में श्री चन्द्रबली सिंह, गजानन माधव मुक्तिबोध, भगवतशरण उपाध्याय, डॉ० शिवकुमार मिश्र तथा विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का कृतित्व भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है। आधुनिक साहित्य की प्रगति को केन्द्र में रखकर प्राय' इन सभी विचारकों ने प्रगतिवादी जीवन—दृष्टि से सम्पृक्त होकर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में प्रयाण किया है।

श्री चन्द्रबली सिंह ने अपनी एक मात्र आलोचनात्मक कृति लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत साहित्य को मानव के व्यापक सांस्कृतिक प्रयासों के एक अभिन्न अंग के रूप में ग्रहण करते हुये आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख पुरस्कर्ताओं का मूल्यांकन किया है। जहाँ तक सैद्धान्तिक समीक्षा का

---

१. पृष्ठ १२६, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
२. " १२९ वही।
३. " १३१, वही।
४. " १३४-१३५, वही।
" १३४-१३५, वही।

[illegible] असर बहुत पड़ता है।

अपने ऐतिहासिक विवेचन के अन्तर्गत छायावादी युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों का उल्लेख करते हुये उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि "छायावादी युग भक्तिकाल की ही तरह एक महान सांस्कृतिक आन्दोलन के उत्कर्ष का युग रहा है। जीवन की जो व्यापक उदार कल्पना और उस कल्पना को शब्दों और प्रतीकों में उतारने का जो आकुल प्रयास हमें छायावादी युग में दीख पड़ता है वह भक्तिकाल को छोड़कर हिन्दी के किसी भी युग या काल में नहीं दीख पड़ता।"[४] उनकी दृष्टि में छायावादी युग स्वयं एक क्रान्तिकारी उद्देश्य से परिचालित था और यह था हिन्दी-कविता को द्विवेदी-युग के थोथे आदर्शवाद की शृंखला में जकड़े हुये जीवन की अनुभूतियों और कल्पनाओं को एक अभिनव विस्तृत लोक में लाकर उन्मुक्त करना। किन्तु छायावाद की

---

१. देखिये, भाषण, 'लोक दृष्टि और हिन्दी साहित्य,' चन्द्रबली सिंह
२. पृष्ठ १४९, वही
३. [illegible]
४. [illegible]

यह प्रगतिशीलता चिरस्थायी न बन सकी। सामाजिक यथार्थताओं के समक्ष उनकी कल्पना की उड़ान झूठी जान पड़ी और मध्य वर्गीय कवि मानस धरती के यथार्थ को झेल न सका। ऐसी स्थिति में कवि की आस्था समाज से टूटती और छायावाद के अन्तिम काल में एक निराशा जनक परिवेश का निर्माण किया जाने लगा। इस अनिश्चयात्मक तथा निराशाजनक स्थिति का परिहार प्रगतिवादी जीवन दृष्टि ने किया। छायावाद और प्रगतिवाद के संधिकाल को चन्द्रबली जी के शब्दों में कह सकते हैं—"यह युग है स्वप्न बनाम जागरण का नभ बनाम धरती का, नाश बनाम निर्माण का।"[१] प्रगतिवाद के पश्चात् प्रयोगवादी साहित्य का जन्म होता है जो आधुनिकता और नयेपन के नाम पर ह्रासशील मनोवृत्तियों को प्रश्रय देता है। चन्द्रबली जी ने इसे पूंजीवादी अनास्था और विघटन का साहित्य माना है। इस संबंध में उनकी यह दृढ़ धारणा है कि—"ये लोग ऐसे दमघोट और कुंठावादी साहित्य का निर्माण कर रहे हैं जिसमें सामूहिक सांस्कृतिक उत्थान की उपेक्षा की जाती है जो मानव की क्षमता और सामर्थ्य को, दुनिया को बदलने की शक्ति को, आंखों की ओट करके आगे बढ़ाना चाहता है, मगर बढ़ नहीं सकता।"[२]

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के क्षेत्र में श्री गजानन माधव मुक्त बोध का प्रवेश एक विशिष्ट कोटि का है। प्रसाद जी की सुप्रसिद्ध कृति 'कामायनी' का पुनर्मूल्यांकन करते हुये मुक्ति बोध जी ने सर्वप्रथम प्रसाद जी को उनके युगीन परिवेश से संबद्ध करके देखने का प्रयास किया है और यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रसाद ने समकालीन जीवन को उसकी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक हलचलों की विश्व-भूमिका के धरातल पर प्रतिष्ठित करके एक 'फैंटेसी' के माध्यम से विश्लेषित-विवेचित किया है। कामायनी के संबंध में मुक्तिबोध जी की यह सर्वथा नवीन और मौलिक उद्‌भावना कही जा सकती है। कामायनी को 'साकेत' अथवा 'प्रिय प्रवास' की भाँति मात्र एक कथा-काव्य के रूप में न स्वीकार करते हुये उन्होंने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है—"कामायनी की कथा केवल एक फैंटेसी है। जिस प्रकार, एक फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित विश्वास और इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है उसी प्रकार 'कामायनी' में भी हुआ है। कामायनीकार के हृदय में चिरकाल से संचित जो गरेदनात्मक प्रतिक्रियायें हैं, जो तीव्र दंश है, जो निगूढ़ आघात

१. पृष्ठ २, 'लोक
२. ,, १२८, ८

व्याख्यान के सूत्र हैं। ये सब प्रतिक्रियायें, ये सब देश और आघात जो आलोचनात्मक वेदना से युक्त होकर उस फैंटेसी मे प्रकट हुये है, जिसे कामायनी कहते हैं।"[1] दूसरे शब्दो मे, प्रसाद जी ने कामायनी मे एक विश फैंटेसी की सृष्टि की है तथा उसके अन्तर्गत स्वानुभूत जीवन समस्या को परिवेश मे संलग्न कर उपस्थित किया है और उस जीवन-समस्या का दार्शनिक निदान भी प्रस्तुत किया है। प्रसाद जी एक ऐतिहासिक बुद्धि सम्पन्न कलाकार थे। वे मानव-नियति के संबंध मे तो एक दार्शनिक धार रखते ही थे, समाज और जाति के भाग्य के संबंध में भी उनके मनमे सुनिश्चित धारणा थी। लेकिन जैसा कि मुक्ति बोध जी ने कहा है—"प्रस जी के पास कोई वैज्ञानिक इतिहास-दृष्टि नही थी। प्रसाद जी को सम और जाति ने अर्थात् आधुनिक जीवन-जगत ने जो दृष्टि प्रदान की—वह थी राष्ट्रवादी सास्कृतिक अभ्युत्थान से प्रेरित।[2]" अन्त मे हम कह सकते हैं कामायनीकार अपने युग से मात्र प्रभावित ही नहीं था बल्कि अपनी यु समस्याओ के प्रति उसने बहुत आवेग और विश्वास के साथ प्रतिक्रियायें है। अत. कामायनी का सुचारु गति से अध्ययन करने के लिये हमे उस रचयिता के व्यक्तित्व, उसके सामाजिक सदर्भ, उस व्यक्तित्व ■ अपने परिवे परिस्थिति से आवयविक (organic) सबध और उसके जीवन-निष्कर्ष अध्ययन करना आवश्यक है। श्री भगवतशरण उपाध्याय मूलतः प्राचीन भा तीय तथा पाश्चात्य इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान हैं। अतः उनकी साहित्य-चिन सबन्धी कृतियां तथा लेख भी एक प्रकार की शोधात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से उद्भूत हैं। साहित्य-समीक्षा सबधी यों तो उनके अधिकांश निष्कर्ष देश विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित स्फुट निबन्धो मे बिखरे पड़े हैं फिर भ जहाँ तक उनकी मूलभूति मान्यताओ का प्रश्न है 'साहित्य और कला' शीर्ष कृति मे हमें उनका संक्षिप्त परिचय उपलब्ध होता है।

प्रायः सभी प्रगतिवादी समीक्षकों ने साहित्य की सोद्देश्यता पर बल दिय है। उपाध्याय जी ने इस सबन्ध मे अपनी मान्यता व्यक्त करते हुये कहा है "यदि साहित्य का प्रधान उद्देश्य परक है और यदि कवि भी मनुष्य को उसके उचित स्थान मे प्रतिष्ठित करने के पुण्य कार्य मे ध्यान बटाना चाहता है तो निश्चय उसका साहित्य शक्तिमान और प्रेरक होगा।"[3] लेकिन इसका अर्थ

---

१. पृष्ठ २, कामायनी एक पुनर्विचार, गजानन माधव मुक्ति बोध।
२. पृष्ठ १२, वही।
३. पृष्ठ . और कला, भगवत शरण उपाध्याय।

यह नहीं है कि साहित्य की सोद्देश्यता उसकी कलात्मकता अथवा उसके काव्य-गुणों का तिरस्कार करके विकसित हो। इस सबन्ध में उपाध्याय जी का मत है—"साहित्य का निर्माण पद-लालित्य, रसाधान और अलंकरण से होता है। इनका शरीर पाकर साहित्य सब भावों की अन्तरात्मा धारण करता है तभी वह सत्साहित्य बनता है। परन्तु जैसे सौन्दर्य के सारे अवयवों से युक्त प्राणी भी प्रभाव-रहित हो सकता है, वैसे ही पद-लालित्य, रस और अलंकारों से युक्त साहित्य भी भावानुबद्ध होकर निश्चय ही प्रेरक हो जाये यह आवश्यक नहीं है। प्रेरणा के लिये इन सबसे परे एक वस्तु होती है और वह है उसका उद्देश्य परक लक्ष्य केवल कल्याण का अन्तरंग।"[1]

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा को नई भूमियों पर विकसित करने वाले आलोचकों में डॉ० शिवकुमार मिश्र का कृतित्व भी उल्लेखनीय है। यद्यपि उन्होंने प्रगतिवादी समीक्षा के सैद्धान्तिक प्रश्नों पर भी अपनी कृतियों तथा फुटकल निबंधों में यथावसर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं परन्तु उनका अधिकांश विवेचन व्यावहारिक समीक्षा के ही अन्तर्गत सक्रिय है। 'समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक 'आलोचना' पत्रिका में प्रकाशित अपने निबन्ध में उन्होंने यथार्थवाद सबंधी इतर दृष्टियों के संदर्भ में समाजवादी यथार्थवाद की स्वस्थ तथा उच्चतर भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस सबंध में उनकी यह कि यथार्थवाद सबंधी अब तक की समस्त आकृतियों की अपेक्षा समाजवादी यथार्थवाद की आकृति अधिक प्रशस्त जीवंत तथा सम्पूर्ण है, हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत समाजवादी यथार्थवाद सम्बन्धी चिन्तन को एक नया आधार देती है।

अपनी नव्यतम कृति 'नया हिन्दी काव्य' के अन्तर्गत छायावादोत्तर का सृष्टि को हिन्दी कविता की विकासमान परम्परा के एक अंग के रूप में प्रह करते हुए उन्होंने स्वस्थ सामाजिक भूमिका पर उसका मूल्यांकन किया है काव्य अथवा साहित्य को मात्र व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के रूप स्वीकार करते हुए उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया है कि "अनास्था जीवन-दृष्टि तथा प्रतिक्रिया महान काव्य की जन्मदात्री नहीं बन सक महानकाव्य आस्था विश्वास और जनजीवन के प्रगतिगामी स्वरों का ह परिणाम होते हैं।"[2] आधुनिकता और नवीनता के नाम पर आधुनिक हिन्दी

१, पृ० ४१, साहित्य और कला, भगवतशरण उपाध्याय।

...० आमुख, नया हिन्दी क... डॉ० शिवकुमार मि...

यह नहीं है कि साहित्य की सोद्देश्यता उसकी कलात्मकता अथवा उसके काव्य-गुणों का तिरस्कार करके विकसित हो। इस संबन्ध मे उपाध्याय जी का मत है—"साहित्य का निर्माण पद-लालित्य, रसायान और अलंकरण से होता है। इनका शरीर पाकर साहित्य सब भावों को अन्तरात्मा धारण करता है तभी वह सत्साहित्य बनता है। परन्तु जैसे सौन्दर्य के सारे अवयवों से युक्त प्राणी भी प्रभाव-रहित हो सकता है, वैसे ही पद-लालित्य, रस और अलकारो से युक्त साहित्य भी भावानुबद्ध होकर निश्चय ही प्रेरक हो जाये यह आवश्यक नहीं है। प्रेरणा के लिये इन सबसे परे एक वस्तु होती है और वह है उसका उद्देश्य परक लक्ष्य वेधक कल्याण कर अन्तरग।"[१]

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा को नई भूमियो पर विकसित करने वाले आलोचको मे डॉ० शिवकुमार मिश्र का कृतित्व भी उल्लेखनीय है। यद्यपि उन्होने प्रगतिवादी समीक्षा के सैद्धान्तिक प्रश्नों पर भी अपनी कृतियो तथा फुटकल निबंधो मे यथावसर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं परन्तु उनका अधिकांश विवेचन व्यावहारिक समीक्षा के ही अन्तर्गत सक्रिय है। 'समाजवादी यथार्थवाद' शीर्षक 'आलोचना' पत्रिका मे प्रकाशित अपने निबन्ध मे उन्होने यथार्थवाद सबंधी इतर दृष्टियो के संदर्भ मे समाजवादी यथार्थवाद की स्वस्थ तथा उच्चतर भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इस संबंध मे उनकी यह कि यथार्थवाद सबंधी अब तक की समस्त आकृतियो की अपेक्षा समाजवादी यथार्थवाद की आकृति अधिक प्रशस्त जीवत तथा सम्पूर्ण है, हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत समाजवादी यथार्थवाद सम्बन्धी चिन्तन को एक नया आधार देती है।

अपनी नव्यतम कृति 'नया हिन्दी काव्य' के अन्तर्गत छायावादोत्तर काव्य सृष्टि को हिन्दी कविता की विकासमान परम्परा के एक अग के रूप मे ग्रहण करते हुए उन्होने स्वस्थ सामाजिक भूमिका पर उसका मूल्यांकन किया है। काव्य अथवा साहित्य को मात्र व्यक्तिगत इच्छाओ की पूर्ति के रूप मे न स्वीकार करते हुए उन्होंने यह मत प्रतिवादित किया है कि "अनास्थावादी जीवन-दृष्टि तथा प्रतिक्रिया महान काव्य की जन्मदात्री नहीं बन सकती। महानकाव्य आस्था विश्वास और जनजीवन के प्रगतिगामी स्वरो का ही परिणाम होते हैं।"[२] आधुनिकता और नवीनता के नाम पर आधुनिक हिन्दी

---

१. पृ० ४१, साहित्य और कला, भगवतशरण उपाध्याय।
२. पृ० १७, आमुख, नया हिन्दी काव्य, डॉ० शिवकुमार मिश्र।

अपने व्यावहारिक विवेचन के अन्तर्गत डॉ० मिश्र ने छायावादोत्तर काव्य विकास को विविध धाराओं को उनके आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिवेशन के संदर्भ में विश्लेषित किया है। १९३६ से लेकर अद्यतन काव्य-प्रगति का अध्ययन करते समय उन्होंने सदैव यह ध्यान रखा है कि साहित्य-रचना एक सामाजिक क्रिया है और सामाजिक संदर्भ से कटी हुई बाहर या कला चेतना कभी भी युग की प्रतिनिधियाँ भावी पीढ़ी की प्रेरणादायिनी नहीं बन सकती।

प्रगतिवादी समीक्षा के व्यावहारिक-कार्य-क्षेत्र में श्री विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की 'पंतजी का नूतन काव्य और दर्शन' शीर्षक कृति का अवदान भी महत्वपूर्ण है। इस कृति के अन्तर्गत पंतजी के परवर्ती काव्य-विकास का विस्तृत अध्ययन किया गया है, साथ ही उनके दार्शनिक आधार की मूलभूत सीमाओं की ओर भी पर्याप्त संकेत किया गया है। रचना के पीछे रचयिता की चेतना सभी आयामों की अभिज्ञता के लिये यह अनिवार्य है कि हम उसके सामयिक संदर्भ को ध्यान में रखें।[1] इसी दृष्टि से उपाध्याय जी ने पंत-काव्य के प्रमुख प्रेरणा स्रोत अरविन्द दर्शन का भी विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में पंतजी काव्य का सांस्कृतिक महत्व यह है कि उसमें मनुष्य को उच्चातिउच्च लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया गया है। कवि की कल्याण-कामना काव्य में व्यक्त होने के कारण पंत की कविता का स्वर सैद्धान्तिक दृष्टि से अवैज्ञानिक होने पर भी आकर्षक लगता है।

प्रगतिवादी समीक्षा के नव्यतम पुरस्कर्त्ताओं में नई पीढ़ी के ख्याति प्राप्त कथाकार मार्कण्डेय के समीक्षात्मक प्रयासों का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान

---

१. पृ० ३८२, नया हिन्दी काव्य डॉ० शिवकुमार मिश्र

अध्याय ९

उपसंहार अभाव तथा उपलब्धियाँ

प्रगतिवादी समीक्षा की साहित्यिक तथा वैचारिक पृष्ठभूमि और हिन्दी साहित्य में उसके उद्भव तथा विकास का यथासंभव वस्तुमुखी विवेचन करने के पश्चात् हम इस स्थिति में आ गये हैं कि इसके अभावों तथा उपलब्धियों का सम्यक् मूल्यांकन कर सकें। जैसा कि हम देख चुके हैं, हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा का प्रादुर्भाव तद्युगीन साहित्य की उस व्यक्तिवादी और ह्रासशील प्रवृत्ति के विरुद्ध हुआ जो छायावाद के अन्तिम काल में विकसित हुई थी। इस स्थिति का विवेचन करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कहा है—'सन् १९३५ के आसपास हिन्दी साहित्य के रचनात्मक क्षेत्र में जो निराशा और सामाजिक अनुत्तरदायित्व की एक लहर आई थी, जिसने रचना और समीक्षा के क्षेत्रों में भी अपना अनिष्टकारी प्रभाव दिखाया था, उसी के प्रतिक्रिया स्वरूप साहित्य के सामाजिक आदर्श का आग्रह करती यह नई समीक्षा-पद्धति आई।' उनके अनुसार—'यह वह समय था जब प्रसाद, निराला और पंत अपना सम्पूर्ण प्रदेय समाप्त कर प्रायः रिक्त हो चुके थे 'उनके स्थान पर महादेवी और बच्चन की एकान्तिक और विषादमयी रागिनियाँ सुनाई देने लगी थीं। समीक्षा के क्षेत्र में भी, उनके अनुसार, उनका स्तुति गान होने लगा था। ऐसी स्थिति में साहित्य संबंधी स्वस्थ प्रतिक्रिया का आरंभ होना आवश्यक था और जब वह स्वस्थ प्रतिक्रिया 'जनता के लिये साहित्य' के नारे के रूप में व्यक्त हुई तब उसका समुचित स्वागत भी किया गया।'[1] तब से लेकर हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत पिछले दो दशकों में जिन नूतन प्रवृत्तियों का विकास हुआ, प्रगतिवादी दृष्टि उनमें प्रमुख रही है।

इसके पूर्व, हिन्दी समीक्षा की स्वच्छन्दतावादी धारा ने परम्परागत मूल्यों को बहुत दूर तक अस्वीकार कर दिया था। स्वयं में यह एक प्रगतिशील उपक्रम ही था। लेकिन स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों की दृष्टि मुख्य रूप से कवि तथा काव्य के बीच अन्तर्निहित सम्बन्ध की ओर ही गई थी। कवि तथा काव्य के सामाजिक संदर्भ और सामाजिक जीवन पर उसके व्यक्त प्रभावों का विवेचन

---

१. पृष्ठ २७, नया साहित्य : नये प्रश्न।

प्रगतिवादी समीक्षा की दूसरी सीमा उसका वर्गवादी आधार है। मानवीय चेतना को उसकी समग्रता में न ग्रहण कर उसके खण्डित रूप को ही उसने काव्य और कला के विवेचन का आधार सिद्ध किया है। मार्क्सवाद की यह प्रारंभिक मान्यता है कि वर्गयुक्त समाज में कवि या कलाकार वर्गीय हित की भावना से ही अनुप्रेरित होकर कलाकृतियों का निर्माण करता है। इसी सत्य को छन्दोबद्ध करते हुये अपने प्रगतिवादी दौर में पंत जी ने कहा था—

"आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल, वर्गों में है सीमित।
ऊर्ध्व मूल संस्कृति को होना, अधोमूल है निश्चित॥"[1]

हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों ने भी, विशेषतया डॉ० रामविलास शर्मा ने रचयिता की वर्गीय दृष्टि पर पर्याप्त बल दिया है। प्रसाद तथा प्रेमचन्द्र के यथार्थवादी साहित्य की उनके अनुसार यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि उनका वर्गवादी आधार अतिशय प्रखर है। इसी आधार पर उन्होंने प्रेमचन्द को गोर्की से अधिक श्रेष्ठ माना है चूंकि 'वर्ग-संघर्ष' की उसे पूरी-पूरी जानकारी न थी। जबकि प्रेमचन्द ने अपने युग की उथल-पुथल को बड़ी ही सफलता के साथ अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।[2] लेकिन यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि कला अथवा साहित्य की श्रेष्ठता क्या एक मात्र इसी उथल-पुथल पर आधारित है? उसके निर्माण में क्या वर्ग हित से अधिक व्यापक मानवीय भूमि का योग नहीं रहता? मात्र वर्ग हित को केन्द्र में रखकर तथा युगीन उथल-पुथल को आधार बनाकर निर्मित कलाकृति परवर्ती युगों में विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को कैसे प्रभावित करती है? इस क्रम में यह स्वीकार करना पड़ेगा कि साहित्य-सृजन के ऐसे भी उपकरण हैं जो कवि या कलाकार की वर्गीय चेतना से ही सीमित न होकर व्यापक मानवीय भावना से जुड़े रहते हैं। उनका संबंध मनुष्य के भावात्मक जगत से है—जहाँ मनुष्य-मनुष्य के रूप में शेष रह जाता है, वर्गीय प्राणी के रूप में नहीं। इस तथ्य को स्वीकार न करने के कारण ही प्राचीन साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। मध्ययुगीन कवियों के कृतित्व का विवेचन करते समय सामन्ती युग की सीमा तथा उनके प्रति व्यक्त उनकी प्रतिक्रियाओं तथा उनके प्रभाव पर तो उन्होंने प्रकाश डाला है लेकिन उनके अधिक व्यापक मानवीय स्थलों को, जो मनुष्य की अन्तवृत्तियों से तथा उनके मूलवर्ती भावों से सम्बद्ध हैं, आकलन करने में वे बहुत पीछे रह गये हैं। काव्य

१. पृष्ठ ६४, उद्धृत—श्री शिवदानसिंह चौहान, प्रगतिवाद।

२. उद्धृत, श्री शिवदानसिंह चौहान, साहित्य की समस्यायें (प्रेमचन्द और गोर्की)।

और कला का यही महान गुण है जो वर्गीय सीमाओं तथा युगीन बंधनों तक ही परिसीमित नही है, और जिसका विवेचन करने में प्रगतिवादी समीक्षा असमर्थ रह गई है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुये डॉ० देवराज ने कहा है—'मार्क्सवाद यह समझाने में असमर्थ है कि कालिदास और शेक्सपियर, होमर और वाल्मीकि के ग्रन्थ हमारे लिये क्यो महत्वपूर्ण हैं'।[1]

प्रगतिवादी समीक्षकों की तीसरी सीमा कलाकृति के व्यावहारिक विवेचन में रूप पक्ष अथवा कला-पक्ष के प्रति बरती गई उनकी उपेक्षा है। सैद्धान्तिक स्तर पर भले ही उन्होने यह घोषणा की हो कि 'कला में वस्तु और रूप' कहियत भिन्न न भिन्न है'[2] लेकिन अपनी व्यावहारिक समीक्षा मे वे इनका सम्यक् निर्वाह नही कर सके हैं। कलाकृति के मूल्यांकन मे सामाजिक मूल्यो के साथ उसके सौन्दर्य मूल्यो पर इतना अधिक बल देने वाले श्री शिवदान-सिंह चौहान का व्यावहारिक विवेचन तो इससे सर्वथा रिक्त है। उदाहरण के लिये, उनके द्वारा की गयी पंत-काव्य की समीक्षा को देख सकते हैं। विभिन्न उद्धरणो के माध्यम से यहाँ श्री चौहान ने वस्तु तत्व के विविध आयामो का स्पर्श भले ही किया हो, अभिव्यक्ति के उपकरणो तथा तत्वो के विवेचन मे वे प्रायः उदासीन ही रहे हैं। हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षको मे इस प्रकार की उपदेशात्मक वृत्ति प्रायः सबके साथ जुड़ी हुयी है लेकिन अपने आदर्शों को व्यावहारिक धरातल पर नियोजित करने का उपक्रम वे नहीं कर सके हैं।

वस्तु पक्ष पर अतिरिक्त बल देने के क्रम रही सामाजिक जीवन के निर्माण में रचयिता के सक्रिय योग तथा उसकी राजनीतिक चेतना की बात भी उपस्थित होती है। साहित्य को सामयिक राजनीति से सम्बद्ध करने तथा साहित्यकार की सहज प्रतिभा उसकी भावना तथा अनुभूति को साहित्येतर स्रोतो से निर्देशित तथा नियमित करने का प्रयास प्रगतिवादी समीक्षा की पाचवी सीमा है। युद्धोत्तर काल मे हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य पर इन समीक्षकों ने किस प्रकार एक दल विशेष की सामयिक नीति और उसके आदर्शों को लादने का तथा पार्टी जन साहित्य के निर्माण को बढ़ावा देने का उपक्रम किया था इसकी ओर तृतीय अध्याय में हम संकेत कर चुके हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के विघटन का यही प्रधान कारण रहा है। बाद मे संयुक्त मोर्चे के निर्माण का भी प्रयास हुआ, साहित्य को राजनीतिक आदर्शों से मुक्त करने की भी उद्घोषणा हुई, लेकिन इसका कोई भी तात्कालिक

---

१. पृष्ठ ५२-५३, डॉ० देवराज, आधुनिक समीक्षा।
२. [illegible] डॉ० रा[illegible], आस्था और सौन्दर्य।

प्रभाव न दिखाई पड़ा । इस समय की प्रगतिवादी समीक्षा आदेश और उपदेश तक ही परिसीमित थी जिसका उल्लेख अमृतराय ने 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' के अन्तर्गत किया है। उन्हीं के शब्दों में, 'आलोचना साहित्य को भी इसी तरह जगजू बनाने की कोशिश की गई यानी जिस लेखक में आलोचक को कोई बुराई नजर आयी उसे फौरन 'पूंजीपतियों के दलाल' की उपाधि दे दी गई दलील की जगह फिकरों ने ले ली ।'[१] अमृतराय के अनुसार, 'जदनोव की यह भद्दी नकल थी जिसका पर्याप्त प्रभाव उस समय के प्रतिनिधि प्रगतिशील समीक्षकों पर था ।'[२] रूसी साहित्य में इस प्रकार के नियन्त्रण की स्थिति का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा है—'मैक्सिम रिल्स्की की 'माँ' शीर्षक कविता पर ऐसी बुरी तरह आलोचना हुई कि मैं उसे बड़ी मुश्किल से बचा पाया । उसके विरुद्ध किये गये आक्रमण का एक मात्र आधार यही था कि उसकी कविता में स्तालिन का नामोल्लेख नहीं था ।'[३] मार्क्सवादी साहित्य के अन्तर्गत व्याप्त इस प्रकार के नियमन तथा नियन्त्रण की वृत्ति को साम्यवादी नेता प्रो० हीरेन मुखर्जी ने भी अपने एक निबन्ध 'युग संधि और बुद्धिजीवियों का उत्तरदायित्व' के अन्तर्गत पर्याप्त आलोचना की है ।[४]

व्यावहारिक धरातल पर हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा की सीमा की ओर संकेत करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य वाजपेयी ने लिखा है—'वे रचित साहित्य के साथ सामाजिक वस्तु स्थिति का योग नहीं देखते, बल्कि एक स्वरचित वस्तुस्थिति के आधार पर साहित्यिक रचना की परीक्षा करते हैं ।'[५] इसी आधार पर उन्होंने एक ही कवि के कुछ पद्यों को प्रगतिशील बनाया है तो कुछ पद्यों को प्रतिक्रियावादी । व्यावहारिक समीक्षा के धरातल पर इस प्रकार के निष्कर्ष युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते । इस संदर्भ में, डॉ० राम विलास शर्मा का [illegible]

विवेचन करते समय उनकी इस पंक्ति के आधार पर—'रात के उर में दिवस की
चाह का शर हूँ' शर्मा जी ने यह मान्यता व्यक्त की है—'निराला को छोड़कर
किसी भी छायावादी कवि में जीवन की इतनी चाह नहीं है, जितनी महादेवी
में । निराशावाद की अंधेरी रात में जीवन-प्रभात की यह चाह महादेवी की
रचनाओं में बार-बार दीप्त हो उठती है और जितना ही अंधेरा घना होता है,
उतनी ही यह चाह और भी तीव्र हो जाती है ।'[1]

प्रकारान्तर से शर्मा जी ने महादेवी को प्रगतिशील सिद्ध करने का उपक्रम
किया है जबकि इसी धारा के दूसरे समीक्षक श्री अमृतराय ने उनकी सुप्रसिद्ध
पंक्ति—'मैं नीर भरी दुःख की बदली' को उद्धृत करते हुये कहा है—'उनकी
इसी पंक्ति को मन में रखे हुये आप उनके समस्त काव्य साहित्य का अवलोकन
कर डालिये और तब आप तुरत जान लेंगे कि यही भाव शिराओं में बहने वाले
रक्त के समान उसमें सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है ।'[2] लेकिन डॉ० शर्मा के
कालिदास विषयक विवेचन की तरह श्री अमृतराय महादेवी के व्यक्तित्व को
भी विभक्त करके देखते हैं—काव्य में—निराशावादी, गद्य—रचनाओं में प्रगति-
शील । हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की वैचारिक पीठिका को
समग्रता में न आकलन कर उनके कतिपय वस्तुवादी निष्कर्षों के आधार पर
उन्हें प्रगतिशील सिद्ध करना एक भ्रामक धारा है । शुक्ल जी सामाजिक जीवन
में परिवर्तन की दिशा को ठीक से न पहचान कर सांस्कृतिक धरातल के नूतन
प्रवाह को कला तथा साहित्य क्षेत्र की नूतन चेतना को मान्यता देने में असमर्थ
रह गये हैं । सच पूछा जाये तो यह कार्य शुक्ल जी के बदले स्वच्छन्दतावादी
समीक्षकों द्वारा हुआ है—अवश्य ही इस दृष्टि से शुक्ल जी की तुलना में वे
अधिक प्रगतिशील कहे जायेंगे ।

प्रगतिवादी समीक्षा की अंतिम सीमा श्री अमृतराय के शब्दों में, उसकी
समीक्षा शैली में 'संजीदगी' का अभाव है ।[3] यह दोष मुख्यतः डॉ० रामविलास
शर्मा के समीक्षात्मक निबन्धों अथवा टिप्पणियों में देखा जा सकता है । यद्यपि
इसी से सम्बद्ध उनकी समीक्षा शैली की वह विशेषता भी जुड़ी है, जिसे हम
विवेचन की सरलता, सहजता अथवा स्पष्टता कह सकते हैं, लेकिन अक्सर यह
भी देखा गया है कि यह सरलता अथवा सहजता अतिशय वैयक्तिक स्तर पर
उतर कर असाहित्यिक भी हो गई है । स्वयं श्री अमृतराय की दूसरी कृति

[illegible], लोक[illegible] साहित्य ।

[illegible] मोर्चा ।

'मार्क्सवाद में प्रयुक्त शैली' के अन्तर्गत इन दोनों का ही प्राधान्य है। साहि
समीक्षा के नाम पर वहाँ वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप की ही प्रमुखता है।
प्रकार की समीक्षा ने स्वयं प्रगतिशील आंदोलन को किस प्रकार का आघ
गया है तीसरे अध्याय में उसकी ओर हम संकेत कर चुके हैं। हिन्दी
साहित्य समीक्षा भी ऐसी कृतियों से किसी रूप में विकसित नहीं हो सक
है। प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रयोगिक विवेचन में यह दोष अक्सर दृष्टि
होता है।

अपर वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र में मार्क्सवा
विचारकों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से जिस स्तर
ग्रहण किया है, हिन्दी के प्रगतिशील विचारकों को अभी उस स्तर तक पहुँच
शेष है।

संक्षेप में, हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के ये अभावात्मक पक्ष हैं। इन
को दृष्टिगत रखते हुये हिन्दी के तटस्थ समीक्षकों ने इस पद्धति की आलोच
की है। आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी की नव्यतम समीक्षा शैलियों का विवेच
करते हुये इन पर विस्तार सहित प्रकाश डाला है। डॉ० देवराज ने भी अप
सुप्रसिद्ध कृति 'आधुनिक समीक्षा' के अन्तर्गत 'प्रगतिवादी समीक्षा दृष्टि'
जिन सीमाओं का उल्लेख किया है, उनमे प्रकारान्तर से इन्हीं की परिगणन
है। फिर भी इन तटस्थ समीक्षकों की दृष्टि से प्रगतिवादी समीक्षा के कु
महत्वपूर्ण प्रदेय भी हैं, जिनका उल्लेख करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कह
है—हिन्दी समीक्षा को उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं—

क—प्रथम, यह कि काव्य-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता
है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सज
और संवेदनशील है।

ख—द्वितीय, यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दू
होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा
न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि
हीन और ह्रासोन्मुख होगा।[१]

जहाँ तक प्रथम प्रदेय का प्रश्न है, इसके संबध में डॉ देवराज का
अभिमत है—'प्रगतिवादियों ने साहित्य के सामाजिक पहलू पर गौरव देक
निःसन्देह हमारी समीक्षा-दृष्टि को समृद्ध किया है।'[२] प्रगतिवादी समीक्षा

१. पृष्ठ ४७, नया साहित्य नये प्रश्न।
२. ,, १५, डॉ देवराज, आधुनिक समीक्षा।

विवेचन करते समय उनकी इस पंक्ति के आधार पर—'रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ' शर्मा जी ने यह मान्यता व्यक्त की है—'निराला को छोड़कर किसी भी छायावादी कवि में जीवन की इतनी चाह नहीं है, जितनी महादेवी में। निराशावाद की अंधेरी रात में जीवन-प्रभात की यह चाह महादेवी की रचनाओं में बार-बार दीप्त हो उठती है और जितना ही अंधेरा घना होता है, उतनी ही यह चाह और भी तीव्र हो जाती है।'[१]

प्रकारान्तर से शर्मा जी ने महादेवी को प्रगतिशील सिद्ध करने का उपक्रम किया है जबकि इसी धारा के दूसरे समीक्षक श्री अमृतराय ने उनकी सुप्रसिद्ध पंक्ति—'मैं नीर भरी दुःख की बदली' को उद्धृत करते हुये कहा है—'उनकी इसी पंक्ति को मन में रखे हुये आप उनके समस्त काव्य साहित्य का अवलोकन कर डालिये और तब आप तुरंत जान लेंगे कि यही भाव शिराओं में बहने वाले रक्त के समान उसमें सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है।'[२] लेकिन डॉ० शर्मा के कालिदास विषयक विवेचन की तरह श्री अमृतराय महादेवी के व्यक्तित्व को भी विभक्त करके देखते है—काव्य में—निराशावादी, गद्य—रचनाओं में प्रगतिशील। हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की वैचारिक पीठिका को समग्रता में न आकलन कर उनके कतिपय वस्तुवादी निष्कर्षों के आधार पर उन्हें प्रगतिशील सिद्ध करना एक भ्रामक धारा है। शुक्ल जी सामाजिक जीवन में परिवर्तन की दिशा को ठीक से न पहचान कर सांस्कृतिक धरातल के नूतन प्रवाह को कला तथा साहित्य क्षेत्र की नूतन चेतना को मान्यता देने में असमर्थ रह गये हैं। सच पूछा जाये तो यह कार्य शुक्ल जी के बदले स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों द्वारा हुआ है—अवश्य ही इस दृष्टि से शुक्ल जी की तुलना में वे अधिक प्रगतिशील कहे जायेंगे।

प्रगतिवादी समीक्षा की अंतिम सीमा श्री अमृतराय के शब्दों में, उसकी समीक्षा शैली में 'संजीदगी' का अभाव है।[३] यह दोष मुख्यतः डॉ० रामविलास शर्मा के समीक्षात्मक निबन्धों अथवा टिप्पणियों में देखा जा सकता है। यद्यपि इसी से सम्बद्ध उनकी समीक्षा शैली की वह विशेषता भी जुड़ी है, जिसे हम विवेचन की सरलता, सहजता अथवा स्पष्टता कह सकते हैं, लेकिन अक्सर यह भी देखा गया है कि यह सरलता अथवा सहजता अतिशय वैयक्तिक स्तर पर —— —— असाहित्यिक भी हो गई है। स्वयं श्री अमृतराय की दूसरी कृति

'साहित्य मे संयुक्त मोर्चा' के अन्तर्गत इस शैली का ही प्राधान्य है। साहित्य समीक्षा के नाम पर यहाँ वैयक्तिक आरोप-प्रत्यारोप की ही प्रमुखता है। इस प्रकार की समीक्षा से स्वय प्रगतिशील आदोलन को किस प्रकार का आघात लगा है, तीसरे अध्याय मे उसकी ओर हम सकेत कर चुके हैं। हिन्दी की साहित्य समीक्षा भी ऐसी कृतियो से किसी रूप मे विकसित नही हो सकती है। प्रगतिवादी समीक्षको के प्रयोगिक विवेचन मे यह दोष अक्सर दृष्टिगत होता है।

अतत वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य समीक्षा के क्षेत्र मे मार्क्सवादी विचारको ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विवेचन की दृष्टि से जिस स्तर को ग्रहण किया है, हिन्दी के प्रगतिशील विचारको को अभी उस स्तर तक पहुँचना शेष है।

सक्षेप मे, हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा के ये अभावात्मक पक्ष हैं। इन्ही को दृष्टिगत रखते हुये हिन्दी के तटस्थ समीक्षको ने इस पद्धति की आलोचना की है। आचार्य वाजपेयी ने हिन्दी की नव्यतम समीक्षा शैलियो का विवेचन करते हुये इन पर विस्तार सहित प्रकाश डाला है। डॉ० देवराज ने भी अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'आधुनिक समीक्षा' के अन्तर्गत 'प्रगतिवादी समीक्षा दृष्टि' की जिन सीमाओ का उल्लेख किया है, उनमे प्रकारान्तर से इन्ही की परिगणना है। फिर भी इन तटस्थ समीक्षको की दृष्टि मे प्रगतिवादी समीक्षा के कुछ महत्वपूर्ण प्रदेय भी हैं, जिनका उल्लेख करते हुये आचार्य वाजपेयी ने कहा है—हिन्दी समीक्षा को उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप मे दी है—

क—प्रथम, यह कि काव्य-साहित्य का सम्बन्ध सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान है जो उस वास्तविकता के प्रति सजग और सवेदनशील है।

यह पक्ष अर्थात् सामाजिक जीवन को केन्द्र में रखकर कला तथा स
देखने का प्रयास, उसकी प्रमुख तथा निजी विशेषता है। श्री र
श्रीवास्तव ने अपनी सद्यः प्रकाशित कृति 'प्रगतिशील आलोचना' में
इसका विवेचन करते हुये कहा है—'समीक्षा के दो उपकरण-निर्मिति ए
की विवेचना के पश्चात् आलोचकों का ध्यान इसके तीसरे उपकरण
के दार-अदा (समाज या प्रकृति) की ओर उन्मुख हुआ। समसामयिक स
आवश्यकताओं से अनुप्राणित साहित्यिक धाराओं ने आलोचना
उपादान की ओर आलोचकों की दृष्टि को प्रेरित किया। प्रगतिवादी
चना इसी आग्रह की पूर्ति का प्रयास है।'[1] प्रगतिवादी समीक्षकों के
काव्य और कला का मूलवर्ती उपादान सामाजिक जीवन तथा उसकी
विकता है। परिवेश के रूप में इसी वास्तविकता के अन्तर्गत प्रकृति
समाहार है। सामाजिक जीवन के भौतिक तथा आर्थिक प्रसंगों
उसका अभिन्न संबंध है। सामाजिक जीवन तथा उसके व्यापक परि
अन्तर्गत ही रचयिता की भी स्थिति है। इनसे प्रभावित तथा
होकर कलाकार साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में प्रवृत्त होता है। हिन्दी के
सभी प्रगतिवादी समीक्षकों ने कला तथा साहित्य का विवेचन करते सम
तथ्य पर पर्याप्त बल दिया है। वस्तुतः यही उनका प्रस्थान बिंदु है भी

जहाँ तक दूसरे प्रदेय का प्रश्न है, बहुत कुछ अंशों में वह भी पहले
जुड़ा हुआ है। आचार्य वाजपेयी का स्पष्ट संकेत यहां प्रगतिवादी समी
द्वारा हिंदी साहित्य में विकसित व्यक्तिवादी तथा ह्रासशील प्रवृत्तियं
गयी आलोचना से है। जिस सामाजिक अनुत्तरदायित्व की लहर की
आचार्य वाजपेयी ने अन्यत्र संकेत किया है, वह व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों
लहर थी। इन प्रवृत्तियों ने अपनी सर्जनात्मक तथा समीक्षात्मक कृतियों
ऐसे ही साहित्य के विकास में योग दिया है, जो सामाजिक जीवन से स
तटस्थ हो, कलाकार की वैयक्तिक कुंठाओं तथा प्रयोगों तक ही परिसी
हो—प्रकारान्तर से यह एक प्रकार का निराशावादी तथा उक्ति वैचित्र्य
उपक्रम था। इन प्रवृत्तियों की साहित्य में उक्ति वैचित्र्यवाद अथवा कला
की पर्याप्त भर्त्सना आचार्य शुक्ल ने की थी। आचार्य वाजपेयी की समीक्षा
कृतियों में भी छायावादोत्तर साहित्य में ध्वनित होने वाले इन 'विराग स्व
के प्रति आशंका व्यक्त की गई है। साहित्य के सामाजिक परिप्रेक्ष्य से तटस्
व्यक्तिवादी, निराशावादी तथा उक्तिवैचित्र्यवादी प्रवृत्तियों पर तीव्र

प्रहार करते हुये, प्रगतिवादी समीक्षकों ने वस्तुतः इन समीक्षकों की परंपरा को ही विकसित किया है।

इन उक्त आदर्शों को, प्रगतिवादी समीक्षा के प्रमुख प्रदेय की संज्ञा दे सकते हैं। लेकिन इनसे सम्बद्ध प्रगतिवादी समीक्षा का एक दूसरा पक्ष भी सामने आता है और वह है साहित्य का प्रयोजन पक्ष अथवा सामाजिक जीवन में उसके व्यक्त प्रभावों का विवेचन। आचार्य वाजपेयी के शब्दों में इसे भी प्रस्तुत करते हुये कह सकते हैं—'साहित्य किसके लिये ? इसका उत्तर देते हुये मार्क्सवादी समीक्षकों ने कहा—साहित्य जनता के लिये ।'[१]

प्रयोजन अथवा प्रभावपक्ष की दृष्टि से भी प्रगतिवादी समीक्षकों ने 'सामाजिक जीवन' को ही केन्द्र में रखकर काव्य अथवा कला का विवेचन किया है। ऐसे आदर्श जो कला को कला के लिये अथवा कविता को कविता के लिये ही परिसीमित कर देने वाले हों उन्हें स्वीकार नहीं है। वे काव्य के माध्यम से आनन्द की अनुभूति मानते हुये भी उसके उद्देश्य को इस आनन्दानुभूति तक ही परिसीमित नहीं सिद्ध करते। इस तथ्य का विवेचन करते हुये डॉ० शर्मा ने कहा है—'साहित्य में आनन्द मिलता है, यह अनुभव सिद्ध बात है, लेकिन साहित्यशास्त्र यहाँ समाप्त नहीं होता बल्कि यहीं से उसका श्री गणेश होता है। माना कि साहित्य से आनन्द आता है लेकिन किस तरह का आनन्द आता है, उससे आपके कर्ममय जीवन पर किस तरह का प्रभाव पड़ता है, किस प्रकार के संस्कार आपके मन में बनते बिगड़ते हैं, ये तमाम समस्यायें साहित्य शास्त्री की ही समस्यायें हैं।'[२] लेकिन इन समस्याओं के उठते ही डॉ० शर्मा के अनुसार, 'साहित्यशास्त्री दो खेमों में बँटे हुये दिखाई पड़ते हैं, एक खेमे में वे हैं जो आनंद की परिणति आनंद में ही मानते हैं, साहित्य के प्रभाव से बनते बिगड़ने वाले संस्कारों—मनुष्य के कर्ममय जीवन पर उसकी प्रतिक्रिया-पर विचार करना आवश्यक नहीं समझते। दूसरे खेमे में वे हैं जो साहित्य को शुद्ध आनन्द रूप नहीं मानते, वरन् मनुष्य जीवन में उसके प्रभाव पर भी विचार करते हैं यानी उसकी उपयोगिता भी स्वीकार करते हैं।'[३] इसके अन्तर्गत डॉ० शर्मा के मत से, केवल भौतिकवादी विचारकों की ही स्थिति नहीं है बल्कि उन सभी साहित्यकारों की है जो भौतिकवादी दर्शन न मानते हुये भी जनता से प्रेम करने के कारण उसके उपकार के लिये साहित्य

१. पृष्ठ २७, नया साहित्य नये प्रश्न।
२. „ ७, लोक जीवन और साहित्य।
३. „ वही।

रखते हैं। उनके अनुसार, 'इस दूसरे क्षेत्र में ही हमारे देश के सबसे बड़े कवि और विद्वान रहे हैं। यह कहना असंगत न होगा कि 'साहित्य जनता के लिये'—'यह हमारा जातीय सिद्धांत बन चुका है।'[1]

साहित्य की 'सामाजिक सोद्देश्यता' पर बल देना, उसे सामाजिक जीवन के विकास तथा नव-निर्माण का आवश्यक उपकरण सिद्ध करना प्रगतिवादी समीक्षकों का तीसरा महत्वपूर्ण प्रदेय कहा जा सकता है। यद्यपि हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल ने तथा साहित्य के सामाजिक और सांस्कृतिक पक्षों पर बल देने वाले स्वच्छन्दतावादी विचारकों ने इस तथ्य की ओर, उनके पहले भी संकेत किया था। पर प्रगतिवादियों की यह विशेषता है कि उन्होंने इसे मूल्यांकन का आवश्यक तथा सबसे महत्वपूर्ण आधार सिद्ध किया है। किसी भी कला कृति की हीनता तथा श्रेष्ठता का निर्णय, उनके मत से, सामाजिक जीवन पर उसके द्वारा पड़ने वाले प्रभावों से ही किया जा सकता है। इस संबंध में उनका स्पष्ट अभिमत है—'जो कला कृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों को थपकियां देकर सुलाती है और उसे अफीम का नशा-सा पिलाकर जीवन के संघर्ष से विरत करती है, वह निश्चय हीन कोटि की है।'[2] इसके विपरीत, 'श्रेष्ठ साहित्य सदैव जीवन को उन्नत बनाने वाले कर्म की प्रेरणा देता है, चाहे उसकी शैली स्पष्ट आह्वान की न हो, हल्के से इंगित की हो, प्रच्छन्न संकेत की हो।'[3] यद्यपि यह प्रेरणा काव्य अथवा कला के उन्हीं माध्यमों से होकर आती है, जो आनन्दानुभूति के कारण है। इसलिये साहित्य की सामाजिक सोद्देश्यता पर बल देने का यह अर्थ नहीं। कि प्रगतिवादी समीक्षकों ने उसके सुखवर्ती प्रभाव-आनन्दमूलक पक्ष का निषेध किया हो उन्हें, भारतीय काव्य शास्त्र का रस सिद्धान्त मान्य है, लेकिन वे उसकी अलौकिकता आध्यात्मिकता को स्वीकार नहीं करते।

इसी सन्दर्भ में प्रगतिवादी समीक्षकों ने साधारणीकरण तथा सामूहिक भाव के सिद्धान्त के बीच [illegible] का उपक्रम किया है और यह मान्यता व्यक्त की है, कि साधारणीकरण को मनोविज्ञान के आधार पर [illegible] करने से सामूहिक भाव और साधारणीकरण दोनों एक दूसरे से पृथक हो जाते हैं।[4] सैद्धान्तिक स्तर पर यद्यपि इस संबंध में अभी पर्याप्त प्रकाश नहीं

1. पृष्ठ ७, लोकजीवन और साहित्य।
2. „ ३१, वही [illegible]।
वही।
3. [illegible] वही [illegible]।

नहीं कहा जा सकता कि [illegible] अथवा कला के विवेचन में पूर्ववर्ती समीक्षा-दृष्टियों से कहीं तुलना में अधिक पूर्ण तथा वस्तुगत आधार प्रस्तुत किये हैं। इसके पूर्व की स्वच्छन्दतावादी पद्धति मुख्यत वैयक्तिक तथा आत्मगत मान्यों को ही—रचयिता की अपूर्व आन्तरिक शक्तियों को ही प्रमुखता देती रही है। प्रगतिवादी समीक्षकों की दृष्टि, इसके विपरीत, रचयिता के व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले अथवा कृति के माध्यम से प्रभावित होने वाले सामाजिक जीवन के उन तथ्यों से सम्बद्ध होती है जिनका विवेचन वास्तविकता के आधार पर वैज्ञानिक विधि से सम्भव है। इसी प्रकार जैसा कि डॉ० धर्मवीर भारती का कथन है—'अतीत के प्रति भी पुनरुत्थानवादियों की भावोन्मादपूर्ण तथा श्रद्धापूर्ण आग्रह के बदले एक वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि रखने की चेतना हमें सबसे पहले मार्क्सवादी विचारकों ने ही दी।'[1] व्यावहारिक विवेचन के धरातल पर उनकी वस्तुमूलक तथा सामाजिक दृष्टि की प्रमुख उपादेयता है, रचित साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की सम्भावना। हिन्दी के प्रगतिवादी समीक्षकों ने इस दृष्टि से कुछ महत्वपूर्ण प्रयत्न किये भी है। उदाहरण के लिए डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा भारतेन्दु तथा प्रेमचन्द के कृतित्व की व्यावहारिक समीक्षा को ले सकते है। हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत विवेचन करते हुए डॉ० नामवरसिंह ने भी कतिपय नये तथ्यों पर प्रकाश डाला है। लेकिन इसी क्रम मे वे कही कही एकांगिता तथा अवसरवादिता के उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनका उनके अभाव के विवेचन क्रम में मैंने उल्लेख किया है। प्रेमचन्द के समस्त आदर्शवादी परिवेश की उपेक्षा कर उन्हें मात्र यथार्थवादी—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आदर्शों के निकट खींच लाना अधिक तथ्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। वस्तुस्थिति को मनमाने ढंग से विवेचन करने को हम पुनर्मूल्यांकन की संज्ञा नहीं दे सकते। महादेवी की प्रगतिशीलता को प्रमाणित करने का प्रयत्न भी इसीलिए हास्यास्पद हो

---

१. पृष्ठ ५८, मानव मूल्य और साहित्य।

गया है। फिर भी प्रगतिवादी समीक्षक यदि तटस्थ तथा सात्विक दृष्टि से अपने आदर्शों के अनुरूप हिन्दी साहित्य तथा उनके महत्वपूर्ण कृतित्व को उद्घाटित करने का प्रयास करें तो निश्चय ही व्यावहारिक विवेचन को अधिक वस्तु सत्ता से सुसज्जित कर सकेंगे। इस दृष्टि से किये गये डॉ० शर्मा के पंत विषयक विवेचन को लक्ष्य करते हुए आचार्य वाजपेयी ने कहा है— 'इस में प्रकाशित उनकी 'उत्तरा' की आलोचना, उनकी असंदिग्ध साहित्य-मर्मज्ञता का प्रमाण है। ऐसी मार्मिक समीक्षाएँ आज के जमाने में कम ही देखने को मिलते हैं।'[1]

विवेचन पद्धति अथवा समीक्षा-शैली की दृष्टि से 'आलोचना का सामान्यीकरण' भी प्रगतिवादी समीक्षा का एक महत्वपूर्ण प्रदेय कहा जा सकता है। उनके अनुसार, 'आलोचना किसी भी विषय की हो, उसको पांडित्य के हाथों से छीन कर सरल और सीधे रूप में खड़ा करना स्वयं में एक प्रगतिशील क्रियाशीलता है।'[2] श्री आदित्य मिश्र के शब्दों में, 'आलोचना का सामान्यीकरण जनवाद की ओर उठता हुआ पहला ठीक कदम है।'[3] लेकिन यह 'ठीक कदम' साहित्येतर भूमिका की ओर न प्रयाण कर दे, प्रगतिवादी समीक्षकों को यह भी ध्यान रखना है। स्वयं डॉ० रामविलास शर्मा की समीक्षा में यह अभाव यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। सरलता का अर्थ साहित्यिक धरातल से दूर हट जाना नहीं है। प्रगतिवादी समीक्षकों में इस आदर्श का सर्वाधिक सफल निर्वाह श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त की समीक्षा में दिखाई पड़ता है। 'विवरण की सरलता', 'वस्तुगत प्रमुख रेखाओं की स्पष्टता' और 'व्यर्थ के पांडित्य-प्रदर्शन का अभाव',[4] उनकी समीक्षा-शैली के कतिपय महत्वपूर्ण गुण हैं जो उन्हें साहित्येतर भूमि पर नहीं प्रवेश करने देते। इस धारा के अन्य समीक्षकों में भी यह गुण किसी न किसी मात्रा में विद्यमान है, लेकिन इसके साथ ही उस दोष की भी स्थिति उनमें बनी है, जिनकी ओर, इसके पूर्व मैंने संकेत किया है। समीक्षा-शैली की सहजता और स्पष्टता तभी शोभनीय है, अगर वह वस्तुमुखी विवेचन का मार्ग प्रशस्त करे; इसके बदले अगर वह वैयक्तिक आरोप प्रत्यारोप तथा मतवादी आग्रहों में उलझकर असाहित्यिक बन जाये तो उसे हम प्रदेय के बदले अभाव की ही संज्ञा देंगे।

---

१. पृष्ठ भूमिका, आधुनिक साहित्य।
२. ,, ३३६, हिन्दी के आलोचक।
३. ,, वही।
४. ,, ३३६, हिन्दी के आलोचक।

आधार ग्रन्थों की सूची

लेखक	पुस्तक
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि, भाग १
	चिन्तामणि, भाग २
	रस-मीमांसा
	हिन्दी-साहित्य का इतिहास
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	जयशंकर प्रसाद
	हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी
	आधुनिक साहित्य
	नया साहित्य नये प्रश्न
	प्रेमचन्द्र—एक विवेचन
	महाकवि सूरदास
आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य
	अशोक के फूल
	विचार और निष्कर्ष
	कल्पलता
	हिन्दी साहित्य की भूमिका
	हिन्दी साहित्य का आदिकाल
डॉ० रामविलास शर्मा	संस्कृति और साहित्य
	प्रगति और परम्परा
	प्रेमचन्द
	प्रेमचन्द और उनका युग
	भारतेन्दु युग
	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
	प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ
	निराला
	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
	स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य
	लोक जीवन और साहित्य
	विराम-चिन्ह

लेखक	पुस्तक
डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र	हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास
डॉ० वेंकट शर्मा	आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास
डॉ० रामाधार शर्मा	हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा
श्रीमती शचीरानी गुर्टू (सम्पादिका)	हिन्दी के आलोचक
डॉ० प्रभाकर माचवे	समीक्षा की समीक्षा
डॉ० राम लाल सिंह	आचार्य शुक्ल के समीक्षा—सिद्धान्त समीक्षा—दर्शन, भाग १,—भाग २ ।
डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी	भारतीय साहित्य-दर्शन
श्री रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव	प्रगतिशील आलोचना
डॉ० शिवकुमार मिश्र	नया हिन्दी काव्य
श्री प्रेमचन्द	साहित्य का उद्देश्य
श्री क्षेमचन्द्र सुमन	योगेन्द्रनाथ मल्लिक—साहित्य-विवेचन
श्री महेशचन्द्र राय	मार्क्सवाद और साहित्य
श्री ओमप्रकाश आर्य	मार्क्सवाद और मूल दार्शनिक प्रश्न
श्री राहुल सांकृत्यायन	कार्ल मार्क्स (जीवनी)
श्री धर्मवीर भारती	मानव मूल्य और साहित्य प्रगतिवाद : एक समीक्षा
श्री विजयशंकर मल्ल	हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद
श्री शिवनाथ	हिन्दी साहित्य की आर्थिक भूमिका
डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा	पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव ।
बेलेन्सकी, चर्निशवस्की आदि	(अनु० नरोत्तम नागर)—दर्शन साहित्य और आलोचना
राल्फ फाक्स	(अनु० नरोत्तम नागर) उपन्यास और लोकजीवन
श्री केशरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्य धारा का सांस्कृतिक स्रोत
श्री रजनी पामदत्त	भारत : वर्तमान और भावी
पं० जवाहरलाल नेहरू	भारत की खोज
डॉ० पट्टाभि सीतारमैया	कांग्रेस का इतिहास, भाग १-२ ।
श्रीपाद अमृत डांगे	जन जीवन और साहित्य
श्री भूपेन्द्रनाथ सन्याल	मार्क्स का दर्शन